प्रकाशक —
सन्मति ज्ञानपीठ
लोहा मण्डी आगरा।

द्वितीय संस्करण मई १९५७
मूल्य—तीन रुपया

मुद्रक —
कल्याण प्रिन्टिंग प्रेस
राजा मण्डी आगरा।

पूर्वाभास

मँझला कद, गौर वर्ण, आँखों पर काला चश्मा और श्वेत शुद्ध जैन साध्वी का सादा लिबास, यह है उनका सक्षिप्त ऊपरी परिचय, जिनके सम्बन्ध में यहाँ कुछ पंक्तियाँ आगे लिखी जा रही हैं।

महासती श्रीउज्ज्वलकुमारीजी, अपनी उपयुक्त स्वाभाविक शरीराकृति मे जितनी भव्य और आकर्षक लगती हैं, उससे भी अधिक भव्य और मनोहर वे अपना प्रवचन देते समय लगती हैं। कवि की भाषा में कहा जाय तो, उस समय उनका मूक सौन्दर्य सजीव होकर वाणी में उतर पड़ता है और श्रोताओ के दिलों पर एक निराला असर छोड़ देता है।

बचपन, यानी १४, १५ वर्ष की अवस्था में जिन्होने दीक्षा ली हो और फिर अनवरत श्रम और परिश्रम से साहित्य-साधना एव ज्ञान की उपासना करना ही जिनका लक्ष्य रहा हो तो फिर उनमें भव्यता क्यो न होगी ? ज्ञान आखिर माँगता क्या है ? उपासना ही तो माँगता है न ?

महासतीजी का जन्म बरवाडा (काठियावाड) में हुआ और शिक्षा-दीक्षा हुई ऋषि-सम्प्रदाय में। आपकी साध्वी माताजी, जिनकी दीक्षा भी आपके साथ ही हुई थी और जो अभी भी आपके साथ हैं, रत्नचिंतामणि कन्याशाला, घाटकोपर में अध्यापिका थी। सतीजी की प्रारम्भिक शिक्षा इसी कन्याशाला में हुई।

दीक्षित होने के ७ साल बाद, सौभाग्य से आपको आत्मार्थी मुनि श्री मोहन ऋषिजी जैसे विचारक और सुधारक सन्त-गुरु का सम्पर्क मिल गया, जिन्होने अपनी पैनी दृष्टि से इस छिपे रत्न को परखा और सब तरह से योग्य बनाया। आज जिस रूप में हम सतीजी को देख रहे हैं उसका श्रेय आत्मार्थी मुनि श्री मोहन ऋषि जी महाराज को ही है।

सतीजी को प्राकृत सस्कृत-साहित्य के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा का भी अच्छा ज्ञान है। आधुनिक गाधी विचारधारा का भी आप में अच्छा चिन्तन पाया जाता है। यही वजह है, कि आपके प्रवचनों में इसका

प्रयास स्पष्ट झलकता है। इतना ही नहीं उन्होंने गांधी विचार धारा के अभिनव शब्दों को अपनाकर अपनी समन्वय-शक्ति का आदर्श नमूना उपस्थित किया है। 'सर्व धर्म सहिष्णुता' के स्थान पर सतीजी का 'सर्व धर्म समभाव' शब्द का प्रयोग एक ऐसा ही कलापूर्ण नमूना है। फिर भले ही कोई इस प्रयोग को अनुचित कहे या इस शब्द की गहराई में न जाकर ऊपर ही ऊपर कलेवर से अवगत रहे और ऊपर ऊपर की मतलब बातें कहने लग जाय पर इससे यह पद कलापूर्ण समन्कृति के सौन्दर्य में कमी नहीं ला सकता है। महाकवि बिहारी के इस कथनानुसार

ज्यों-ज्यों बूड़े स्याम रंग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।

जैसे-जैसे इस शब्द के अन्तस्तल में पैठा जाता है वैसे-वैसे भाव-सम्पत्ति के पृष्ठ हार्द का आभास होता जाता है। पाठक को सत्यपूर्वक होने लगता है और वह सत्य के अधिक समीप पहुँचता जाता है। 'सर्व धर्म सहिष्णुता' के बजाय 'सर्वधर्म समभाव' शब्द में अधिक मिठास है। पंचमहा गांधीजी ने भी इसीलिए इस शब्द को अधिक पसंद किया था। सती जी का यह शब्द-प्रयोग भी उसी दिशा की ओर ले जाता है। कहना न होगा कि इस दिशा में सतीजी ने युग-प्रवाह को अपने कदमों में रखकर समाज को एक नवीन दृष्टि देने की चेष्टा की है। समाज भले ही उसे अभी अपनाने को तत्पर न हो, पर एक दिन समाज को उसका कायल होना ही पड़ेगा। प्रकृति में क्षति आए बिना टिकने की गुंजाइश नहीं होती है।

सतीजी के विचारों में क्रान्ति है और आचरण में सुधार। गत वर्ष बम्बई जैन युवक संघ की पर्युषण-व्याख्यानमाला में सतीजी के प्रवचन को सुनकर भारतीय दर्शनशास्त्र के मनीषी पं. सुखलालजी ने कहा था— 'इस सम्प्रदाय की सतियों में मुझे ऐसे क्रान्तिकारी विचारों को धारण करने वाली यह पहली ही साध्वीजी प्रत्यक्षदर्शी है।

सतीजी के प्रवचन अपने विषय को लेकर बडी आकर्षक गति में आगे बढते है। सुनने वालो को उनमें एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। स्वामी आनन्द ने सतीजी के विषय में जो यह कहा है कि— 'सतीजी में प्रतिभा का स्वाभाविक अंकुर विद्यमान है, उनके प्रवचन श्रोताओ के दिलो पर अपना गहरा प्रभाव डालते हैं'—बिल्कुल यथार्थ ही कहा है।

महात्मा गाधीजी से भी सतीजी का मिलना कई बार हुआ है। सन् ४२ में जब कि सतीजी का चातुर्मास बम्बई में था, और महात्माजी का भी उस समय आगमन हुआ था, तब सतीजी और गाधीजी का लगातार १६ दिनों तक मिलाप होता रहा था। जिसमें विविध विषयो पर चर्चाएँ हुआ करती थीं।

बम्बई के प्रधान सचिव बाला साहब खेर ने सतीजी के प्रवचन को सुनकर एक बार कहा था—'प्राचीन काल में वैदिक धर्म ब्रह्म वादिनी स्त्रियाँ हुआ करती थी वे आज उस समाज में दिखाई नहीं पडती हैं, परन्तु जैन-समाज में जब मैं उन 'ब्रह्मवादिनी स्त्रियो' का स्वरूप इन सतीजी में देखता हूँ तो मेरी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती है।'

सतीजी की अवस्था अभी २६ वर्ष की है। पर इस अल्पावस्था में ही उन्होंने जो योग्यता प्राप्त कर प्रवचन करने की दक्षता हासिल की है, यह सचमुच जैन समाज के लिए गौरव की चीज है।

सतीजी मे सबसे बडी विशेषता जो पाई जाती है, वह यह कि वे साम्प्रदायिक बन्धनो में रहती हुई भी साम्प्रदायिकता से कोसो दूर हैं। और यही जैनत्व का आदर्श है, जिसकी झलक सतीजी के इन प्रवचनो में भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

भाषा में मधुरता और लावण्य इनकी अपनी विशेषता है। कण्ठ भी प्रकृति से मधुर मिला हुआ है, पर इन सबके मूल में तो सस्कार और साधना का ही प्रभाव है।

और अधिक क्या लिखा जाय सतीजी के सम्बन्ध में ? श्रद्धेय कवि-रत्न उपाध्यायजी महाराज की आज्ञा को टालना अपने वश की बात

नहीं थी। अतएव यात्रा पालन करने के साथ-साथ जितना लिखना आवश्यक था लिख चुका हूँ। सही बात तो यह है कि कविजी के प्रवचन ही उनके उनके परिचायक हैं। इस सम्बन्ध में अधिक लिखने की गुंजाइश ही नहीं है। परन्तु यहाँ इतना और कह देना आवश्यक है कि पाठक इन प्रवचनों के ऊपर-ऊपर में ही न अटक जाँय वे उनमें निहित आशय और भावों को भी समझने का प्रयास करें, अन्यथा वे उस रहस्य को न पा सकेंगे जिससे मनोरंजन से अनेकान्त की वास्तविकता निखर उठती है। अनेकान्त जैन-दर्शन की एक निराली विशेषता है जिसकी आज के युग को विशेष आवश्यकता है। कविजी के प्रवचनों का अनेकान्त 'प्राण' है। इसको समझे बिना उन्हें पढ़ना निष्प्राण कलेवर से चर्चा करना होगा।

अन्त में श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा को कि श्रद्धेय कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज की बनाई हुई पुस्तकें हैं और जिसने अब तक कई एक आवश्यक और उपयोगी प्रकाशनों द्वारा समाज को सुन्दर-सुन्दर ग्रन्थ दिये हैं अपने इस नवीन प्रकाशन द्वारा भी जनता का ज्ञान-लाभ हो उसकी भी वृद्धि करे। यह इसी शुभ-कामना के साथ—

जैन प्रकाश कार्यालय,
पायधुनी बम्बई,
रक्षा बन्धन—[illegible]

रतनकुमार जैन 'रत्नेश'
साहित्यरत्न धर्मशास्त्री

दो शब्द

सन्मति ज्ञानपीठ का ध्येय व्यक्ति, सम्प्रदाय और प्रान्तीयता के सकीर्ण दायरे से ऊपर उठकर शुद्ध, समाजोपयोगी एव जीवन-पथ-प्रदर्शक साहित्य का प्रकाशन करना है। ज्ञानपीठ ने अपनी इस आदर्श परम्परा को आज तक दृढता से निभाया है और भविष्य में भी निभायेगा।

यही कारण है, कि ज्ञानपीठ ने अपने इस लघु जीवन मे ही समाज मे ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त की है, और प्रकाशन का एक सुन्दर एव शानदार स्तर स्थापित किया है। अनेकान्त, जैन प्रकाश, वीर आदि पत्रो तथा उच्च-कोटि के विद्वानो ने हमारे प्रकाशनो की मुक्त-कण्ठ से प्रशसा की है।

आज हमें हर्ष है, कि अपने प्रकाशनो की सुन्दर परम्परा मे उज्ज्वल वाणी भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर रही है। महासती श्री उज्ज्वल कुमारी जैन जगत् की एक महान् उज्ज्वलतारिका है, जो अपनी वाणी की उज्ज्वल ज्योति के द्वारा चिरागत मिथ्या विश्वासो के अन्धकार के साथ सघर्ष कर रही हैं। उनकी वाणी मे ओज है, प्रवाह, है साहस है और है भ्रान्त अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर सकने की शक्ति। हमे विश्वास है उज्ज्वल वाणी शुद्ध जैनत्व के लिए साहसपूर्ण प्रेरणा प्रदान करेगी।

उज्ज्वल वाणी का सपादन श्रीयुत् रत्नकुमार जी रत्नेश' की भेजी हुई लेखनी के द्वारा हुआ है। श्री रत्नेशजी जैन-

उज्ज्वल-वाणी

जगत् के उदीयमान साहित्यकार हैं, अभी-अभी सोलहसती के नाम से आपकी एक सुन्दर रचना प्रकाश में आई है। भाषा की सरलता और अन्तर्भाविता की अभिव्यक्ति ये दो ही लेखक की विशेषताएँ हैं जो श्री रत्नेशजी को सौभाग्य से स्वतः सम्प्राप्त हैं।

द्वितीय संस्करण

प्रस्तुत पुस्तक का द्वितीय संस्करण पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हुए हमें परम प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस पुस्तक की लोकप्रियता का पता इसी से लगा सकते हैं, कि यह पुस्तक प्रकाशित होने के कुछ पश्चात् ही समाप्त हो गई और उपयुक्त सज्जनों की मांग पर मांग हमारे पास आती रही जिससे प्रेरित होकर हमें यह नया संस्करण पाठकों के सम्मुख शीघ्र ही उपस्थित करना पड़ा। आशा है प्रथम संस्करण की तरह इस संस्करण का भी समादर किया जायेगा।

विजय सिंह दूगड़
मंत्री
सन्मति ज्ञानपीठ
आगरा

१५-६-५७

विषय-सूची

विकारों को जीतना ही सच्ची विजय है

दुनियाँ के हर एक प्राणी को शान्ति प्रिय है। आधि-व्याधि और उपाधि सदा-सर्वदा प्राणी-समूह को अप्रिय-अरुचिकर होती है। मानव को स्वभावानुसार सुख प्रिय और दुख अप्रिय होता है। सुख पुण्य का फल है और दुख पाप का। सुख सभी चाहते हैं, दुख को कोई नही चाहता। लेकिन फिर भी यह कितनी विचित्र बात है कि मनुष्य को जिसका फल प्रिय लगता है उसका कर्म नही रुचता, और जिसका फल नही रुचता है उसका कर्म प्रिय लगता है। जैसा कि कहा है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यनेच्छन्ति मानवा:।
न पाप-फलमिच्छन्ति पाप कुर्वन्ति यत्नत ॥

कल मैने आप से कहा था कि मनुष्य का सत्य-स्वरूप निर्भयता और निर्विकार अवस्था मे जाना जा सकता है। भय और विकारी भाव प्राणियो को दुख देते हैं। प्राणी जब निर्विकार होते हैं, तब वे पुण्य का सचय करते हैं। काम, क्रोध और लोभ ये त्रिदोष है। जैसे वात, पित्त और कफ के सम्मिलन से सन्निपात हो जाता है, और मनुष्य उससे अपना भान भूल जाता है, वैसे ही काम, क्रोध और लोभ जब आ

मिलते हैं तो प्राणियों भी दुर्गति कर डालते हैं। काम के वशीभूत प्राणी को अपना भान तक नहीं रहता। उसे न अपना हित नजर आता है और न अपना अहित ही। काम वासना के वश में होकर प्राणी अपना सर्वनाश कर डालता है।

क्रोध के विषय में एक अंग्रेज लेखक ने कहा है—

An angry man opens his mouth and shuts his eyes.

क्रोधी मनुष्य मुँह खुला रखता है और आँख बन्द कर लेता है। शुभ पुरुष से बिल्कुल विपरीत हाल क्रोधी मनुष्य का होता है। आँखें जो सदा खुली रखनी चाहिए क्रोधी मनुष्य बन्द कर लेता है और मुँह को बन्द रखना चाहिए, वह उसे खुला छोड़ देता है।

क्रोध तीन तरह से किया जा सकता है—

१—बिना किसी कारण के क्रोध करना।

२—किसी निमित्त को पाकर क्रोध करना।

३—क्रोध करते हुए को प्रोत्साहन देना।

उक्त तीनों ही दृष्टियों से क्रोध करना पाप है क्योंकि जैन धर्म की विशाल दृष्टि में किसी भी बुरे काम को करना कराना या उसे अनुमोदन देना पाप ही कहा गया है। बिना किसी कारण से यों ही क्रोध कर बैठना तो मूर्खता है। क्रोध करते हुए मनुष्य के सामने क्रोध करना मानो मन्दगी में मन्दगी डाल कर वृद्धि करना है। यह तो क्रोध रूपी कीचड़ में पत्थर डालने जैसी बात है। जैसे कीचड़ में पत्थर फेंकने वाला उसके काले दाग से बचा नहीं रह सकता उसी भाँति क्रोधी मनुष्य के सम्मुख क्रोध करने पर उसके दुष्परिणाम से भी बचा नहीं जा सकता। क्रोधी मनुष्य को शान्ति तो कभी होती ही नहीं।

क्रोध के आवेश मे कभी-कभी मनुष्य के ज्ञान-तन्तु भी फट जाते है, जिससे वह लकवा आदि भयकर मरणान्त बीमारियो का भी शिकार हो जाता है । इस प्रकार क्रोध से शारीरिक हानि तो है ही, मानसिक हानि भी कुछ कम नही है । क्रोध से मनुष्य का चित्त सदा भ्रान्त रहता है । किसी भी काम मे उसका मन नही लगता है । पैसा इकट्ठा करने से तो, फिर भी, कुछ आराम किया जा सकता है—मोटर रखी जा सकती है, रोज-रोज सिनेमा देखा जा सकता है, बाग-बगीचो की हवा खाई जा सकती है और इस प्रकार हिंसा का कारण होने पर भी उससे भौतिक सुखो का अनुभव किया जा सकता है । परन्तु क्रोध को इकट्ठा कर रखने से क्या लाभ हो सकता है ? कुछ नही । अत सुज्ञ पुरुष क्रोध का क्षमा-शस्त्र से मुकाबिला करते है और उसे अपने वश मे कर लेते है । गाली देने वाला भले ही गालियाँ देता रहे, परन्तु सामने वाला व्यक्ति क्षमा रक्खे तो क्या गाली देने वाला व्यक्ति उसका कुछ बिगाड कर सकेगा ? कुछ नही । आखिर हार तो गाली देने वाले की ही होगी, और जीत होगी क्षमा रखने वाले की । एक किस्सा है—

एक गाँव मे एक स्त्री को लडने का बहुत शौक था । बिना लडे उसे चैन नही पडता था, अत जबरन एक न एक से तो वह लडती ही रहती । गाँव वाले बेचारे उससे तग आ गये थे । एक दिन विवश हो वे सब मिलकर ठाकुर साहब के पास गये और अपनी फरियाद की । ठाकुर साहब ने उस स्त्री को बुलाया और कहा—माजी, तुम हमेशा क्यो लडती-झगडती हो ? इससे तुम्हें क्या लाभ होता है ?

बुढ़िया ने कहा—मुझे बिना लड़े भोजन नहीं भाता है अतः लड़ना तो पड़ता ही है ?

ठाकुर साहब ने उसे बहुत समझाया-बुझाया पर बुढ़िया नहीं समझी। तब ठाकुर साहब ने एक उपाय सोचा और बुढ़िया से कहा—अच्छा तुम्हारे पास रोज बारी-बारी से एक एक आदमी आया करेगा और तुम उससे लड़ा करना फिर तो दूसरे का तम नहीं करोगी ? बुढ़िया इस पर राजी हो गई। अब रोज बारी-बारी से उसके पास एक-एक आदमी आने-जाने लगा और वह लड़-सड़ कर इस तरह अपनी टेव (आदत) पूरी करती। एक दिन एक धर्मात्मा स्त्री की बारी आई। जब वह जाने लगी तो उसकी बड़ी पुत्री उससे मिलने आई और बोली—माँ तुम्हारे बजाय आज मैं उस बुढ़िया के पास जाऊँगी। माता ने उसे समझाते हुए कहा—वह बड़ी लड़ने-झगड़ने वाली स्त्री है तुझे दिन भर तंग कर देगी अतः मुझे ही जाने दे। परन्तु पुत्री नहीं मानी और अन्त में वह लड़की ही उसके पास गई। लड़की पढ़ी-लिखी और संस्कारित थी। वह बुढ़िया के पास आई और बोली—माँजी आपको किस चीज की जरूरत है कहिये क्या लाऊँ ? बुढ़िया अपने स्वभावानुसार 'तेरी मा ऐसी और तेरा बाप ऐसा' कहकर उसे गालियाँ देने लगी परन्तु लड़की शान्त रही और चुपचाप सब सुनती रही। वह अपने साथ कुछ सीने-पिरोने का काम लाई थी और पढ़ने के लिए पुस्तक भी लेकर आई थी अतः चुपचाप अपना काम करती रही। बुढ़िया ने देखा कि यह तो कुछ बोलती ही नहीं है अतः वह फिर जोरों से लड़ने लगी और गालियाँ देती हुई कहने लगी—तू बोलती क्यों नहीं है

वुढिया जव गालियाँ देकर थक गई तो लडकी ने कहा—माजी अव आराम कीजिए, आपका मुह दुखने आ गया होगा। वुढिया ने सोचा—मै तो इससे गालियाँ देकर लड-झगड रही हू और यह मुझे वदले मे आराम करने को कहती है, यह कैसी लडने वाली आज आई है ? रोज-रोज आने वालो से तो यह एक अनोखी ही मालूम देती है। अव मै लड़ू भी कैसे, जव कि यह तो कुछ वोलती ही नही है ?

वन्धुओ ! जो रोज-रोज झगडने मे लोगो को हराती थी, उसे इस लडकी के सामने अपनी हार माननी पडी। क्रोध के सामने क्रोध करने से विजय नही पाई जा सकती है, उसे तो क्षमा रूपी दैविक शस्त्र से ही जीता जा सकता है। जैसा कि आपने इस उदाहरण मे देख लिया है।

तीसरा विकार है लोभ। यह भी काम और क्रोध से कुछ कम भयकर नही है। आज सारी दुनियाँ मे जो उपद्रव हो रहे हैं और मार-काट मच रही है, वह इसी लोभ का परिणाम है। उत्तराध्ययन सूत्र के नवें अध्ययन मे श्री नमिराजर्षि का वर्णन है। जव वे अपना राज-पाट छोड कर मुनि वनने जाते हैं, तब-इन्द्र उनकी परीक्षा के लिए स्वर्ग से पृथ्वी पर आता है और उनसे कई प्रश्न पूछता है। वे प्रश्न वडे हृदयग्राही और हमारे आगमो की मौलिकता प्रकट करने वाले हैं। जव श्री नमिराजर्षि ने इन्द्र के सभी प्रश्नो का सचोट उत्तर दे दिया तो अन्त में उसने कहा—'हे नमिराज ! तुम अपना घर-वार, कुटुम्ब-परिवार छोडकर भले ही जाते हो तो जाओ, परन्तु इससे पहले अपने खजाने को वढा कर जाओ।' इसके उत्तर में नमिराज ने कहा—

सुवरण रूपस्स उ पव्वया भवे
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि
इच्छा हु आगास समा अणंतिया ॥

कैलाश पर्वत के समान सोने चाँदी के असंख्य पर्वत अगर किसी किसी को दिये जायें तो भी एक लोभी के लिए पर्याप्त नहीं हैं क्योंकि इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं। ज्यों-ज्यों इच्छाओं की पूर्ति होती जाती है त्यों-त्यों वह अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। एक इच्छा की तृप्ति होना ही दूसरी इच्छा की जागृति होना है। आज एक मनुष्य लखपति हो जाय तो क्या उसकी इच्छा करोड़पति बनने की नहीं होती? एक राजा एक गाँव का मालिक हो जाय तो क्या वह दूसरे गाँव पर प्रभुत्व जमाने का विचार नहीं करता? एक अंग्रेज तत्वज्ञानी ने कहा है—

'सुख पैसा नहीं मांगता सुख संग्रह नहीं मांगता लेकिन सुख सन्तोष मांगता है।

और भी—

A tub was large enough for Dayogenus but world was too l tle for Alexander

डायोजिनस के लिए एक टब भी बहुत था लेकिन ऐलेग्जेण्डर के लिये सारी दुनियाँ भी छोटी थी। क्योंकि मानव की तृष्णा का कभी अन्त नहीं होता है वह तो आकाश के समान अनन्त और असीम होती है। कोई विमान लेकर अगर आकाश का अन्त खोजने जाय तो क्या वह खोज सकेगा? इसी तरह इच्छाओं का अन्त भी नहीं होता है।

जो मानव जितने ही निष्परिग्रही होते हैं उतने ही गरीब

होगे। गरीब सन्तोषी होगे और सन्तोषी मानव सुखी तो होगे ही। एक समय की बात है— एक सन्यासी ने अपने सारे धन को किसी गरीब को दान देने के लिये कहा सन्यासी के पास कई गरीब मनुष्य आये। किसी ने कहा—मेरे पास वस्त्र नही है। किसी ने कहा—मेरे पास खाने के लिए अनाज नही है, अत अपना धन मुझे दीजिये। सन्यासी ने उन सबको यह कह कर विदा किया कि यह पैसा तुम्हारे जैसो के लिये नही है, तुम्हारे से भी गरीब मनुष्य के लिये है।

एक दिन राजा की सवारी उधर से निकली। उस सन्यासी ने अपना सब धन उस राजा को सौंप दिया। राजा ने कहा—भाई, तुम अपना यह धन मुझे क्यो सौप रहे हो ? सन्यासी ने उत्तर देते हुए कहा—मैने अपना सब धन किसी गरीब को देने के लिए कहा था। आप मुझे सबसे गरीब मालूम हुए, अत मैं यह धन आपको दे रहा हूँ। राजा ने कहा—भाई मै तो एक राज्य का मालिक हूँ, फिर मुझे क्यो यह धन देते हो ? सन्यासी ने कहा—महाराज! जिनकी इच्छाएँ अभी शान्त नही हुई है, वे ही ग़रीब हैं, अत मेरी दृष्टि मे आप ही गरीब हैं। इसलिये, यह धन स्वीकार कीजिये।

उपर्युक्त उदाहरण से यह भली भाँति जाना जा सकता है कि गरीब कौन और श्रीमन्त कौन होते हैं ? पैसो के कम होने पर भी जो अपनी इच्छाओ पर काबू कर लेता है, वही श्रीमन्त होता है। पैसो के अधिक होने पर भी जो अपनी इच्छाओ को वश मे नही कर पाता, वह श्रीमन्त होते हुए भी गरीब ही होता है। श्रीमन्ताई को सन्तोष से प्रेम होता है और सन्तोषी सदा सुखी ही रहता है।

मनुष्य चाहे तो थोड़े मे ही सुखी रह सकता है। कोई मोटर में बैठे हुए सेठजी को सुखी समझता है परन्तु यदि उनकी गरदन पर हाथ रख कर पूछें कि भाई, तुम कितने सुखी हो? तो क्या वे अपने को सुखी कहेंगे? नहीं। फिर मनुष्य को क्षमा और सन्तोष द्वारा ही निर्विकार होकर सुखी बनने का प्रयत्न करना चाहिए। अपने विकारों पर विजय पाने में ही मनुष्य की वास्तविक जीत समाई हुई है।

२१ जुलाई १९४९

२

सत्संगति और सत्साहित्य का महत्त्व

मनुष्य जब बीमार होता है तो वह चिकित्सा के लिए किसी डाक्टर अथवा वैद्य के पास जाता है। रोग के कारण और उपाय के बाबत अनभिज्ञ होने से डाक्टर की या वैद्य की राय लेनी ही पडती है। मकान बनाने के पूर्व किसी मकान-मालिक को इंजीनियर की सलाह लेनी जरूरी होती है। भाषा-ज्ञान के लिये किसी निष्णात अध्यापक के पास जाना पडता है। किसी को अगर कानून-कायदे की जानकारी प्राप्त करनी हो तो वकील या बैरिस्टर के पास जाना पडता है। फौज या सेना की कार्यवाही जानने के लिए सेनापति के पास जाना पडता है और राज-कार्य का परिचय प्राप्त करने के लिए जैसे राज-कर्मचारियो के पास जाना पडता है, वैसे ही मनुष्य को अपना जीवन उन्नत और प्रशस्त बनाने के लिये साधु पुरुषो की सगति में जाना पडता है।

जो जिस बात के निष्णात होते हैं वे ही सलाह दे सकते हैं और मनुष्य भी उनके पास ही जाते हैं। वकील या बैरिस्टर जिस तरह कानून की सलाह देते हैं और वैद्य या डाक्टर जिस प्रकार बीमारो को औषधी और पथ्य की राय दे ते हैं, उसी प्रकार जीवन को प्रशस्त और उन्नत बनाने के लिये साध

पुरुष मनुष्यों को सलाह देते है।

मनुष्य जिस तरह की समति करना चाहे कर सकता है और वैसा चाहे वैसा बन भी सकता है। अंग्रेजी में एक कहावत है—

What you think so you become

तुम जैसे विचार करोगे वैसे बन जाओगे।

हमें अपना जीवन उन्नत बनाना है तो हमें ऐसे विचारों का आश्रय लेना ही होगा जिनसे हमारा जीवन उन्नत हो। विचार मनुष्य का सूक्ष्म जीवन है और आचरण स्थूलरूप। यानी आचरण विचारों का स्थूल जीवन है। विचार यदि पवित्र होंगे तो जीवन भी पवित्र होगा। विचारों में यदि दुर्भावनाओं का प्राबल्य होगा या हिंसक वृत्तियों का प्रभाव होगा तो जीवन भी हिंसक और विकारी ही होगा। इसके विपरीत यदि किसी के विचारों में अहिंसा प्रेम दया और परोपकार की भावना प्रवाहित होती होगी तो निश्चय ही उसके जीवन से भी अहिंसा प्रेम दया और परोपकार की किरणें प्रस्फुटित होंगी। मनुष्य का जीवन विचार और वातावरण के अच्छे-बुरे होने पर ही बनता और बिगड़ता है। एक मनुष्य यदि सिनेमा देखने जावे और फिर वहाँ जंगल में जाकर किसी पेड़ के नीचे जाकर बैठे या किसी साधु-महात्मा के समीप बैठे तो उसके दोनों समय के विचारों में काफी अन्तर ज्ञात होगा। मनुष्य तो वही है लेकिन सिनेमा हाल में बैठे-बैठे उसके विचारों में जो विकृत उत्पन्न होगी और उसकी वजह से जो बुरी भावनाएँ उसके हृदय में जागृत होंगी वह जंगल में बैठे हुए नहीं हो सकेंगी। क्योंकि सिनेमा के वातावरण से जंगल का वातावरण कुछ न्यारा ही

होता है। अत यह अनुभव-सिद्ध बात है कि जैसा वातावरण होता है उसी के अनुरूप मनुष्य के विचार भी होते है।

हमारे धर्म स्थानको मे महापुरुषो ने निवास किया है और इनमे उनके परमाणु फैले हुए हैं जिससे कि आप यहाँ आते ही अपने हृद्गत भावो मे परिवर्तन अनुभव करने लग जाते हैं। मनुष्य के विचारो पर अमुक वातावरण, अमुक समय और अमुक स्थान का गहरा असर होता है। मनुष्य रोज सवेरे उठता है तो उसके दोनो हाथ सहसा जुड जाते हैं और वह बिछौने पर बैठे-बैठे ही ईश्वर को नमस्कार कर लेता है। यह सुबह के समय का ही पवित्र असर है जब कि किसी के हृदय मे बुरे विचारो का उद्गम ही नही होता।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि जैसे रोगी के लिए वैद्य की सलाह लेनी आवश्यक होती है और कानून की जानकारी के लिए बैरिस्टर के पास जाना जरूरी होता है, वैसे ही जीवन सुधारने के लिए साधुओ का समागम करना आवश्यक होता है। यदि किन्ही मनुष्यो को साधुओ का समागम नही होता हो तो वे उनकी साहित्यिक पुस्तको को पढकर भी अपना जीवन सुधार सकते हैं। क्योकि साधुओ का लिखित या कथित साहित्य ही उनका परोक्ष दर्शन होता है। जो मनुष्य अहिंसा, प्रेम, दया और परोपकार के सत्साहित्य को सुनता है या पढता है तो निश्चय ही उसके विचार भी वैसे ही सुन्दर होगे।

आप जब स्थानक मे आते हैं और कुछ सुनते पढते है तो आपको अच्छे विचार आने लगते हैं। लेकिन आप जब घर जाते हैं तो उनको भूल जाते हैं। ऐसा क्यो होता है ? इसका कारण यही है कि हमारा समय सत्साहित्य के सुनने या पढने

में बहुत कम व्यतीत होता है और दूसरी बातों में अधिक जिससे हम अच्छे विचारों का अस्य समय मे ही भूल जाते हैं।

मनुष्य के हृदय में अच्छे और बुरे दोनों ही तरह के संस्कार होते हैं जो समय और कारण को पाकर उदित हो जाते हैं। व्यापार के समय मनुष्य का हृदय कठोर हो जाता है। उस समय वह किसी गरीब को देखकर भी नहीं पिघलता और उसे एक पैसे की भी रियायत नहीं करता। लेकिन वही मनुष्य किसी दूसरे समय एक गरीब को देखकर पिघल उठता है और उसे कुछ दे देता है। इसका कारण यही है कि हमारे हृदयों पर दोनों ही तरह के संस्कारों का प्रभाव है। अतः बुरे विचारों को दूर करने के लिए और सद्विचारों की प्राप्ति करने के लिए सतत् सत्साहित्य का मनन-वाचन अवश्य करते रहना चाहिए जिससे कि मनुष्य हर समय अच्छे विचारों में ही डूबा हुआ रहे।

एक बार महात्मा गांधीजी जोहान्सबर्ग से किसी दूसरी जगह जा रहे थे। रेल की मुसाफिरी पूरे १२ घन्टे की थी। उस समय मि पोलाक नाम के एक अंग्रेज मित्र ने उनको रस्किन की 'अन्टू दिस लास्ट' नामक एक पुस्तक देते हुए कहा—लीजिये आप अपने १२ घन्टे की मुसाफिरी इसे पढ़ कर समाप्त कीजिएगा। महात्माजी ने उस पुस्तक को (जिसे कि उन्होंने बाद में 'सर्वोदय' का नाम दिया है) पढ़ा और पढ़कर उनपर ऐसा असर हुआ कि उन्होंने अपनी बैरिस्टरी छोड़ दी और तभी से वे एक ग्रामीण की तरह सीधा-सादा जीवन व्यतीत करने लग गये। यह सत्साहित्य का ही प्रभाव था कि उसने गांधीजी को महात्मा बना दिया था। आपने

सुना होगा कि इगलैण्ड का प्राइम मिनिस्टर ग्लैडस्टन सदा अपनी जेब मे पुस्तक रखता था। जब भी उसे समय मिलता, वह उसे पढने लग जाता था। पुस्तक के प्रति ऐसी ही लगन आज हमे भी होनी चाहिए।

पुस्तकीय जीवन बडा अनोखा होता है। लेकिन पुस्तको को चुनने मे बडी बुद्धिमानी से काम लेना चाहिए। पुस्तक ऐसी चुननी चाहिए कि जिसमे मानवता का झरना बहता हो। फिर चाहे वह किसी भी भाषा मे हो, या चाहे जिसकी लिखी हुई हो, उसे अवश्य पढना चाहिए। कोई-कोई यह समझते हैं कि अपनी साम्प्रदायिक पुस्तको को छोडकर दूसरी पुस्तको को पढना मिथ्यात्व है। लेकिन उनका ऐसा समझना नितान्त भ्रामक है। मिथ्यात्व वह साहित्य है, जिसके पढने से कषायादि भावो का उदय होता हो और मन मे हिंसा की जागृति होती हो। जीवन को उन्नत बनाने वाले के लिये ऐसा कुसाहित्य मिथ्यात्व है, न कि दूसरा। साधुओ के समागम से भी यही मतलब है कि जो सत्साधु हैं, उनका अवश्य समागम करना चाहिये। फिर चाहे व अन्य सम्प्रदाय के भी क्यो न हो।

साधु हमारे जीवन के गढने वाले होते हैं। जैसे कुम्हार का हाथ घडे को गढता है और उसे एक भाजन का रूप दे देता है, उसी भाँति साधु पुरुष भी मनुष्य को मानव का रूप दे देते हैं। मनुष्य चाहे जितना निष्ठुर और निर्दयी क्यो न हो, वह भी सन्त पुरुषो के समागम से निर्मल और पवित्र बन जाता है। अर्जुनमाली कितना निष्ठुर और निर्दयी था! वह रोज-रोज छह पुरुषो और एक स्त्री की घात करता था। मनुष्य किसी चीटी के दब जाने

पर भी दुःख अनुभव करता है और यह समझता है कि मैंने आज पाप कर दिया है तो फिर रोज-रोज छह पुरुषों और एक स्त्री की घात करने में कितना पाप होता होगा ? अर्जुन माली जो रोज रोज छह पुरुषों और एक स्त्री की हत्या करता था क्या उसके पाप की भी कुछ सीमा हो सकती थी । ऐसा निष्ठुर पापी पुरुष अर्जुनमाली भी भगवान् महावीर के समागम से क्षमाशील और साधु पुरुष हो जाता है । सत्संगति से क्या नहीं हो सकता ? पतित से पतित जीवन भी सत्संगति के प्रभाव से उन्नत बन जाता है । *भगवान् बुद्ध के जीवन का भी एक उदाहरण है—*

उस समय श्रावस्ती के जंगल में एक लुटेरा रहता था । उसका नाम था अंगुलीमाल । वह मनुष्यों को लूट-मार कर उनकी अंगुलियाँ काट लेता और उनकी माला बनाकर पहनता था । अतः वह अंगुलीमाल नाम से ख्यात था । श्रावस्ती की सारी प्रजा उससे हैरान थी वहाँ का राजा भी उसे अपने वश में नहीं कर सका था । भगवान् बुद्ध ने जब यह सुना तो वे उस जंगल में जाने को तैयार हुए जहाँ कि वह लुटेरा रहता था । महापुरुष जो होते हैं वे दूसरों की दुर्गति नहीं देख सकते हैं अपनी जान को जोखम में डालकर भी वे दूसरों की भलाई के लिये चल देते हैं । जैसे भगवान् महावीर चण्डकौशिक को बचाने के लिये गये थे वैसे भगवान् बुद्ध भी उस लुटेरे को बचाने के लिये उस जंगल में चल दिये । उन्हें उस जंगल में जाते देख कर ग्वाले कहने लगे—महाराज इस जंगल में तो भयंकर लुटेरा रहता है जो सबको लूट कर मार डालता है । अगर आपको अपनी जान प्यारी है तो यहाँ से वापिस लौट [illegible] भोले भाले ग्वालों की बात सुनकर

विचार—मनुष्य कितना भोला होता है कि वह अपने हृदय मे बसे हुए भयकर लुटेरो मे तो नही डरता है लेकिन बाहिरी लुटेरो से भय खाता है। वे बिना कुछ कहे-सुने आगे चल दिये। अ गुलीमाल ने जब दूर से ही भगवान् बुद्ध को आते हुए देखा तो उसने सोचा–इस जगल मे कोई भी अकेले आने की हिम्मत नही करता है फिर यह साधु कैसे अकेला आ रहा है ? क्या इसे अपनी जान प्यारी नही है। वह बुद्ध के मामने आया और स्थिर खडा होकर बोला—'ठहर जाओ, आगे मत बढो, यहाँ ही खडे रहो।' बुद्ध ने चलते-चलते कहा—'भाई, मै तो खडा हूँ, लेकिन तुम खडे रहो।' अ गुलीमाल ने सोचा–यह कैसा साधु है जो मुझे स्थिर खडे होने पर भी खडे रहने को कहता है और स्वय चलते हुए भी कहता है कि मै तो खडा हूँ ? बुद्ध का उत्तर सुन वह एक उलझन मे फँस गया। उसने बुद्ध से कहा—ऐसा तुम कैसे कह रहे हो ? देखते नही, मै तो खडा ही हूँ। तब भगवान् बुद्ध ने उपदेश देते हुए कहा—भाई मै तो प्रेम और मैत्री मे स्थिर हूँ, लेकिन तू अभी अस्थिर है, अत स्थिर हो जा। भगवान् बुद्ध के उपदेश का नतीजा यह होता है कि अन्त मे वह भगवान् बुद्ध का शिष्य हो जाता है और उनके वस्त्र-पात्र उठा कर उनके साथ श्रावस्ती के बगीचे मे आ जाता है।

नगरी का राजा प्रसेनजित अपनी सेना लेकर बाहिर निकला और जगल मे जाने से पूर्व भगवान् बुद्ध के पास आता है और वन्दना करता है। भगवान् बुद्ध ने जब उसके पास सेना भी देखी तो कहा—राजन् ! आज सेना लेकर कहाँ चढाई करने जा रहे हो ? राजा ने उत्तर दिया–महाराज,

इसी जंगल में एक लुटेरा रहता है मैं उसको पकड़ने जा रहा हूँ । भगवान् बुद्ध ने कहा—हे राजन् ! जिसको तुम पकड़ने जा रहे हो अगर वह लुटेरा साधु बन जाय तो तुम क्या करोगे ?

राजा ने कहा—महाराज मैं उसे वन्दना करूंगा । अपना सिर उसके चरणों में झुका दूंगा । तब भगवान् बुद्ध ने अपने पास बैठे हुए अंगुलीमाल को बताते हुए कहा—राजन् ! यह वही लुटेरा है जिसे तुम अपनी सेना लेकर पकड़ने के लिये जा रहे हो । राजा ने तत्क्षण अपना सिर अंगुलीमाल के सामने झुका दिया ।

बन्धुओ ! जिस लुटेरे को प्रसेनजित राजा अपनी सैन्य शक्ति से भी वश में नहीं कर सका उसे भगवान् बुद्ध ने अपने वश में कर लिया था । अब कहिये अन्तर्गति में ज्यादा बल होता है कि राजा अथवा उसकी सैन्य-शक्ति में ?

जो अपना दमन कर लेता है वही दूसरों का दमन भी कर सकता है । भगवान् महावीर ने अपनी आत्मा का दमन किया था तो वे चण्डकौशिक जैसे विषैल सर्प का भी दमन कर सके और उसे उन्नत बना सके । भगवान् बुद्ध ने भी अपनी आत्मा का दमन किया था तो वे भी अंगुलीमाल जैसे लुटेरे को वश में कर उसका उत्थान कर सके । इस प्रकार सत्संगति से अनेक लाभ हैं । इसकी महिमा वेदों और पुराणों में भी गाई गई है । अतः जो मनुष्य साधुओं की संगति करेंगे और सत्साहित्य का मनन करेंगे वे अपने जीवन को अवश्य निर्मल बना सकेंगे ।

२ जुलाई, १९४९

३

जीवन उन्नत कैसे बने ?

कल हमने यह विचार किया था कि मनुष्य का अपना जीवन सुधारना हो या जीवन उन्नत बनाना हो तो उसे सत्संगति और सत्साहित्य का मनन करना चाहिये । लेकिन आज विचारना यह है कि जीवन का विकास कैसे हो ?

आज चारो तरफ से सुधार की बातें बहुत हो रही है । कही सफाई मे सुधार की बाते हो रही है, तो कही शिक्षा मे सुधार की । लेकिन मनुष्य को यह नही भूल जाना चाहिये कि इनमे भी उसे सबसे ज्यादा जरूरत है अपने जीवन-सुधार की, जो कि अपने शुभ विचारो द्वारा किया जा सकता है । काम, क्रोध, लोभ आदि विकारो को हृदय से निकाल देना और शुभ-योग मे अपने मन को केन्द्रित करना ही जीवन-सुधार का मूलभूत पाया है । इसके लिए कल मैंने साधु-सगति और स-साहित्य का कथन किया था ।

जीवन-सुधार की भूमिका मे पदार्पण करने से पूर्व मनुष्य को मन, वचन और कर्म से निर्मल होना चाहिए । मनुष्य का मन निर्मल होना आवश्यक है । विना निर्मल मन के शुभ विचारो का वपन हृदय मे नही किया जा सकता है । प्रकृति से मनुष्य को दो हाथ, दो पाव, दो आंख, दो कान मिले हैं,

पर जीभ एक ही क्यों मिली ? इसका कारण यही है कि मनुष्य अपनी दो आँख और दो कान से हर-एक चीज को दो बार देखे सुने- पर जीभ से केवल एक ही बार कहे। मनुष्य को हाथ और पाँव बड़े लम्बे-लम्बे मिले हैं पर जीभ छोटी क्यों मिली है ? इसका कारण भी यही है कि मनुष्य अपने हाथ-पैरों का उपयोग अधिक-से अधिक करे पर जीभ का उपयोग बहुत कम करे—यानी आवश्यकता होने पर ही कुछ कहे। शास्त्रों में जो वाणी का भी तप माना गया है वह इसी का नाम है। कम-से-कम बोलना यही वाणी का तप है। अमेरिका का एक प्रसिद्ध पत्रकार जब भारत में आया था तब उससे यह पूछा गया था कि हिन्दुस्तान को आजादी मिलने पर क्या करना चाहिये ? इसका उत्तर देते हुए उसने कहा था—जो ज्यादा बोलते हैं उन्हें सर्व प्रथम खतम कर देना चाहिये। यह बिलकुल सच है कि हम वाणी का महत्व समझे बिना ही आजकल बहुत बोलने के आदी हो गये हैं। अधिक बोलना और निरर्थक बोलना भी मनुष्यों की बुरी भावना में शुमार किया गया है।

इन्द्र ने एक बार अपने गुरु बृहस्पति से कहा—मुझे कोई ऐसा मन्त्र बताइये जिससे कि मुझे सर्वत्र मान-ही-मान मिले। बन्धुओ ! मनुष्य को मान बड़ा प्यारा होता है और अपमान बड़ा दुखदायी। अंग्रेजी में भी कहा है—

I sult is moor tha per tio

'अपमान का नश्तर ऑपरेशन के नश्तर से भी ज्यादा दुख दायी होता है। हाँ तो इन्द्र के पूछने पर बृहस्पति ने कहा—'मनुष्य मीठा बोले तो सब जगह मान पा सकता है।

मनुष्य से बने तो उपवास करे, अन्यथा नही। पर उसे वाणी पर नियन्त्रण तो अवश्य रखना ही चाहिये। वाणी पर नियन्त्रण रखना कोई सरल काम नही है लेकिन यह नही भूल जाना चाहिये कि यह जितना कठिन काम है उतना ही लाभ-दायक भी है।

कम बोलना, पर हितकर, मधुर और सत्य बोलना—यह वाणी का तप है, जो कि जीवन सुधारने का दूसरा पाया है।

तीसरा पाया है कर्म। कर्म भी हमे शुद्ध करने चाहिये। जिस दिन हमसे शुभ कर्म नही हो, वह दिन व्यर्थ गया समझना चाहिये। अशुभ कार्यो मे तो मनुष्य रोज व्यस्त रहता है, लेकिन उन अशुभ कार्यो से शुभ कार्यों मे प्रवृत्त होना ही शुभ योग है। हरएक मनुष्य डाक्टर नही बन सकता है और न हरएक मनुष्य अपने यहाँ लायब्रेरी ही खोल सकता है, लेकिन अगर कोई दूसरा व्यक्ति बीमार हो तो उसे हरएक मनुष्य डाक्टर के पास पहुँचा तो सकता है। या उसे दवा लाकर तो दे सकता है। मनुष्य की अपनी लायब्रेरी न हो, पर अपने पास कोई अच्छी पुस्तक हो तो उसे दूसरो को पढने के लिये तो दे सकता है? ऐसे काम तो हर एक आदमी कर सकता है। ऐसे ही काम शुद्ध कर्म है, जो कि जीवन-सुधार का तीसरा पाया है।

पठन (मनन) मनुष्य की मानसिक खुराक है। शारीरिक खुराक तो हम अपने आप ही खा सकते हैं, लेकिन रस्किन ने कहा है—आप अपनी मानसिक खुराक दूसरो को भी दे सकते हैं विद्यालय हर कोई बना नही सकता है, लेकिन उनके

जमाने म महमान ता हर कार्ड ब मकता है । पर आ हरएक व्यक्ति नहीं पुरबा मकता है पर घर आये प्यासे को पानी तो हर कोई पिला मकता है ।

प्राचीन जमाने में अतिथियों को देवता तुल्य समझा जाता था । लेकिन आज जब किसी के यहाँ मेहमान आते हैं तो सबसे पहले यह पूछा जाता है कि आप कब जायेंगे ? 'अतिथि देवो भव' यह एक प्राचीन वाक्य है । अतिथि को देव तुल्य कहा गया है अत अतिथि बनकर किसी का आतिथ्य स्वीकार करना साधारण बात नहीं है इसमें भी बड़ी योग्यता और विवेक की आवश्यकता है । पुराण का एक किस्सा है—मगालसा नाम का एक सेठ था जो किसी एक अतिथि को जिमाये बिना भोजन नहीं करता था ।उसका यह रोज का नियम था । जिस दिन अतिथि नहीं मिलता उस दिन वह खुद भी भूखा रहता था । उस समय आज की तरह भिक्षुक की बाढ नहीं थी । बड़ी मुश्किल से ढूढने पर कोई ऐसा मिलता था जो कि किसी का आतिथ्य लेने को तैयार होता । कई दिन हो गये सेठजी को कोई अतिथि नहीं मिला । अपने नियमानुसार वे भी भूखे रहे । कई दिनों बाद उन्हे एक तपस्वी मिला। सेठ जी ने उससे कहा—महाराज ! मै कई दिनो का भूखा हूँ अत आज आप मेरे घर चल कर कुछ जीमियेगा (जीमियेगा) और मुझे भी पारणा करने का मौका दीजियेगा । तपस्वी ने कहा—भाई मैं तो बीमार साधु हू अत मेरा जीमना तेरे यहाँ कैसा हो सकेगा ? सेठजी ने कहा—नहीं महाराज ! मै सब तरह स आपके योग्य व्यवस्था कर दू गा। मेहरबानी कर आप मेरे घर को पवित्र कीजियेगा । सेठजी की भक्ति देखकर

ने कहा—कौनसा काम बाकी है भाई ? उसने कहा—अभी आपके हाथ की चपत खानी तो शेष ही रह गई है ? यशवत ने कहा—भाई ! तुम भी कैसी बात करते हो ? चपत भी क्या तुम्हारे जैसो के लिये है ? यह तो उसी को लगाई जाती है, जिसने अपनी मा के हाथो की चपत नही खाई हो। तुम्हारे जैसे पुरुषो के लिये मेरी चपत नही है। जाओ भाई, जाओ, फिर कभी जरूर दर्शन देना। बन्धुओ ! जो व्यक्ति दूसरो के घर पर जाकर भी घर के व्यक्तियो की तरह नही बनते है, तो वे भारभूत प्रतीत होने लगते है। इसीलिये अतिथि बनने से पूर्व अतिथि-शिक्षा को जानने की बात मैने आपसे कही है।

मन से शुद्ध सोचना, वचन से मधुर बोलना और कर्म से शुद्ध करना, मानव-जीवन के आदर्श भूत मूल पाये है' जिन पर कि मानव-जीवन का विशाल महल खडा किया जा सकता है।

मनुष्य से वडे-वडे काम नही हो सकते हैं, लेकिन छोटे-छोटे करने योग्य कार्य करना तो मनुष्य का धर्म (फर्ज) होना जाहिये। आप सडक नही बना सकते हैं, पर रास्ते में पडे हुए ककड पत्थर या काटो को तो उठा कर फेक सकते हैं। ऐसे छोटे-छोटे काम, अगर मनुष्य चाहे तो आसानी से कर सकता है। और यही काम जीवन-घडतर के कर्म हैं, जिन्हे करते हुए मानव वडा वन सकता है। कुछ नहीं करते हुए निष्क्रिय वनना तो १४ वे गुणस्थान की स्थिति है। केवल ज्ञान प्राप्त करने तक यानी १३ वे गुणस्थान तक तो मनुष्य सयोगी ही रहते है, यानी कर्मशील ही रहते है। अत तव तक तो अपने योगो को शुभ कार्य मे प्रवृत्त रखना ही चाहिये।

अतिथि-सत्कार कैसे किया ? उत्तर देते हुए कहा—उसने मुझे बड़े प्रेम से खाना खिलाया अपने हाथों से पानी पिलाया हँस-हँस कर बात चीत की और सब काम मेरा बड़े प्रेम से किया। उसने कहा—यह सब तो ठीक है परन्तु मैंने सुना है कि जो मनुष्य उसके यहाँ आतिथ्य लेने जाता है, उसके वह लौटते समय चार चपत भी लगा देता है। क्या तुम्हारे भी लगाये हैं ? अतिथि ने कहा—सच है उसने धीरे-धीरे चपत तो मेरे भी लगाई थी। परन्तु दूसरे उसके अवगुण नहीं गुण ही देखने चाहिये। मखमल भाई का यह स्वभाव था कि जो भी उसके यहाँ आता लौटते समय उसके मुँह पर चार चपत लगाता था। एक दिन दूसरा विवेकी पुरुष उसके यहाँ आया। मखमल भाई उसकी बड़ी खातिर करने लगा और सब चीजें उसे ला-लाकर देने लगा। अतिथि ने कहा—मखमल भाई मैं तुम्हारे यहाँ चार दिन तक रहना चाहता हूँ परन्तु यदि तुम मुझे अपने घर के व्यक्ति की तरह रखोगे तो मैं यहाँ रहूँगा अन्यथा धर्मशाला में जाकर रहूँगा। बोलो तुम्हारा क्या विचार है ? मखमल भाई किसी भी अतिथि को अपने यहाँ से जाने नहीं देता था अतः उसने उसकी बात मान ली। अब वह अतिथि स्वयं काम करने लगा और मखमल भाई से पूछने लगा—बोलिये आपका क्या चाहिये ? क्या लाऊँ ? इस तरह वह मखमल के घर को अपना ही घर समझ कर रहने लगा। जब चौथे रोज वह जाने लगा तो मखमल भाई अपने आफिस से घर आये और उससे पूछा —क्यों भाई आपका सब काम हो गया ? अतिथि ने कहा—हाँ मेरा सब काम तो हो गया है लेकिन एक काम अभी बाकी है मखमल

ने कहा—कौनसा काम वाकी है भाई ? उसने कहा—अभी आपके हाथ की चपत खानी तो शेष ही रह गई है ? यशवत ने कहा—भाई ! तुम भी कैसी वात करते हो ? चपत भी क्या तुम्हारे जैसो के लिये है ? यह तो उसी को लगाई जाती है, जिसने अपनी मा के हाथो की चपत नही खाई हो। तुम्हारे जैसे पुरुषो के लिये मेरी चपत नही है। जाओ भाई, जाओ, फिर कभी ज़रूर दर्शन देना। वन्धुओ ! जो व्यक्ति दूसरो के घर पर जाकर भी घर के व्यक्तियो की तरह नही वनते है, तो वे भारभूत प्रतीत होने लगते है। इसीलिये अतिथि वनने से पूर्व अतिथि-शिक्षा को जानने की वात मैने आपसे कही है।

मन से शुद्ध सोचना, वचन से मधुर बोलना और कर्म से शुद्ध करना, मानव-जीवन के आदर्श भूत मूल पाये हैं' जिन पर कि मानव-जीवन का विशाल महल खडा किया जा सकता है।

मनुष्य से वडे-वडे काम नही हो सकते हैं, लेकिन छोटे-छोटे करने योग्य कार्य करना तो मनुष्य का धर्म (फर्ज) होना जाहिये। आप सडक नही वना सकते हैं, पर रास्ते मे पडे हुए ककड पत्थर या काटो को तो उठा कर फेक सकते हैं। ऐसे छोटे-छोटे काम, अगर मनुष्य चाहे तो आसानी से कर सकता है। और यही काम जीवन-घडतर के कर्म हैं, जिन्हे करते हुए मानव वडा वन सकता है। कुछ नहीं करते हुए निष्क्रिय वनना तो १४ वे गुणस्थान की स्थिति है। केवल ज्ञान प्राप्त करने तक यानी १३ वें गुणस्थान तक तो मनुष्य सयोगी ही रहते है, यानी कर्मशील ही रहते हैं। अत तव तक तो अपने योगो को शुभ कार्य मे प्रवृत्त रखना ही चाहिये।

कई मनुष्य यह समझते हैं कि कुछ नहीं करते हुए चुपचाप बैठा रहना अच्छा है लेकिन उनका यह समझना नितान्त भ्रम-मूलक है। मनुष्य अगर अपने योगों को शुभ कार्यों में प्रवृत्त नहीं रखेगा तो अशुभ कार्यों में तो वे जाने के ही हैं। मन से शुभ नहीं सोचने तो बुरा तो सोचने का ही है। स्थूल शरीर से कुछ नहीं करने पर भी शरीर के सूक्ष्म यंत्र तो चालू ही रहते हैं। मन की गति कब किससे रोकी जा सकती है? शरीर के रुकने पर भी मन की गति चालू ही रहती है। एक अंग्रेज लेखक ने कहा है—"खाली मन पिशाचों का कारखाना है।" हमारे मन की स्थिति भी आज कचरा-पेटी जैसी हो गई है। कैसा भी बुरा विचार आवे उसे अपने मन में भर लिया जाता है हिताहित का विचार भी नहीं किया जाता। अत विवेकी पुरुष को चाहिये कि वह हिताहित का विचार करते हुए अपनी दुष्प्रवृत्तियों को भी शुभ कार्य में प्रवृत्त करे। इस शुभ प्रवृत्ति को शास्त्रों में 'संक्रमण' के नाम से पुकारा गया है। अपने अशुभ योगों को यानी मन वचन और कर्म के *अशुभ योगों को शुभ योगों मे परिवर्तित करना संक्रमण है* और यही जीवन-शुद्धि का राज-मार्ग है।

२१ जुलाई १९ ६

८

सुखी जीवन

गाँव मे हैज़ा हो या प्लेग हो तो मनुष्य अपना घर-वार छोड कर चला जाता है। उससे वचने के लिये वह जगल मे जाता है, इंजेक्शन लेता है और तरह-तरह की दवाइयाँ भी खाता है।

आजकल जिन-जिन शहरो मे हैज़ा होता है, उन-उन शहरो मे प्राय भगियो को सताया जाता है, मारा-पीटा भी जाता है। लेकिन मनुष्य का यह समझना विल्कुल निराधार और असत्य है कि हैज़ा भगियो की वजह से होता है। वह तो हमारी गदगी से ही होता है। फिर वेचारे भगियो को सताने से क्या लाभ है ?

मनुष्य अपने वाह्य दोषो को मिटाने के लिये दूसरो को सताने लग जाता है, पर क्या वह अपने हृदय मे छिपे हुए बुरे स्वभाव को दूर करने का भी प्रयत्न करता है ? दुनिया मे फैलने वाला हैजा तो मनुष्य को एक वार ही मारता है, लेकिन खराव स्वभाव हैज़ा तो ऐसा भयकर है कि वह अनेक वार उसको मृत्यु के मुँह मे ले जाता है। फिर मनुष्य को किससे अधिक भयभीत होना चाहिए ? क्या आजकल के हैज़ा से या मानव-हृदय मे निरन्तर उथल-पुथल करने वाले खराव स्वभाव रूपी हैज़ा से ?

मनुष्य का स्वभाव है कि वह हमेशा दूसरो के दोष ही

देखता है। गधे की यह मान्यता होती है कि उसके सामने भले ही घावर का भोजन रखा जाय पर वह उसको छोड़ कर जमीन पर पड़ी हुई सूखी घास को तरफ ही देखेगा। वैसे ही बहुत से पुरुषों की भी ऐसी आदत होती है कि वे हमेशा अच्छाई को छोड़कर दूसरों की बुराई ही देखते हैं। जैसे मिर्च या खटाई खाने से मनुष्य का मुंह बिगड़ जाता है वैसे ही दूसरों की निन्दा करने से भी मनुष्य का जीवन बिगड़ जाता है जैसे कि एक अंग्रेज लेखक ने कहा है—

What you think so you become

जैसा विचार होगा वैसा ही जीवन भी होगा।

मनुष्य अपनी छोटी-सी आंख से सारी दुनिया को देख लेता है। लेकिन कितने आश्चर्य की बात है कि वह अपने को नहीं देख सकता है? अंग्रेजी में एक लेखक ने लिखा है—

एक दिन छलनी ने सुई से कहा—बहिन तेरे सिर में तो छेद है बेचारी छलनी यह नहीं जानती कि उसके तो सिर में ही छेद है पर मेरा तो सारा शरीर ही छेदों से भरा पड़ा है। यही हाल आज मनुष्य का भी है। वह दूसरों के दाग तो बड़ी आसानी से देख लेता है पर यह नहीं देखता कि मैं कितने दोषों का खजाना हूं। गुजरात के प्रसिद्ध कवि 'दलपत' ने अपनी एक कविता में कहा है—

एक दिन एक ऊंट ने सियार से कहा—मित्र यह दुनिया तो बड़ी खराब है। सियार ने कहा—क्यों मामा यह कैसे कहते हो? ऊंट ने कहा—देखो न कहीं बगुले की चोंच टेढ़ी है तो कहीं कुत्ते की पूंछ टेढ़ी है। कहीं हाथी की सूंड टेढ़ी है। मित्र सब टेढ़ी ही टेढ़े इस दुनिया में न जाने कहां से

मनुष्य शुद्ध हवा खाने के लिये शिमला और मसूरी जाता है और उसके लिए घर में बाग बगीचे भी लगाता है। लेकिन शुद्ध स्वभाव बनाने के लिये वह क्या करता है? इसके लिये भी उसे अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।

आज गृहस्थी मनुष्यों की बात तो जाने दीजिये। हम जैसे त्यागी साधुओं की दृष्टि भी आज निर्मल नहीं है सब अपने-अपने सम्प्रदाय के साधुओं को ही श्रेष्ठ और चारित्रशील समझ बैठे हैं। दूसरे सभी उनकी दृष्टि में शिथिल हैं। यह कैसी सोचनीय बात है? कोई मनुष्य गंगा में अपनी नाव चलाये या यमुना में आखिर तो दोनों समुद्र में ही जायेंगे। लेकिन फिर भी कोई कहे कि गंगा में जाने से ही समुद्र में जाया जा सकता यमुना में जाने से ही नहीं तो क्या यह ठीक माना जा सकेगा? हकीकतन सत्य तो यह है कि चाहे जिस मार्ग से क्यों नहीं जाया जाय पर अपनी चारित्र रूपी नाव मजबूत होनी चाहिये फिर चाहे कोई किसी भी रास्ते से क्यों नहीं जाता हो अपने ध्येय पर पहुँच ही जावेगा। अतः यह सोचना कि हम जिस मार्ग से जा रहे हैं वह मार्ग ही सच्चा और अच्छा है दूसरा नहीं नितान्त भ्रामक है।

मनुष्य को जब तक अपनी चीज का मोह होता है तब तक उसका स्वभाव निर्मल नहीं बन सकता है। पुराने समय की एक बात है—बनारस के एक श्रीमन्त ब्राह्मण का लड़का तक्षशिला में विद्याध्ययन के लिए गया। जैसे आज बनारस शिक्षा का केन्द्र-स्थान समझा जाता है वैसे ही उस समय तक्षशिला और नालन्दा के विद्यालय विश्व में विख्यात थे। कई वर्षों बाद जब वह ब्राह्मण का लड़का तक्षशिला में पढ़ कर

घर आया तो उसके पिता मर चुके थे। उसने सोचा—जब मेरे पिता भी अपने सारे धन को छोडकर मर गये हैं तो मैं क्या इसे साथ मे ले जा सकूँगा ? यह सोचकर उसने सब धन गरीबो को बाँट दिया। मनुष्य जब अपरिग्रही बनता है तभी वह ऊपर उठ सकता है। आप लोग लीलोती का त्याग करते है—हरा शाक खाने का त्याग करते हैं। लेकिन यह तो जड को पानी न पिलाकर फल और पत्तो को पानी पिलाने के समान है। जड को पानी पिलाये बिना कोई फल और पत्तो को पानी पिलाये तो वे कितने दिनो तक हरे रह सकेंगे ? आखिर मे तो सूखेगे ही। वैसे ही आप धर्मरूपी जड को हरा रखने के बजाय अगर ऊपर-ऊपर की बातो को—डालो को ही हरी रखेगे तो उसकी ताजगी कब तक आपको हरा रख सकेगी ? आखिर मे तो इसका परिणाम भी वैसा ही होगा जैसा कि जड को सीचे बिना फल और पत्तो को सीचने मे होगा। अत मनुष्य को सर्व प्रथम मूलभूत परिग्रह पर नियत्रण रखना चाहिये। हर एक मजहब मे या धर्म मे परिग्रह पर नियत्रण रखने का आदेश दिया गया है। आप परिग्रह का विशाल दरवाजा तो कुला छोड देते है और छोटे-छोटे दरवाजे बन्द कर यह चाहते है कि घर मे कचरा नही आवे तो यह कैसे सभव हो सकता है ?

ईशु खिस्त के पास एक युवक आया और बोला—कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे मेरा कल्याण हो ?

ईशु ने कहा—भाई, तुम अपने पडोसी से प्रेम करो, गरीबो की सेवा करो और दु खियो की सहायता करो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

युवक ने कहा—यह सब तो मैं करता ही हूँ और कोई उपाय हो तो बताइये।

ईसु ने कहा—अगर तुम सचमुच अपना कल्याण चाहते हो तो अपनी सब सम्पत्ति गरीबों में बाँट दो।

भला धनवानों को कहीं ऐसी बात रुच सकती है? उस युवक को भी यह बात नहीं रुची। वह उल्टे पैरों घर लौट गया। तब ईसु ने अपने शिष्य को उपदेश देते हुए कहा—'सूई की नोंक में से ऊँट का निकल जाना सहज है लेकिन धनवान् का स्वर्ग में जाना कठिन है।

हाँ तो मैंने आपसे कहा था कि उस ब्राह्मण-पुत्र ने अपनी सारी सम्पत्ति गरीबों को बाँट दी और स्वयं साधु हो गया। साधु बनकर भ्रमण करते हुए वह एक ऐसे गाँव में पहुँचा जहाँ का राजा बड़ा विलासी और अधर्मी था। लेकिन वहाँ का प्रधान मन्त्री बड़ा धार्मिक था जो यह चाहता था कि किसी तरह राजा को किसी साधु का सम्पर्क हो और वह उसकी संगति से सुधर जाय। उसने इस साधु को आते हुये देखा तो उससे राजा के बगीचे में ठहरने को कहा। साधु ने प्रधान की प्रार्थना स्वीकार की और वह उस बगीचे में रहकर अपनी चर्या करने लगा। एक दिन राजा अपनी रानियों को लेकर उस बगीचे में आया और हँसी-मजाक करते हुए एक जगह बैठ गया। बगीचे की ठण्डी और सुगन्धित हवा के स्पर्श से उसे नींद-सी आ गई। रानियाँ उठकर इधर-उधर फिरने लगीं और फिरते-फिरते उनकी नजर उस साधु पर जा गिरी। रानियाँ राजा से कुछ समझदार थीं व साधु के पास आईं और बोलीं—महाराज हमें कुछ धर्म की बातें सुनाइये। साधु

ने अपना ध्यान पूरा किया और रानियों को धर्म का बोध देने लगा। आवाज को सुनकर राजा की नींद खुल गई। उसने सोचा—यह कौन पुरुष है जो मेरी रानियों से मीठी-मीठी बाते कर रहा है ? वह क्रोधित हो साधु के पास आया और बोला—तेरा धर्म क्या है ?

साधु ने कहा—राजन्, मेरा धर्म क्षमा और प्रेम है। राजा ने अपने सिपाहियों को आज्ञा देते हुए कहा—इसके दोनों हाथ काट डालो। सिपाहियों ने हुक्म पाते ही उसके दोनों हाथ काट डाले। तब फिर राजा ने पूछा—बोल तेरा धर्म क्या है ?

साधु ने शान्त स्वर मे कहा—राजन्, मेरा धर्म क्षमा और प्रेम है।

राजा ने पुन सिपाहियों से कहकर उसकी नाक कटवा ली और फिर पूछा—बोल, तेरा शास्त्र क्या है ?

साधु ने कहा—मेरा शास्त्र अहिंसा और मैत्री है। मेरा शास्त्र क्षमा और प्रेम है।

राजा ने उसके पाँव भी कटवा डाले और फिर पूछा बोल, तेरा शास्त्र क्या है ?

साधु ने शान्ति से जवाब दिया—मेरा शास्त्र है क्षमा और प्रेम, अहिंसा और मैत्री।

मनुष्य जब किसी के सामने क्रोध करता है और सामने वाला उसे हजम कर जाता है तो आखिर मे क्रोध करने वाला हार जाता है। राजा भी आखिरकार हार गया और अन्त मे उसके एक लात मारकर वहाँ से चल दिया। बेचारी रानिया भी उस साधु को देखकर पछताती हुई चली गई कि

हमारे निमित्त ही साधु का यह हाल बेहाल हुआ है।

प्रधान ने जब यह सुना तो उसे बहुत दुःख हुआ। वह घबराते हुए साधु के पास आया और दीनतापूर्वक कहने लगा—महाराज! आपको जो कष्ट हुआ है उसका अपराधी राजा ही है। अतः अगर आप शाप दें तो राजा को ही दें मेहरबानी कर देश को नहीं दीजियेगा।

साधु अभी अन्तिम सांस ले रहा था। उसने कहा—भाई, मेरा नश्वर देह तो जाने को ही था। आज नहीं तो कल जाता ही। तुम घबराओ नहीं। तुम्हारा राजा चिरायु हो और ईश्वर उसे सद्बुद्धि प्रदान करे, यही मेरा आशीर्वाद है। हाथ पांव नाक आदि कटा हुआ पुरुष कब तक जीवित रह सकता है? कुछ समय बाद साधु तो मर गया। लेकिन कहने का तात्पर्य इससे इतना ही है कि मनुष्य को कठिन से कठिन स्थिति का सामना भी चाहे क्यों न करना पड़े अपने शुद्ध स्वभाव में तनिक-सी अन्तर नहीं आने देना चाहिये धर्म कभी नहीं तजना चाहिये। क्योंकि धर्म ही मनुष्य का रक्षण करता है और यही मनुष्य का घात भी करता है।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

शुद्ध स्वभाव रखना धर्म ही है अतः इसको समझते हुए मनुष्य का यह फर्ज है कि उसे जो सद्गुण मिले हैं उनकी रक्षा करते हुए उनमें वृद्धि करे और दुष्प्रवृत्तियों का नाश करे। सद्गुणों के अंकुरों को ज्ञान के निर्मल नीर से सींच पुष्ट करे और उनकी वृद्धि करे। अगर हम भी ऐसा करेंगे तो अपना जीवन सुखी कर सकेंगे।

२४ जुलाई १९४९

ग्रौंस सुख प्राप्त करते हैं लेकिन बीमारी में एक मास में ही वे २२ ग्रौंस दुःख मालूम करने लगते हैं। ग्रब हम मास भर के सुख-दुःख का हिसाब लगाव तो ग्रन्त में २२ ग्रौंस दुःख में से ११ ग्रौंस सुख के निकाल देने पर ग्यारहसौ ग्रौंस दुःख ही शेष रहेगा। ग्रब बतलाइये साल भर में कितना सुख उन्होंने जोड़ा ? कुछ नहीं उल्टा दुःख ही बढ़ाया। इसके विपरीत ग्रगर वे बीमार दशा में एक-दूसरे की मदद करते हैं, चौबीसों घंटे बीमार के पास रहते हैं ग्रौर उसका दुःख मिटाने का प्रयत्न करते हैं दवा पिलाते हैं समय पर खाना बना कर देते हैं तो इससे बीमार पुरुष को २ ग्रौंस शारीरिक दुःख ही प्रतीत होता है। वो हजार ग्रौंस दुःख जो कि पहले एक दूसरे की मदद नहीं करने से ग्रधिक होता था वह ग्रब सेवा करने से घटा जाता है। इस तरह ग्रब उन्हें २ ग्रौंस दुःख ही उठाना पड़ता है जब कि मूल ग्यारहसौ ग्रौंस। साल भर के ग्रन्त में इस प्रकार वे सौ-सौ ग्रौंस सुख की बचत कर सकते हैं। ग्रतः ग्रगर विवेक पूर्ण दृष्टि से सोचें तो ग्रपना स्वार्थ दूसरों की सेवा करने में ही निहित है। इसलिये परोपकार करते समय हम दूसरे का हित नहीं करते हैं बल्कि हम ग्रपना ही हित करते हैं।

ग्रमेरिका के प्रेसिडेन्ट इब्राहिमलिंकन एक दिन पालिया-मेंट में जा रहे थे। चलते चलते उन्होंने एक सूग्रर को कीचड़ में फँसा हुग्रा देखा। कोशिश करने पर भी उससे निकला नहीं जा रहा था। प्रेसिडेन्ट ने ग्रपनी मोटर रुकवाई ग्रौर खुद उतर कर उस सूग्रर को कीचड़ से निकाल बाहर किया। कीचड़ में जाने से उनके कपड़े खराब हो गये थे लेकिन वे

हुए थे। जरनिया भी घूमते-घूमते वहाँ आ गया। जब उसने अपने यहाँ इन सब को इकट्ठे हुए देखा तो उसके दिल मे उथल-पुथल होने लगी। उसने उन सब मनुष्यो को लक्ष्य करके चिल्ला-चिल्ला कर कहा—ऐ मनुष्यो! तुम्हारे जैसे चोर, लुटेरे, खूनी और व्यभिचारियो को यहाँ आने की ज़रूरत नही है!! यह मन्दिर तो पवित्रता की खान है, इसलिये यहाँ वही पुरुष आ सकता है जो पवित्र हो। तुम्हारे जैसे अपवित्र पुरुषो के लिये यहाँ स्थान नही है।

जैसे जरनिया ने अपवित्र लोगो को मन्दिर मे आने से मना किया था वैसे अपवित्र पुरुष हमारे स्थानक मे तो कोई नही आते है? क्या आप चोर, लुटेरो मे से तो नही है? मै तो अपने मुँह से आपको ऐसा कहना नही चाहती, लेकिन यह कहना अवश्य चाहती हूँ कि मनुष्य को अपनी आजीविका कैसे चलानी चाहिये?

मनुष्य को अपनी आजीविका चलाने के लिये तीन मार्ग है—पहला भिक्षा माँग कर, दूसरा व्यापार के द्वारा और तीसरा चोरी करके।

भिक्षा—जो साधु अपने जीवन का बलिदान कर अधिक से अधिक दुनिया को देता है और बदले मे कम से कम लेता है, वही सच्चा साधु है और वही भिक्षा माग कर खाने का भी हकदार है। आज जो ७२ लाख साधु हिन्द की भूमि पर अपना जाल विछाये हैं, भिक्षा माग कर खारहे हैं। वस्तुत उन्हें भिक्षा माग कर खाने का हक नही है। ऐसे दिखावटी साधुओं में असली साधु कुछ विरले ही होते हैं। भिक्षा वृत्ति से गुजारा करने वालो में तो ऊँचे से ऊँचे ऐसे समाज-सेवको

रखा जा सकता है ? गांधीजी ने एक बार कहा था—गहने बनाकर तिजोरी में रखना समुद्र में डालने जैसे है समुद्र में डाल देने पर उसका कोई उपयोग नहीं हो सकता है वैसे ही तिजोरी में बंद रखने से भी नहीं होता है।

बन्धुओ हमें मानव शरीर मिला है तो दूसरों की सेवा के लिये ही मिला है। दूसरों का कल्याण करने के लिये अगर फांसी पर भी लटकना पड़े तो आना-कानी नहीं करनी चाहिये। तभी हम भगवान् महावीर के सच्चे उपासक कहे जा सकेंगे।

पैलिस्टाइन में भगवान् महावीर और बुद्ध से भी २ पूर्व जरनिया नाम का एक शान्तिवादी पुरुष हो गया है। वह यह मानता था कि सच्चा यज्ञ किसी के संहार में या घात में नहीं है। वह तो अहिंसा और दया में ही है। भगवान् महावीर और बुद्ध ने भी यही बात कही है लेकिन शान्ति वादी जरनिया ने इनसे भी दो सौ वर्ष पूर्व यही उपदेश पेलेस्टाइन में दिया था।

हर समय ऐसा तो होता ही है कि हिंसा और अहिंसा मोह और त्याग सुख और दुःख पुण्य और पाप दोनों साथ ही रहते है। इस समय भी आज गहनों का मोह है वैसे उस समय भी मनुष्यों को था। छल कपट आदि उस समय भी मौजूद थे। जरनिया को यह सब देखकर बड़ा दुःख होता था। वह एक धर्म-गुरु का लड़का था। अतः एक मन्दिर मे रहा करता था। उस समय मन्दिरों में धार्मिक उत्सव हुआ करते थे। एक दिन उसके मन्दिर में ही धार्मिक उत्सव था और सब लोग जिनमे राजे-महाराजे और बड़े-बड़े श्रीमन्त भी थे इकट्ठे

हुए थे। जरनिया भी घूमते-घूमते वहाँ आ गया। जब उसने अपने यहाँ इन सब को इकठ्ठे हुए देखा तो उसके दिल मे उथल-पुथल होने लगी। उसने उन सब मनुष्यो को लक्ष्य करके चिल्ला-चिल्ला कर कहा—ऐ मनुष्यो! तुम्हारे जैसे चोर, लुटेरे, खूनी और व्यभिचारियो को यहाँ आने की ज़रूरत नही है!! यह मन्दिर तो पवित्रता की खान है, इसलिये यहाँ वही पुरुष आ सकता है जो पवित्र हो। तुम्हारे जैसे अपवित्र पुरुषो के लिये यहाँ स्थान नही है!

जैसे जरनिया ने अपवित्र लोगो को मन्दिर मे आने से मना किया था वैसे अपवित्र पुरुष हमारे स्थानक मे तो कोई नही आते है? क्या आप चोर, लुटेरो में से तो नही हैं? मै तो अपने मुँह से आपको ऐसा कहना नही चाहती, लेकिन यह कहना अवश्य चाहती हूँ कि मनुष्य को अपनी आजीविका कैसे चलानी चाहिये?

मनुष्य को अपनी आजीविका चलाने के लिये तीन मार्ग है—पहला भिक्षा माँग कर, दूसरा व्यापार के द्वारा और तीसरा चोरी करके।

भिक्षा—जो साधु अपने जीवन का बलिदान कर अधिक से अधिक दुनिया को देता है और बदले मे कम से कम लेता है, वही सच्चा साधु है और वही भिक्षा माग कर खाने का भी हकदार है। आज जो ७२ लाख साधु हिन्द की भूमि पर अपना जाल बिछाये हैं, भिक्षा माग कर खारहे हैं। वस्तुत उन्हे भिक्षा माग कर खाने का हक नही है। ऐसे दिखावटी साधुओ में असली साधु कुछ विरले ही होते हैं। भिक्षा वृत्ति से गुज़ारा करने वालो में तो ऊँचे से ऊँचे ऐसे समाज-सेवको

का नम्बर आता है जिनका जीवन ही दूसरों के लिये भारस्वरूप होता है।

दूसरा उपाय है व्यापार—यानी अपनी मेहनत से पैसा कमाना और उसमें से कुछ समाज को भी दे देना। आज सब लोग व्यापार करते हैं लेकिन आपका व्यापार कोई व्यापार थोड़े ही है। वह तो एक तरह की चोरी ही है। व्यापार का अर्थ है नव-सर्जन करना। क्या आप अपने व्यापार से क्या नव-सर्जन करते हैं? अगर कुछ नहीं करते हैं तो फिर आपका व्यापार व्यापार नहीं कहा जा सकता है।

तीसरा उपाय है चोरी—मनुष्य जब बिना कुछ नव-सर्जन किये ही दूसरे की चीजों को छीन लेता है तो उसे चोरी कहते हैं। अब जरा देखिये कि आपका जीवन किस विभाग में आता है? अगर आप नव-सर्जन न कर दूसरे की चीज को छीन लेते हैं तो वह चोरी ही है और ऐसा करने वाले चोर ही हैं। हम त्यागी साधु भी अगर समाज को कुछ दिये बिना या समाज की कुछ सेवा किये बिना ही भिक्षा लेते हैं तो हमारा नम्बर भी आपके साथ रहेगा यानी तीसरे साधन में ही आवेगा। साधु लोग भी अगर अपनी साधुवृत्ति को समझे बिना मठों में भाग-गांजा पीते रहें और चरस तथा तमाखू का धूआँ उड़ाते रहें तो क्या वह चोर नहीं कहे जावेंगे? रोम्याँ रोलाँ ने कहा है—

The less I have the more I am.

'मेरे पास जितना ही अभाव है उतना ही मैं सम्पन्न हूँ। अर्थात्—मनुष्य के पास जितनी सम्पत्ति—जड़ वस्तु कम होगी उसे उतना ही आगे बढ़ा हुआ समझना चाहिये।

जरनिया ने जब सबसे कहा कि "आप सब बडे-बडे राजे-महाराजे, सेठ-श्रीमन्त लोग हैं, लेकिन आपकी काली करतूतो के साक्षी तो मन्दिर के बाहर बैठे हुए अनाथ बाल-बच्चे हैं, जिनके तन पर न वस्त्र है और न पेट भरने को रोटी का एक टुकडा ही है। तुमने इतना पैसा कहाँ से इकट्ठा किया ? चोरी कर, इन गरीबो को लूट कर और उनका खून करके ही तो तुमने इतना पैसा इकट्ठा किया है ? इसलिये निकल जाओ मेरे इस मन्दिर से ! तुम्हारे जैसे खूनियो के लिये और तुम्हारे जैसे चोर उचक्को के लिये मेरा यह मन्दिर नही है।" जरनिये ने जैसा कहा, सच कहा था। वैसा ही आज हमको कहना है। लेकिन कहे कौन ? कहने की ताकत भी तो होनी चाहिये। अत ऐसा कहने से पूर्व मनुष्य को अपनी आत्म-शुद्धि कर लेनी चाहिये। तभी वह यह कह सकता है या कहने का अधिकारी बन सकता है।

हिन्दुओ में तेतीस करोड देवता होते हैं, लेकिन जब तक अपने में विश्वास न हो तब तक उन तेतीस करोड देवताओ को मानने से भी क्या लाभ हो सकता है ? अत मनुष्य को अपनी श्रद्धा दृढ बनानी चाहिये, विश्वास पर कायम रहना चाहिये। भगवान् महावीर ने कहा है—'सद्धा परम दुल्लहा'-श्रद्धा बडी दुर्लभ है। लेकिन आज हमें भगवान् की वाणी पर भी तिल भर विश्वास नही है। उन्होने तो हमसे साफ-साफ कहा हैं कि यदि तुम्हारे शुभ कर्मों का उदय है तो तुम्हे तिल भर भी कोई दुख नही पहुँचा सकता, लेकिन यदि अशुभ कर्मों का उदय है तो इन्द्र भी तुम्हे सुखी नही कर सकता। क्या हमे इस वाणी पर विश्वास है। आज तो हमे शैतान का

विश्वास हो गया है जैसे रूपी शैतान से हम सुख की इच्छा रखते हैं धर्म रूपी देव स नहीं।

वरनिया ने कहा—चले जाओ इस मन्दिर से ! तुम सब शैतान की फौज हो ! इसे सुनकर राजे महाराजे और श्रीमन्त लोग तो घबराये ही साथ ही धर्म गुरु भी घबरा गये। क्योंकि धर्म गुरु भी तो अपना कर्तव्य भूल कर श्रीमन्तों को खुश करने में ही अपना कर्तव्य समझ बैठे थे। बन्धुओ आज भगवान् महावीर भी यदि हमारे धर्म-स्थानक में आवें और कहें कि जो पैसा इकट्ठा करके धर्मवान बने हैं वे धर्मवान नहीं हैं ऐसे लोग निकल जावें स्थानक से तो क्या आप उस महावीर का आदर करेंगे ? कहीं आप यह तो नहीं कहेंगे कि हमें ऐसा महावीर नहीं चाहिये।

वरनिया की बात सच्ची थी जिसे सुनकर धर्म गुरुओं और राजाओं में खलबली मच गई। धर्म गुरु ने वरनिया को मारने के लिये जहर भी पिलाया लेकिन 'जाको राखे साइयां' उसको कौन मार सकता है ? वरनिया जहर पीकर भी बच गया। स्वामी रामतीर्थ ने लिखा है—एक दिन एक राजा ने एक मनुष्य को कैद किया और कहा—तू मुझे हाथ जोड़। मनुष्य ने कहा—मैं तुम्हें अपने हाथ नहीं जोड़ सकता। राजा ने कहा—मैं तुझे मार डालूंगा। मनुष्य ने कहा—भले ही मार डालो लेकिन तुम मेरी आत्मा को नहीं मार सकते। गीता में कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

तुम मेरे शरीर को जला सकते हो काट सकते हो लेकिन मेरी आत्मा को नहीं मार सकते। बन्धुओं यही बात आज

हमें भी पूरी-पूरी मान लेनी चाहिये। ऐसी दृढ श्रद्धा जरनिया को भी थी। वह ज़हर दिये जाने पर भी नही मरा और सारे देश मे घूम-घूम कर अपनी बातो का प्रचार करने लगा।

दूसरी बार जब पैलिम्टाइन मे उत्सव हुआ तो वह वहाँ एक मिट्टी का घडा लेकर गया और जहाँ सब लोग इकट्ठे हुए थे वहाँ जाकर उसे फोड दिया। घडे के फूटने से जब लोगो का ध्यान उसकी तरफ आकर्षित हुआ तो उसने कहा—'लोगो, अब भी चेतना चाहो तो चेतो, नही तो तुम्हारी हालत भी घडे जैसी ही होगी।' राजा ने उसे पागल समझ कर कैद कर लिया लेकिन कुछ समय बाद उसे पुन छोड दिया गया।

कुछ दिनो बाद जब पेलेस्टाइन ने बेबीलोन से युद्ध करना चाहा तो जरनियाँ ने इसका घोर विरोध किया। उसने घूम-घूम कर लोगो को समझाया कि "दुनिया में तलवार नही होनी चाहिये, दुनियाँ में बदूक नही होनी चाहिये, होनी चाहिये अहिंसा और प्रेम की पावन वृत्ति।" लडाई करनेवाले भला इस उपदेश को कैसे सह सकते थे? उन्होने जरनिया को एक अधेरे कुँए मे बन्द कर दिया। आखिरकार पैलिस्टाइन और बेबीलोन मे युद्ध हुआ और पैलिस्टाइन की हार होने लगी, तब जरनिया ने पुन राजा से कहा कि "अब भी तुम सन्धि कर लो और शान्ति का मार्ग खोजो।" राजा ने उसे कीचड में फेंकते हुए कहा—"नालायक, तेरे कहने से ही हम हार रहे हैं।" जरनिया वहाँ से भी बच निकलता है। लेकिन अन्त में पेलेस्टाइन हार जाता है और राजा के सामने ही उसके परिवार को कत्ल कर दिया जाता है। बेबीलोन के राजा ने जब जरनिया के विचार सुने तो उसने जरनिया को बुलाया और किसी बडे पद पर नियुक्त

करने को कहा। वरनिया ने कहा— राजन् मुझे तुम्हारे जैसे खूनियों के यहाँ रह कर उच्च पद पर बैठने का मोह नहीं है। इस तरह वह अपने मत का प्रचार करता रहा। बन्धुओ आज के अणु-बम के जमाने में भी वरनिया का उपदेश कितना महत्व-पूर्ण है? आज के जमाने में भी हमें उसके उपदेश का आचरण करना चाहिये।

आज के जमाने में मनुष्य साध्य को भूल कर साधन को ही साध्य मान बैठा है। बम्बई के जैन युवक-संघ ने जब टैक्स कमेटी के सामने यह कहा कि देव-द्रव्य का उपयोग समाज के अन्य कार्यों के लिये भी होना चाहिये तो इस पर कुछ लोगो ने कहा कि ऐसा कहने वालों को जैन-समाज से ही निकाल फेंकना चाहिये। यह कैसी विचित्र बात है? अरे बाहर निकालने वालो जरा यह तो सोचो कि तुम कितने समाज के मेम्बर हो? जो भला खुद ही जैन-संघ मे रहने लायक न हो वह दूसरो को बाहर निकालने का क्या हकदार है?

मनुष्य अपने कर्तव्यों की तरफ सतत जागृत रहे वरनिया की तरह स्पष्ट विचारो वाला बने और अपना जीवन अमरवत्ती जैसा बनावे तो वह अपने जीवन को सार्थक कर सकता है।

२१ जुलाई १९४९

६

चरित्र को निर्मल बनाइए

हिन्दू धर्म सृष्टि को ईश्वर की बनाई हुई कहता है और उसकी मान्यतानुसार एक ऐसी कथा है कि जब ईश्वर ने सारी सृष्टि बनाई तब उसने किसी भी वस्तु की कमी नही रहने दी। मनुष्य को जो चाहिये था, वह सब उसने उत्पन्न किया। उत्पन्न की हुई वस्तुओ को क्या-क्या करना है ? यह समझाते हुए उसने सब वस्तुओ को अपना-अपना काम बताया। उसने नदियो को कहा—"तुमको निरन्तर बहते ही रहना चाहिये। तुम्हारा काम अपने आस-पास की भूमि को हरी और उपयोगी करना हैं। पानी पीने वाला भले ही तुम्हारा पानी गदा कर जाय, पर तुम्हे उसको पानी पिलाते रहना चाहिये।" सृष्टि कर्तृत्त्व की कल्पना भले ही झूटी हो, लेकिन नदियो का जो स्वभाव है या उन्हे जो प्रकृति ने या ईश्वर ने आदेश दिया है उसका उल्लघन उन्होने आज तक नही किया। वे बराबर ईश्वर की आज्ञा का पालन करती हुई अविराम गति से वह ही रही हैं।

ईश्वर ने समुद्र को आज्ञा देते हुए कहा—" तू अपनी मर्यादा का उल्लघन मत करना " आज हम देखते है कि समुद्र इस आज्ञा का कैसा पालन कर रहा है ? वह कभी अपनी मर्यादा

नहीं छोड़ता है। मगर वह ईश्वर की इस आज्ञा का उल्लंघन करदे और मर्यादा को छोड़ दे तो सृष्टि में प्रलय मच जाय। लेकिन वह अपनी प्रतिज्ञा पर आरूढ़ है।

ईश्वर ने सूर्य को कहा– तू तपा कर और दुनिया को प्रकाश दिया कर। सूर्य मनुष्यों को गरमी और प्रकाश देकर दुतरफी सेवा करता है मगर, वह गरमी न दे तो क्या हम अपनी गरमी सुखा सकेंगे ? ईश्वर ने उसको जो आज्ञा दी है उसका वह तिल भर भी उल्लंघन नहीं करता है। रोज सुबह ठीक समय वह तो उदित हो ही जाता है।

आकाश के तारों से कहा–तुम रात को चमका करो। वृक्ष से कहा–तुम तपे हुए मनुष्यों को छाया प्रदान करो फूल से कहा–तुम मीठी-मीठी सुगन्ध देना। फल से कहा– तुम मनुष्यों की भूख शान्त करना। इस प्रकार उसने जिस जिस को आदेश दिया वे सब अपनी-अपनी आज्ञा का पालन कर रहे हैं। आप वृक्ष पर पत्थर फेंकें लेकिन वह तो आपको सुहावनी छाया ही देगा। पत्थर के बदले फल ही देगा। ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन कभी नहीं करेगा। उसने मनुष्य को आदेश देते हुए कहा– 'तू मेरा स्मरण करना और अपने चरित्र को पवित्र रखना' अब विचारना यह है कि दुनिया के कितने मनुष्यों ने इस आदेश का पालन किया और उल्लंघन कितनों ने किया ? ये जड़ वस्तुएँ भी जब अपना स्वभाव नहीं छोड़तीं तब मनुष्य नाम का समझदार प्राणी अपने स्वभाव को क्यों छोड़े ? मनुष्य अगर ईश्वर की आज्ञा का पालन करे तो वह सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। लेकिन यदि वह उसका उल्लंघन करे तो उससे हीन भी दूसरा कोई नहीं है। मनुष्य को सोचना यह है

कि 'मेरा धर्म क्या है ?' ईश्वर ने उससे कहा है–तू मेरा स्मरण करना और अपने चरित्र को निर्मल रखना।

मनुष्य सडास जाने मे, स्नान करने मे, चाय पीने मे और रेडियो सुनने मे जितना समय देता है, उतना समय क्या वह ईश-स्मरण मे भी देता है ? अधिक तो जाने दीजिये, क्या वह सडास जाने में जितना भी समय देता है ? दिवस मे क्या वह पाव घटा भी स्थिर बैठ कर यह सोचता है कि मेरा कर्तव्य क्या है ? और नही सोचता है तो वह ईश्वर का गुनाह करता है न ? उसे कुछ समय के लिये अवश्य स्थिर होकर ईश-स्मरण करना चाहिये।

ईश्वर ने दूसरी आज्ञा दी–,तू अपने चारित्र को निर्मल रख।' हम जो-जो अच्छा देखें और सुने उसे अपने जीवन मे उतार लें, यही चारित्र का सीधा सा मतलब यहाँ लेना चाहिये। गृहस्थ का भी चारित्र है और साधु का भी, जिसे भगवान् महावीर ने आगार धर्म और अनगार धर्म के नाम से कहा है। लेकिन हमने तो आज चारित्र का मतलब ही दूसरा समझ रखा है। कुछ नही करना और चुपचाप बैठे रहना, इसी को चारित्र समझ लिया है जो कि बिल्कुल गलत है। अमुक तरह के कपडे पहन कर अमुक सम्प्रदाय मे दीक्षित हो जाना भी चारित्र का मतलब नही है। चारित्र का मतलब है अहिंसा और सत्य का पालन करना। गृहस्थ का चारित्र यह है कि उसे प्रामाणिक रूप से अपनी आजीवका करनी चाहिये। किसी को सताना नही चाहिये। आजीविका-शुद्धि के अभाव मे दूसरी सब शुद्धियाँ नही हो सकेगी। क्योकि आजीविका-शुद्धि से ही आहार-शुद्धि होती है और आहार-

बुद्धि से चित्त और मन की शुद्धि होती है। २।

एक गृहस्थ था जो हीरा-जवाहरात का धंधा करता था। किसी दिन मनुष्य की स्थिति अच्छी होती है तो किसी दिन खराब भी हो जाती है। क्योंकि रात के बाद दिन और दिन के बाद रात तो आती ही है। अतः मनुष्य को दुःख से घबराना और सुख से प्रसन्न नहीं होना चाहिये। लेकिन दोनों ही अवस्था में समभाव रखना चाहिये। गीता में स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुए कहा है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

'दुःख में जो मन को उद्विग्न नहीं होने देता और सुख में मोह नहीं करता है तथा जिसका राग-द्वेष चला गया है उसको ही सच्चा मुनि कहना चाहिये। अतः मनुष्य के जीवन में कठिन से कठिन समय भी क्यों नहीं आवे वह उसे क्षणिक समझ कर सहन करे घबरावे नहीं। अच्छी से अच्छी हालत में भी अगर वह हो तो उसे भी क्षणिक समझे और अधिक से अधिक उस स्थिति से लाभ उठाये। मनुष्य को सुख और दुःख में हँसना और मुरझाना नहीं चाहिये।

उस गृहस्थ का धंधा भी बहुत चलता था लेकिन दुर्भाग्य से उसके भी बुरे दिन आये और एक दिन उसे बहुत नुकसान उठाना पड़ा। सेठ के घर में उसकी पत्नी और एक लड़का था जिसका नाम था नवीन। व्यापार में घाटा होने से सेठ को बहुत चोट पहुँची और उसका हार्टफेल हो गया। मरने से पहले सेठ ने अपनी पत्नी को एक नीलम देकर कहा था—यह नीलम है इसे संभाल कर रखना और जरूरत हो तब काम में

लाना। सेठ के गुजर जाने पर जब उसके घर का खर्च भी मुश्किल से चलने लगा तो एक दिन सेठ की पत्नी ने अपना नीलम देते हुए अपने पुत्र नवीन से कहा—बेटा, यह लेकर तू अपनी पेढी पर जा और अपने मुनीम प्रेमचन्दजी से कहना कि मेरी माँ ने यह नीलम बेचने को कहा है। नवीन मुनीम के पास गया और उसे नीलम देते हुए अपनी माँ की बात कह सुनाई। मुनीम नीलम देखकर विचार मे पडा। थोडी देर बाद उसने नवीन से कहा—बाजार के भाव मन्दे है, अत अभी इसे बेचना ठीक नही है। लो, यह ले जाओ और अपनी माँ को दे देना। नवीन ने कहा—काका, घर मे तो खाने को नही है। अत जिस भाव भी बिके इसे बेच दीजिये। तब मुनीम ने कहा—तुम दुकान से पाँच-सौ रुपये ले जाओ और अपने घर का काम चलाओ। लेकिन कल से अब तुम्हे रोज-रोज अपनी दुकान पर आकर बैठना चाहिये। नवीन ने कहा—काका, मै कुछ समझता तो हूँ नही, फिर आने से क्या लाभ होगा ? मुनीम ने कहा—मै भी जब आया था, तब तुम्हारी ही तरह कुछ नही समझता था। लेकिन तुम्हारे पिताजी की कृपा से सब कुछ समझने लग गया। तुम्हारे पिता जी आज नही रहे हैं, पर यह दुकान अपनी ही समझो और रोज़-रोज यहाँ आकर बैठा करो। नवीन अब रोज़-रोज़ दुकान पर जाने लगा। धीरे-धीरे उसकी नज़र जमती गई और एक दिन ऐसा आया कि प्रेमचन्द ने सारी व्यवस्था ही नवीन को सौंप दी। अन्त मे नवीन की स्थिति ऐसी हो गई कि वह पुन लखपती बन गया।

कुछ दिनो बाद जब नवीन जवाहरात का पारखी हो गया

शुद्धि से चित्त और मन की शुद्धि होती है।

एक गृहस्थ था जो हीरा-जवाहरात का धंधा करता था। किसी दिन मनुष्य की स्थिति अच्छी होती है तो किसी दिन खराब भी हो जाती है। क्योंकि रात के बाद दिन और दिन के बाद रात तो आती ही है। अतः मनुष्य को दुःख में घबराना और सुख से प्रसन्न नहीं होना चाहिये। लेकिन दोनों ही अवस्था मे समभाव रखना चाहिये। गीता में स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुए कहा है–

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थित–धीर्मुनिरुच्यते॥

'दुःख में जो मन को उद्विग्न नहीं होने देता और सुख में मोह नहीं करता है तथा जिसका राग-द्वेष चला गया है उसको ही सच्चा मुनि कहना चाहिये। अतः मनुष्य के जीवन में कठिन से कठिन समय भी क्यों नहीं आवे वह उसे क्षणिक समझ कर सहन करे घबरावे नहीं। अच्छी से अच्छी हालत मे भी अगर वह हो तो उस भी क्षणिक समझे और अधिक से अधिक उस स्थिति से लाभ उठावे। मनुष्य को सुख और दुःख में हँसना और मुरझाना नहीं चाहिये।

उस गृहस्थ का धंधा भी बहुत चलता था लेकिन दुर्भाग्य से उसके भी बुरे दिन आये और एक दिन उसे बहुत नुकसान उठाना पड़ा। सेठ के घर में उसकी पत्नी और एक लड़का था जिसका नाम था नवीन। व्यापार में घाटा होने से सेठ को बहुत चोट पहुँची और उसका हार्टफ़ेल हो गया। मरने से पहले सेठ ने अपनी पत्नी को एक नीलम देकर कहा था–यह नीलम है इसे संभाल कर रखना और जरूरत हो तब काम में

लाना। सेठ के गुजर जाने पर जव उसके घर का खर्च भी मुश्किल से चलने लगा तो एक दिन सेठ की पत्नी ने अपना नीलम देते हुए अपने पुत्र नवीन से कहा—बेटा, यह लेकर तू अपनी पेढी पर जा और अपने मुनीम प्रेमचन्दजी से कहना कि मेरी माँ ने यह नीलम वेचने को कहा है। नवीन मुनीम के पास गया और उसे नीलम देते हुए अपनी माँ की वात कह सुनाई। मुनीम नीलम देखकर विचार मे पडा। थोडी देर वाद उसने नवीन से कहा—वाज़ार के भाव मन्दे हैं, अत अभी इसे वेचना ठीक नही है। लो, यह ले जाओ और अपनी माँ को दे देना। नवीन ने कहा—काका, घर मे तो खाने को नही है। अत जिस भाव भी बिके इसे वेच दीजिये। तव मुनीम ने कहा—तुम दुकान से पाँच-सौ रुपये ले जाओ और अपने घर का काम चलाओ। लेकिन कल से अव तुम्हे रोज़-रोज़ अपनी दुकान पर आकर बैठना चाहिये। नवीन ने कहा—काका, मै कुछ समझता तो हूँ नही, फिर आने से क्या लाभ होगा ? मुनीम ने कहा—मैं भी जव आया था, तव तुम्हारी ही तरह कुछ नही समझता था। लेकिन तुम्हारे पिताजी की कृपा से सव कुछ समझने लग गया। तुम्हारे पिता जी आज नही रहे है, पर यह दुकान अपनी ही समझो और रोज़-रोज यहाँ आकर वैठा करो। नवीन अव रोज़-रोज़ दुकान पर जाने लगा। धीरे-धीरे उसकी नज़र जमती गई और एक दिन ऐसा आया कि प्रेमचन्द ने सारी व्यवस्था ही नवीन को सौंप दी। अन्त मे नवीन की स्थिति ऐसी हो गई कि वह पुन: लखपती वन गया।

कुछ दिनो वाद जव नवीन जवाहरात का पारखी हो गया

तब प्रेमचन्द मुनीम ने उससे कहा—नवीन अब बाजार के भाव कुछ ठीक हैं इसलिए अपना वह नीलम जिसे तुमने मुझे पहले लाकर दिया था बेचा जा सकता है। नवीन ने नौकर को भेज कर वह नीलम मँगाया और उसे मुनीम को दिया। प्रेमचन्द ने उसे देखकर नवीन से कहा—इसकी जाँच करो यह नीलम कितने रुपयों का है ? नवीन ने उसे देखा तो देखकर नीचे फेंक दिया और मुनीम से कहा—काका यह तो काँच का टुकड़ा है ! मुनीम ने कहा—बेटा मैंने तो उसी दिन इसे काँच का टुकड़ा समझ लिया था लेकिन अगर मैं उसी दिन तुम्हें काँच का टुकड़ा कह देता तो तुम्हारा विश्वास मुझ पर नहीं रहता। वे दिन ही ऐसे थे कि जब तुम मेरी बात का भरोसा नहीं करते। लेकिन आज जब तुम जौहरी बन गये हो तो नीलम और काँच की पहचान कर सकते हो।

बन्धुओ ! मनुष्य भी अपनी क्षणिक (अस्थिर ,वस्तुओं के मोह में आकर उन्हें नीलम की तरह समझ लेता है लेकिन जब वे उसे काँच की तरह दिखलाई देने लग जाती हैं तो वह भी उन्हें फेंक देता है। भगवान् महावीर और बुद्ध ने ऐसा ही किया था।

मुनीम ने अपनी प्रामाणिकता और अपने कर्त्तव्य का पालन किया तो सेठ के लड़के का जीवन सुधार दिया। उसी तरह मनुष्य भी अगर अपना कर्त्तव्य समझे और अपनी भूलों को सुधारे, तो वह भी कुछ उन्नति कर सकता है। लेकिन जब मनुष्य अपने हिताहित को भूल जाता है तो वह दुनिया के भौतिक पदार्थों को भी नीलम की तरह समझ बैठता है। हमारी स्थिति तो ऐसी है कि हम आज एक आने में भी अपना सरम बेच देते हैं। ऐसी शोचनीय स्थिति आज हमारी हो गई

है कि एक आने के खातिर भी सत्य को बेचकर- नीलम को बेचकर-काच का टुकडा लेने मे नही हिचकिचाते है ? अत मनुष्य को अगर मानव बने रहना है तो उसको ईश्वर ने जो आदेश दिया है --तू अपना चारित्र पवित्र रख--इसका पालन करना चाहिये । काम, क्रोध, मद, लोभ की चाडाल चौकडी को वश में करना ही चारित्र का आचरण करना है और यही चारित्र साधुओ के लिये भी है । मेरु के समान रजोहरण और मुंहपति के ढेर भी क्यो न कर दिये जायँ, पर जब तक कषाय की मात्राओ को कम नही किया जाय, उसका कोई महत्त्व नही है । अत कषायादि मात्राओ को कम करना ही चारित्र है । और इसी का खरा महत्त्व भी है ।

प्रामाणिकता मे भी लोभ कषायादि की मात्रा कम करनी पडती है । बिना लोभादि कषायो को छोडे प्रामाणिकता नही आसकती है । अत इसे हमने चारित्र का मूल पाया माना है और इसी कारण इस पर अधिक ज़ोर दिया गया है ।

चारित्र के अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच मूल अग हैं । सबसे पहला अग है अहिंसा । किसी की भी हिसा नही करना, अहिसा है । लेकिन मनुष्य का हर एक काम हिसा के बिना नही होता है । खाने मे, पीने मे, बैठने मे, चलने मे, इत्यादि सब जगह हिंसा तो होती ही है । तब फिर अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है यह एक सवाल खडा हो जाता है । अग्रेजी मे भी कहा है--Living is-killing जीने के लिए सहार करना पडता है ।

और सस्कृत मे कहा है "जीवो जीवस्य जीवनम्"— जीव, जीव का जीवन है, अर्थात् भोजन है । और यह

सच भी है। प्रमाद के जीवों को खाकर ही मनुष्य जीता है। इसी को (Living is killing) जीना मारना है कहा है। अगर हम ऐसा ही समझ कर बैठे रहे तो फिर हम अहिंसा का पालन कैसे कर सकते? अतः हमें विवेक से सोचना चाहिये कि Killing least is Living best अर्थात् कम हिंसा करना ही अधिक से अधिक जीवन को अहिंसामय बनाना है। आप अल्पारम्भ से तो नहीं बच सकते हैं लेकिन महारंभ से तो बच सकते हैं? आप मील के कपड़े पहनते हैं लेकिन उनको छोड़कर खादी के कपड़े पहनते है, और इसी तरह अहिंसामय जीवन यापन कर सकते हैं यानी महारम्भ से अल्पारंभ की ओर प्रवृत्ति कर सकते हैं। आपका जीवन भी इसी मार्ग पर चलना चाहिये। भगवान् महावीर ने कहा है—महारम्भी और महापरिग्रही को कभी भी धर्म का स्पर्श नहीं हो सकता है। आज के मिल मालिक महारम्भी और महापरिग्रही हैं अतः हजार प्रयत्न भी क्यों न करें उन्हें धर्म कभी स्पर्श भी नहीं कर सकता। एक भाई ने पूछा कि भगवान् महावीर के समय में खादी कब थी? मैंने कहा—उस समय तो खादी ही सब लोग पहनते थे मिल के कपड़े तो थे ही नहीं। अतः मनुष्य को अल्पारंभी होकर अपना जीवन उन्नत बनाना चाहिये।

मनुष्य अपने पैरों की रक्षा के लिये जूते पहनते है, लेकिन क्या आपने जूते पहनते समय यह भी सोचा है कि वे जूते मरे हुए प्राणियों के चमड़े के हैं या जिन्दे प्राणियों को मारकर बनाये गये है। गृह-उद्योग की सब चीजें मरे हुए प्राणियों की बनाई जाती हैं लेकिन जो वस्तुएं जीवित प्राणियों को मार

करबनाई जाती हैं उनमें और ग्रह-उद्योग की चीजो में कितना अन्तर होता है ? ग्रह-उद्योग की चीजें अल्पारभी होती है जब कि दूसरी सब चीजे महारभी होती है । अत मनुष्य को हर एक चीज का उपयोग करने से पहले अल्पारभ और महारभ का विचार अवश्य करना चाहिये । इसीलिये ईश्वर ने प्रारभ मे ही मनुष्य को आदेश दिया कि "तू मेरा स्मरण करना और अपने चरित्र को निर्मल रखना" लेकिन मनुष्य ने और सब कुछ किया, पर इन दो बातो का पालन नही किया । अब बताइये, उसे ईश्वर-भक्त कहा जाय या और कुछ ?

मनुष्य का चारित्र अहिंसा के पाये पर खडा हुआ है, अत मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अहिंसा का पालन करे और अपने विकारो को त्याग कर जीवन का उत्थान करे । उसका प्रथम और चरम लक्ष्य तो यह होना चाहिये कि उसे जो ईश्वरीय तत्त्व प्राप्त है उसका पालन करते हुए वह अपने मानव जीवन को सफल करले ।

२६ जुलाई, १९४९

७

अहिंसा

मनुष्य में दूसरे प्राणियों की अपेक्षा प्रज्ञा की विशेषता है। बुद्धि दूसरे प्राणियों में भी होती है लेकिन मनुष्य में जो प्रज्ञा होती है जिससे कि वह अपने ज्ञान में वृद्धि करता है इसका पशुओं में अभाव होता है। पचास वर्ष पूर्व हाथी जैसे जंगल में झुण्ड बनाकर रहते थे वैसे आज भी रहते हैं। पक्षी जिस तरह पहले घोंसले बनाते थे वैसे आज भी बनाते हैं। लेकिन अपने पूर्व अनुभवों से आगे बढ़ने की शक्ति पशु अथवा पक्षियों में नहीं है। यह शक्ति मानव में है जिसे कि हम प्रज्ञा कहते हैं। लेकिन जैसे-जैसे मनुष्य की प्रज्ञा बढ़ती जाय वैसे-वैसे उसी परिणाम में यदि अहिंसा न बढ़े तो वह प्रज्ञा तारक के बदले मारक (घातक) बन जाती है। उद्धारक के बदले घातक सिद्ध होती है। विज्ञान आज बहुत बढ़ा है लेकिन उसके साथ अहिंसा नहीं बढ़ी। अतः आज वह उद्धारक के बजाय संहारक बन गया है। अगर उसमें अहिंसा या दया का भी संबंध न होता तो वह आज संहारक के बजाय संरक्षक होता है।

अहिंसा चारित्र का सबसे पहला धर्म है। अहिंसा इतनी व्यापक चीज है कि उसे सर्व प्रथम स्थान मिला है। पापों में जैसे हिंसा सबसे खराब कही गई है वैसे चारित्र में अहिंसा

सबसे अच्छी मानी गई है। अहिंसा का सीधा सा अर्थ हम यह करते हैं कि किसी भी प्राणी का वध नही करना। जीना सबको प्रिय है और मरना कोई नही चाहता, अत किसी का घात नही करना चाहिये। घात से मतलब किसी प्राणी को जान से मार डालना ही नही है, लेकिन किसी काम से अगर दूसरो को दु ख होता हो तो वह भी हिंसा ही है। अहिंसा का हमारे देश मे ही नही, विदेशो मे भी बहुत प्रचार था। ग्रीस मे भगवान् महावीर से पहले भी जेनो नामक एक ऐसे तत्त्ववेत्ता हो गये हैं, जो अपने शरीर मे कीडे पड जाने पर भी मरने के भय से उन्हे नही निकालते थे। वे कीडे गिर भी जाते तो वे उन्हे वापिस डाल लेते थे। इस तरह अहिंसा को सभी देशो के धर्मों ने माना है और उसे जीवन मे सर्वोपरिस्थान भी दिया है।

Thou shalt not kill—तू किसी को मारना नही। बाइबिल की दस आज्ञाओ मे से यह एक आज्ञा है। इसी तरह हिन्दू आदि अन्य धर्मों ने भी अहिंसा को माना है। जैसे कि—

"मा हिंस्यात् सर्वभूतानि"

किसी को भी दु ख देना हिंसा है और कष्ट नही देना अहिंसा है। यह अहिंसा की बाजू है। आज की दुनियाँ मे मनुष्य पशु-पक्षी की हत्या बचा सकता है, लेकिन वह मनुष्य की रक्षा नही कर सकता। कैसी आश्चर्यजनक बात है? हमारे सामने आये हुए मनुष्य से हम कैसा व्यवहार करते हैं? उससे उसे दु ख होता है या नही? यह विचारणीय बात है। अगर उसे दु ख होता है तो हम अहिंसा के पालन कर्ता नही कहे जा सकते हैं। जो कीडे-मकोडो की दया पालता

है लेकिन मनुष्य पर दया नही करता है तो उसकी वह अहिंसा वदि-मात्र अहिंसा है। आप आज मांस खाना बुरा (पाप) समझते हैं और उसके लिए यदि कोई एक लाख रुपया भी दे तब भी आप मांस नही खायेंगे। आप लाख रुपये छोड़ देंगे पर मांस का एक टुकड़ा भी अपने मुँह में नहीं लेंगे। लेकिन यदि झूठ बोलने से आपको दो पैसे भी मिलते होते तो क्या आप झूठ नही बोलेंगे? मांस नहीं खाना यह हमारे हृदय मे परम्परा से दृढ़ संस्कार हो गया है जिसके कारण हम लाख रुपया भी छोड़ देंगे पर मांस नही खायेंगे लेकिन भाव मयी अहिंसा के अभाव में हम दो पैसा लेकर भी झूठ बोलने को तैयार हो जायेंगे। यह कैसी विपरीत स्थिति आज हमारी हो गई है तनिक विचार तो कीजिये? अतः हमें अपने जीवन मे भाव-अहिंसा का पालन करना चाहिये। आज हम चींटी की रक्षा कर सकते हैं पर मनुष्य की रक्षा नही कर सकते जिसकी रक्षा करना ही मनुष्य का प्राथमिक कर्त्तव्य (धर्म) है।

अहिंसा के पाँच अतिचार हैं। जिनमें पहला है—बन्ध यानी किसी पशु को बन्धन से बाँधना। लेकिन इससे पूर्व सोचना यह है कि आप अपने नौकर को तो कहीं बाँधा हुआ नहीं रखते हैं। एक मनुष्य अपनी ग़रीबी से आपके यहाँ नौकरी करने आता है पर उसकी ग़रीबी का दुरुपयोग करना तो अधर्म ही है। आप उससे ६ घण्टे के बजाय ९ घण्टे का काम लें तो यह भी एक तरह का बन्धन ही है। अतः केवल पशु को बाँधना ही अतिचार नही है लेकिन मनुष्य को बाँधने में भी अतिचार समझना चाहिये।

दूसरा अतिचार है—वध यानी मारना। पशु की तरह मनुष्य

को मारना भी अतिचार है। 'वध' का मतलब वृत्तिच्छेद भी है। वृत्तिच्छेद यानी किसी भी काम से किसी की आजीविका छीनना भी अतिचार है।

आप मील के कपडे पहनते है, लेकिन क्या कभी आपने सोचा भी है कि इससे गृह-उद्योग से काम करने वाले कितने व्यक्तियो का वृत्तिच्छेद होता होगा ? मील का एक ही व्यक्ति १४९ चर्खे पर सूत कातने वालो की रोजी छीन लेता है। मील के वने हुए कपडे पहिनने वाले कहते है कि हम मील के तैयार किये हुए कपडे पहिनते हैं। चीन के वौद्धो को छोडकर जापान आदि के वौद्ध माँस खाते है। वे अपने हाथ से मार कर तो नही खाते हैं, लेकिन सीधा मिला हुआ खा लेते हैं। कोई उनसे पूछे कि तुम अहिंसक होकर भी माँस कैसे खाते हो ? तव वे उत्तर देते हैं, हम अपने हाथ से किसी को मार कर मास थोडे ही खाते हैं। हमे तो तैयार मिलता है और वही हम खाते है। इसी तरह हमारे भाई भी मील का वना वनाया कपडा ले लेते हैं और यह कहते हैं कि मील ने हमारे लिये कपडा थोडे ही वनाया है ? लेकिन उनकी यह दलील विल्कुल निस्सार है। आज साधु भी यही सोच कर मील के कपडे ले लेते हैं कि यह हमारे लिये थोडे ही वने हैं। लेकिन जैसे वौद्ध लोग यह दलील देते हैं कि हमारे लिये पशुओ को थोडे ही मारा जाता है ? हमें तो तैयार मिलता है और वही हम लेते भी हैं। क्या हमारी और वौद्धो की दलील मे कुछ अन्तर है ? तनिक गौर से सोचिये तो आपको मालूम होगा कि दोनो की ही दलील विल्कुल निस्सार है। मास खाने वालो के लिये ही मास और कपडा पहनने वालो के लिये ही कपडे वनाये जाते हैं। किसी को उल्टा

थोड़े ही सूमता है कि किसी को जरूरत न हो तब भी यह चीज बनाकर दे। अतः बौद्धों का यह कहना कि हमतो बना बनाया मांस खाते हैं और हमारा यह कहना कि मील के कपड़े हमारे लिये थोड़े ही बनते हैं दोनों ही दोष के पात्र हैं। अतः किसी भी तरह बंध के अतिचार से बचना चाहिये।

तीसरा अतिचार है छविच्छेद—यानी किसी के चमड़े का छेदन करना। आप यदि बिना किसी कारण के नौकरों की मजदूरी काट लेते हैं या कम कर देते हैं तो यह भी छविच्छेद नामक अतिचार में सम्मिलित हो जाता है। अतः इससे भी मनुष्य को बचना चाहिये।

अतिभार—गाडी में अधिक भार भरकर पशुओं से खींचावे तो यह अतिभार नामक चौथा अतिचार है। यही अर्थ आप अपने पर भी लागू करिये कि शक्ति से उपरांत नौकर से काम लेना अतिभार नामक अतिचार ही है। आज नौकरों की स्थिति तो पशुओं से भी ज्यादा खराब है। तांगे का घोड़ा अगर बीमार हो जाता है तो आप उसको अलग मकान में रखते हैं और उसकी चिकित्सा करवाते हैं। साईकिल या मोटर के खराब हो जाने पर उसका रिपेअर करवाते हैं। लेकिन अगर आपका नौकर बीमार हो जाय तो क्या आप उसका इलाज कराते हैं? अगर नहीं तो क्या मनुष्य की कीमत तांगे के घोड़े से भी कम है? अतः इसमें भी अतिभार दोष ही समझना चाहिये।

भत्तपाणविच्छेद—किसी के खाने-पीने में अन्तराय-बाधा डालना भत्तपाणविच्छेद नामक पांचवां अतिचार है। भूखमरी के समय गरीबों के भोजन में बाधा डालना और

अपने यहा आवश्यकता से अधिक वस्तु का सचय करना भी इस अतिचार मे ही सम्मिलित है ।

किसी को कष्ट नही देना, यह हमारी निपेधात्मक अहिंसा है। दूसरी वाजू विधेयात्मक अहिंसा या प्रवृत्यात्मक अहिंसा की है, जिसके बिना अहिंसा पूरी नही होती है । दूसरो को कष्ट देना जैसे हिंसा है उसी तरह अपने पास शक्ति साधन होते हुए भी हम दूसरो का कष्ट दूर नही करे तो यह भी हिंसा है । मनुष्य की सेवा करना ही ईश्वर की सेवा करना है। यही पूजा और यही अर्चना है। साक्षात् चैतन्य की पूजा को छोड कर जड वस्तु की पूजा करने से क्या लाभ हो सकता है ? दूसरो की सेवा करना, यह अहिंसा की दूसरी बाजू है ।

भगवान् बुद्ध का एक उपगुप्त नामक शिष्य था । वह विचरते-विचरते एक दिन मथुरा मे आया और भिक्षा लेकर पुन मथुरा के जगल मे चला गया। उपगुप्त एक राजा का लडका था, परन्तु बुद्ध के उपदेश से वह साधु बन गया था । रात को जब वह एक पेड के नीचे सोया हुआ था, मथुरा की एक नर्तकी उसके पास से गुजरी । अनजान मे उसके पाव की ठोकर उपगुप्त को लग गई और वह आश्चर्यान्वित हो उसे देखती हुई पश्चात्ताप करने लगी । उपगुप्त की नीद भी खुल गई । उसने जब नर्तकी को पश्चात्ताप करते देखा तो कहा– 'बहिन', तू दुखी मत हो, अनजान मे मुझे ठोकर लग गई है, मै तुझे क्षमा करता हूँ ।

पृथ्वी पर चाँदनी छिटक रही थी। नर्तकी ने चाँदनी मे उसका सुन्दर मुँह देख कर कहा—'तुम बडे सुकमाल हो, तुम्हारा शरीर मिट्टी पर सोने लायक नही है, चलो उठो

और मेरे साथ चलो मैं तुम्हें फूल से बिछौने पर सुलाऊँगी।

उपगुप्त ने कहा—बहिन! अभी समय नहीं आया है, जब समय आवेगा तब मैं तेरे पास आऊँगा।

नर्तकी चली जाती है और उपगुप्त विचरते-विचरते कई दिनों बाद फिर मथुरा में आता है। शाम को जब वह भिक्षा से निवृत्त हो मथुरा के जंगल में आता है तो मार्ग में उसे एक खाई में से कराहती हुई व्यक्ति की आवाज सुनाई पड़ी। उपगुप्त रुक गया और उस खाई में जाकर देखा तो एक बेजान स्त्री को उसने वहाँ कराहते हुए पाया। उपगुप्त ने उसे बाहर निकाल कर उसकी मूर्छा दूर की। स्त्री की चेतना जागृत हुई। उसने कहा—यह कौन ईश्वर का पुत्र है। जिसने मुझे मौत के मुख से बचाया? उपगुप्त उसके मुख को देख कर जान गया था कि वही नर्तकी है जिसने एक दिन मुझे अपने साथ चलने को कहा था लेकिन आज इसके शरीर पर कोढ़ हो जाने से आज वालों के द्वारा यह खाई में फेंक दी गई है। नर्तकी ने जब कहा कि यह कौन ईश्वर का पुत्र है? तब उपगुप्त ने कहा-बहिन मैं वही हूँ जिसने तुम्हें एक बार कहा था कि जब उपयुक्त समय होगा तब मैं तुम्हारे पास आऊँगा। संयोग से आज वह समय आ गया है और मैं तुम्हें मिल गया हूँ।

उपर्युक्त उदाहरण अहिंसा की दूसरी बाजू सेवा को प्रकट करता है। रुपये (सिक्के) की दोनों बाजू साफ हों तो उसे लेने से इन्कार नहीं करते। लेकिन यदि एक बाजू घिसा हुआ हो तो क्या कोई उसे लेना चाहेंगे? इसी तरह अहिंसा की दोनों बाजू भी साफ होनी चाहिये।

दीपक प्रकाश करता है लेकिन क्या कभी कहता है

कि में प्रकाश मान हू। वह तो प्रकाश देता जाता है और यह दिखाता जाता है कि मै प्रकाशमान हू। समुद्र मे रहने वाली दीवा-दानी कभी अपना ढोल नही पीटती कि मै समुद्रो मे जहाजो को बचाती हू। सब अपना कर्त्तव्य बजाते है। इसी तरह हमे भी अपने जीवन मे अहिंसा के आचरण से अहिंसा का प्रकाश प्रकाशित करना चाहिये। केवल जबानी अहिंसक बनने से कोई लाभ नही हो सकता है।

नेगेटिव और पोजिटिव के मिलने पर ही बिजली बनती है इसी तरह अहिंसा की दोनो बाजू का पालन करने पर ही पूर्ण अहिंसा बनती है दूसरो को दु ख नही देना और उसे सुखी बनाने की चेष्टा करना, इस प्रकार अहिंसा की इन दोनो बाजू का पालन करना ही पूर्ण अहिंसा है।

एक पाख वाला पक्षी उड नही सकता है। उडने के लिये तो उसे अपनी दोनो पाखे सुरक्षित रखनी होगी। हमारे जीवन मे भी अहिंसा की एक ही पाख हो और दूसरी पांख टूट गई हो तो क्या हम उड सकेगें ? प्रगति कर सकेगे ? अत प्रगति करने के लिये अहिसा की दोनो बाजू का पालन करना आवश्यक है। ऐसी पूर्ण अहिंसा का जब हम अपने जीवन मे पालन करेंगे तभी हमारा और समाज का कल्याण हो सकेगा।

८

सत्य

मानव के शरीर में जब तक गरमी रहती है तब तक वह जीवित कहा जाता है। लेकिन शरीर जब ठंडा पड़ जाता है, तब हम उसे मरा हुआ समझ लेते हैं। ठीक इस तरह हमारे जीवन में भी जब तक शक्ति रहती है तब तक ही हम जीवित कहे जा सकते हैं। अशक्त और कमजोर मनुष्य तो मृतक समान ही होते हैं। स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका में थे तब उन्होंने अपने एक भाषण मे कहा था—

Strength is lif and we kness is death.

शक्ति जीवन है और कमजोरी मृत्यु।

शक्ति ही जीवन है। लेकिन सोचना यह है कि कौनसी शक्ति जीवन है? क्या शारीरिक शक्ति जीवन है? आज हम कसरत करके या अच्छा-अच्छा खा-पीकर अपना वजन १४ रतल कर सकते हैं लेकिन जब हम बीमार होते हैं तो वही वजन घट कर १ पौंड भी रह सकता है। अतः शारीरिक बल अस्थायी है। इसे जीवन नहीं कहा जा सकता है। कोई पैसे का बल बढ़ावे तो क्या यह स्थायी हो सकता है? आज सिंध और कराची के हजारों शरणार्थी हिन्द में आये हुए हैं जिनके पास वहां लाखों की सम्पत्ति मौजूद थी। लेकिन आज वे कंगाल हो गये हैं। अतः यह बल भी अस्थायी ही है। तब

फिर कौनसा बल इक्ट्ठा करना जाहिये जिससे कि जीवन उन्नत हो सके ? क्या बुद्धिबल इक्ट्ठा करे ? यह भी वृद्धावस्था मे कमजोर हो जाता है। सत्ताबल भी अस्थायी है, आज की जैसी दशा सत्ताधीशो की हमेशा नही रहेगी। रूप-बल भी अस्थायी है। उसमे भी वृद्धावस्था का भय है। तब फिर कौनसा बल स्थायी है जो जीवन को प्रशस्त कर सके।

शक्ति के दो भेद हैं—आसुरी और दैविक। शरीर बल, बुद्धि बल, रूप बल, विद्या बल आदि का दुरुपयोग होने लगता है तब इनका नाम आसुरी बल की श्रेणी में आता है। रावण बडा बली था, लेकिन उसने अपने बल का दुरुपयोग किया, अत उसका बल आसुरी बल मे गिना जाता है।

हमे कौनसा बल चाहिये ? इसके लिये ऋषि-मुनियो ने कहा है कि—बुद्धि बल, शरीर बल, रूप बल, धन बल आदि सब बल तो निर्बल तथा अस्थायी है, लेकिन एक सत्य बल या आत्म-बल ही ऐसा है कि जो सदा कायम रहता है। मनुष्य को अगर अपना जीवन उन्नत बनाना है तो उसे इस बल को ही बढाना चाहिये। आप बीमार होते है तो आपका शरीर बल क्षीण हो जाता है, लेकिन सत्य बल या चरित्र बल क्षीण नही होता है। ये तो सदैव कायम रहते हैं।

सत्य जीवन की शोभा है। किसी के शरीर मे और सब अग बडे सुन्दर हो, पर केवल नाक न हो तो क्या वह शोभा पा सकेगा ? जैसे नाक के अभाव मे शरीर का सारा सौन्दर्य फीका पड जाता है, उसी भाति सत्य बल के बिना अन्य सब बल निर्बल—निस्सार हो जाते है। एक बडा विशाल मकान जो लाखो रुपए के फरनीचर से सजा-सजाया हो, लेकिन उसमे

रहने वाला कोई न हो तो वह उजाड़ मालूम देगा। ठीक इसी तरह हमारे जीवन में भी रुपया पैसा आदि सब कुछ हो पर सत्य न हो तो हमारा यह जीवन भी उजाड़ महल जैसा ही सूना होगा। मुर्दे का चाहे जितना शृंगार किया जाय पर उससे कुछ लाभ थोड़े ही हो सकता है। इसी तरह मनुष्य में सत्य ही न हो तो अन्य सब गुण निस्सार हो जाते हैं।

मनुष्य जब जन्म लेता है तभी वह अपने साथ सत्य को साथ लेकर आता है। बच्चा जब पैदा होता है तो जिस प्रकार उसका अपनी माता के साथ सहज ही सम्बन्ध हो जाता है उसी प्रकार सत्य का भी मनुष्य से स्वाभाविक सम्बन्ध है जो कि जन्म से ही होता है प्रत्यक्ष में भी हम देखते हैं कि बच्चा जब छोटा होता है तब वह सत्य ही बोलता है। वह झूठ बोलना समझता भी नहीं है। लेकिन मनुष्य जब उसकी सत्यता पर हँसते हैं तो उनसे वह झूठ बोलना सीख जाता है वह यह समझ लेता है कि मेरी सच बात पर लोग मेरा उपहास करते हैं। भला उपहास करना किसे अच्छा लगता है? इसी डर से वह झूठ बोलना सीख जाता है। इससे आप यह भली भांति समझ सकते हैं कि झूठ बोलना सीखना पड़ता है सत्य बोलना नहीं। सत्य बोलना किसी से सीखा नहीं जाता वह तो स्वाभाविक ही आता है। इस सत्य का वर्णन करते हुए हमारे प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा है—

सच्चं खु भयवं—सत्य ही भगवान् है।

महात्माजी ईश्वर को मानते थे। वे कहते थे कि जो ईश्वर पर विश्वास नहीं रखते हों वे सत्याग्रह करने का आग्रह न रखें। इस पर किसी ने उनसे पूछा कि जैनी ईश्वर को नहीं

मानते हैं, तो क्या वे सत्याग्रह में भाग नही ले सकते ? तव महात्माजी ने कहा—जो सत्य और अहिंसा को मानते हैं, वे ही ईश्वर को मानते हैं। ईश्वर सत्य से जुदा नही है। सत्य ही ईश्वर है।

एक वार जव मै महात्माजी से मिली तो मैंने उनसे विदा लेते हुए कहा था—अव तो कुदरत चाहेगी तव आपसे मिलना होगा। इस पर गाधीजी ने कहा था—हाँ, तुम ईश्वर को नही मानते हो, तभी तो ऐसा कहते हो। मैने कहा—हम ईश्वर को तो मानते हैं, लेकिन उसे सृष्टिकर्ता के रूप मे नही मानते हैं। तव गाधीजी ने कहा—सत्यनारायण कहेंगे तव हम मिलेंगे। मैने कहा—हाँ, इस पर मुझे कोई ऐतराज नही है।

गाधीजी सत्य को ही ईश्वर मानते थे और यही वात हमारे सूत्रो में भी कही गई है कि 'सच्च खु भगव'—सत्य ही भगवान् है।

आज लोग सत्यनारायण की कथा करते हैं, पर उसका अर्थ नही समझते। जव तक सत्य का आचरण नही किया जायगा तव तक सत्यनारायण को प्रसन्न नही किया जा सकता। अहिंसा का विचार करते हुए हमने कहा है कि हिंसा के विना मनुष्य का जीवन नही निभ सकता है। लेकिन असत्य के विना भी जीवन नही निभ सकता है, ऐसा नही कहा जा सकता है। अहिंसा में अपवाद हो सकते हैं, पर सत्य मे उसकी गुंजाइश नही होती। वह पूर्ण होता है और उसे पूरा ही पालन करना पडता है। इसीलिये अहिंसा आदि को जहाँ भगवान् नही वताया गया, वहाँ सत्य को भगवान् कहा है। दूसरे शास्त्रो ने भी इसकी तारीफ करते हुए लिखा है—'सत्यमेव

जयते नानृतम्' सत्य की ही जय होती है। बाह्य दृष्टि से भले ही सत्ता के आगे सत्य पानी भरता हुआ—हारता हुआ दिखाई दे पर अन्त में नतीजा यह होता है कि सत्य के आगे सत्ता ही नतमस्तक होती है और दासी बनकर रहती है। इतने बड़े हिन्द देश ने बाहर कि वर्षों से अंग्रेजों की सत्ता थी किसके बल पर स्वतन्त्रता पाई है ? सत्य और अहिंसा के बल पर ही तो उसे स्वतन्त्रता मिली है। पल-भर भले ही सूर्य पर बादल आगये हैं और उसका प्रकाश मन्द हो गया है यह समझे, पर वह कितनी देर रहेगा ? क्षण भर बाद तो सूर्य चमकेगा ही। इसी तरह सत्य पर भी सत्ता का बल क्षण भर भले ही रहे पर अन्त में तो सत्य ही विजयी होता है। सत्य धारण करने वाले पर आपत्तियाँ तो आती ही है लेकिन उन से वह उत्तरोत्तर सबल और खरा बनता जाता है। जैसे चन्दन को जितना अधिक घिसा जावे उतना ही वह अधिक सुगंध देता है और सोना आग में तपने पर भी अधिक चमकता है वैसे ही सत्यधारी पुरुष कठिनाइयों मे भी अधिक चमकता है, उसका तेज रुकता नहीं अधिक प्रखर बनता है। ईख को भले ही कोई कोल्हू मे पेले पर उसमें से मीठा रस ही निकलता है। गांधीजी का मरण हुआ पर उनकी मृत्यु से भी अहिंसा और सत्य का रस ही निकला। ईख की तरह सत्यधारी पुरुष मरते हुए भी मीठा रस देते है। सत्य का बल असीम होता है। जिसे कोई नहीं जीत सकता उस मृत्यु को भी सत्यधारी जीत सकता है। फिर वह क्या नहीं कर सकता है ? यही महान् शक्ति सत्य हमारे चारित्र का दूसरा अङ्ग है जिसका जीवन में सर्वोपरि स्थान होना चाहिए। २८ जुलाई १९४९

६

सत्य की विजय

पतिव्रता स्त्री का यह नियम होता है कि उसका पति सुख दे या दुःख- वह सब सहन करने के लिये तैयार रहती है। वैधव्य का दारुण दुःख भी उसे सहन होता है। ठीक ऐसा ही नियम सत्य का पालन करने वालों के लिये भी है। जैसे पतिव्रता स्त्री पति के सिवा और कुछ नहीं चाहती, वैसे ही सत्यधारी पुरुष भी सत्य के सिवा और कुछ नहीं चाहता। पतिव्रता वैधव्य-दुःख सह सकती है लेकिन जैसे पर-पुरुष की कामना नहीं करती, वैसे ही सत्यधारी मृत्यु से आलिंगन कर सकता है, पर सत्य से विमुख होना नहीं जानता। आप में से कई एक बात जानते होंगे कि अरणक श्रावक जब जहाज में बैठ कर समुद्र में जा रहे थे, उस समय एक देवता उनकी परीक्षा करने के लिये आये और बोले—अरणक! तुम इतना कह दो कि मेरा धर्म झूठा है, मेरा सत्य झूठा है। मैंने ऊपर कहा है कि सत्यधारी पुरुष मृत्यु का आलिंगन कर सकता है लेकिन उससे विमुख होना नहीं जानता है। सत्य के पालन में अधिक से अधिक मृत्यु ही तो हो सकती है। इससे अधिक और क्या दुःख हो सकता है? अरणक ने भी मर जाना मंजूर किया, पर अपने सत्य को नहीं छोड़ा। लेकिन आज

हमारी क्या हालत है? आज हम पैसों दो-पैसों में ही अपना अनमोल सत्य बेच देते हैं यह कितनी शोचनीय बात है? लोग सत्य बोलने में आज भय अनुभव करते हैं। लेकिन शास्त्रकारों ने कहा है—

सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरति।

'सत्य की आज्ञा में खड़ा हुआ विवेकी पुरुष मृत्यु को भी जीत लेता है। हमारे आर्य मनीषियों ने एक सूत्र कहा है—

सत्यं शिवं सुन्दरम्

यह सूत्र ग्रीस की संस्कृति से हमारे यहाँ आया है। ग्रीस की संस्कृति कुछ लोगों द्वारा हिन्दुस्तान की संस्कृति से भी प्राचीन मानी जाती है। उन्होंने तीन हजार वर्ष पहले कहा

The Truth the Good, the Beautiful.

था—यही वाक्य-सूत्र हमने 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के रूप में अपना लिया है।

सत्य सुन्दर है और कल्याण प्रद है। लेकिन बहुत से लोग सुन्दरता म ही सुख मान लेते हैं। एक तत्ववेत्ता के पास एक ऐसा ही आदमी आया— जो सुन्दरता में ही सुख मानता था। उसने कहा-जब सुन्दरता में ही सुख रहता है तो फिर सत्य और शिव को मानने की क्या जरूरत है? तत्ववेत्ता बड़ा गहरा था। जो जितना अधिक तत्ववेत्ता होता है वह उतना ही गहरा भी होता है मकान जितना ऊँचा होता है उतना ही गहरा। तत्ववेत्ता ने उससे पूछा—क्या तुम्हें सुन्दरता ही प्रिय है? उस व्यक्ति ने कहा—हाँ। तब तत्ववेत्ता ने पूछा—अगर तुम्हें कोई सुन्दर-सुन्दर ललित छन्द में काव्यमयी वाणी में गालियाँ दे तो क्या तुम्हें वह अच्छी लगेगी? व्यक्ति ने कहा—नहीं।

तत्त्ववेत्ता ने उसे दूसरी तरह से समझाते हुए कहा—अगर तुम्हे कोई फलो के बजाय किसी नन्हे बच्चे के कोमल हाथ काट कर दे, तो क्या तुम्हे वह प्रिय होगा ? तब उसने समझ लिया कि कोरी सुन्दरता ही काम की नही है। एक स्त्री बडी रूपवती हो, गौरवर्ण की हो और सुन्दर वस्त्रभूषण वाली हो, पर बडी लडने-झगडने वाली हो तो क्या वह सबको प्रिय लगेगी ? देखने मे जो सुन्दर हो, हमे वह नही चाहिये, लेकिन सत्य और शिव-युक्त सौन्दर्य ही हमे प्रिय होना चाहिये। कोई स्त्री कुरूप क्यो न हो, पर वह अपने पति को प्राणो से भी अधिक चाहती हो और दूसरी तरफ एक सुन्दर स्त्री होने पर भी अपने पति से नफ़रत करती हो तो इन दोनो मे सुन्दर कौन होगी ? सत्य और शिव के अभाव मे कोरी सुन्दरता का कोई मूल्य नही होता। वह अभिशाप रूप होती है।

एक बार गाधीजी ने जब हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए उपवास किये थे तब रामचन्द्रन् नामक शान्ति निकेतन का एक छात्र महात्माजी के पास मे रहता था। उसने एक दिन महात्माजी से पूछा—बापू, क्या आप कला मे विश्वास नही करते ? गाँधीजी ने कहा—कौन कहता है कि मै कला को नही मानता ? मै कला को जरूर मानता हू लेकिन मेरी कला की व्याख्या दूसरी है। मै सत्य मे ही कला देखता हूँ। और ऐसी सत्य मिश्रित कला ही मुझे अभीष्ट है।

हमे सर्व प्रथम यह समझ लेने की जरूरत है कि सत्य का स्वरूप क्या है ? ईश्वर कौन है, कैसा है और उसने सृष्टि की रचना कैसे की ? इत्यादिक दार्शनिक प्रश्नो का निर्णय आज तक नही हो सका है। और इसका निर्णय अभी पाँच

हजार वर्ष तक भी नहीं हो तो कोई हर्ज नहीं है लेकिन सत्य का स्वरूप जो अपने जीवन में नहीं जान सके तो उसका जीवन ही निस्सार होता है। अतः सत्य क्या है ? यह अवश्य हमें सर्व प्रथम जान लेना चाहिये।

जैसा देखे और सुने वैसा ही बोलना सत्य है—यह व्याख्या सत्य की धार्मिक व्याख्या है। सत्य की व्यापक व्याख्या तो यह है कि वाणी विचार और वर्तन में भी सत्य का आचरण हो। वाणी का सत्य आज अत्यधिक आवश्यक हो गया है। पुराने जमाने में वाणी के सत्य का बड़ा महत्व था। संस्कृत में कहा है—

शपथिस्तु जीवया प्रोक्तं जीवा—लिखितमक्षरम्
असद्भिः शपथेनोक्तं जले लिखितमक्षरम्।

सज्जन पुरुषों का सहज में बोलना भी शिला-लेख जैसा होता है पर साधारण मनुष्यों का शपथ-पूर्वक बोलना भी पानी में लिखने जैसा होता है।

आज हमारी स्थिति कैसी है ? शिला लेख जैसी है या पानी में लिखने जैसी ? आज की दुनियाँ में असत्य बोलने वाले पूंजीपतियों की प्रतिष्ठा हो रही है। इस तरह सत्य आज असत् मार्ग पर आ रहा है। हम एक व्यभिचारी पुरुष को देखकर घृणा करते है लेकिन क्या कोई असत्य बोलने वाले न भी इतनी घृणा करता है। हम जितनी घृणा व्यभिचारी पुरुष को देखकर होती है उतनी ही घृणा असत्य बोलने वाले से भी होनी चाहिये।

अमेरिका के एक प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता विलियम वेंपिया ने एक दिन किसी लड़की को सड़क पर रोती हुई देखकर उससे

रोने का कारण पूछा। लडकी ने कहा—"मेरा घडा फ़ट गया है। और अब मैं अगर यो ही घर जाऊँ, तो मेरी माँ मुझे मारेगी, इसलिये यदि आपको फ़टा हुआ घडा जोडना आता हो तो मेहरबानी करके जोड दीजियेगा।" इतिहासवेत्ता ने कहा —"घडा जोडना तो नही आता है लेकिन मैं तुम्हे पैसे देता हूँ इससे तुम नया घडा खरीद कर ले जाओगी तो तुम्हारी मा नही मारेगी।" यह कह कर उसने अपने बटवे मे हाथ डाला तो बटुआ खाली मिला। उसने लडकी से कहा—"अभी मेरे पास पैसे नही है, अगर तुम कल मुझे इसी समय यहाँ मिलोगी तो मैं तुम्हे ज़रूर पैसे दे दूगा। आज अपनी माँ से कह देना कि घडा कल लाऊगी।" लडकी उसकी बात पर विश्वास कर अपने घर चली गई। इतिहासवेत्ता भी जब अपने घर आया तो उसे अपने मित्र का एक तार मिला। जिसमे लिखा था कि कल स्टेशन पर तुम मुझसे जरूर मिलना। स्टेशन पर जाने का समय भी वही था जो समय उसने उस लडकी को दिया था। अत अब वह कुछ दुविधा मे पड गया। उसने सोचा मित्र बडा है या धर्म ? मित्र तो इस दुनिया का ही है लेकिन धर्म तो पर लोक का भी है, अत उसने धर्म का साथ देना ही तय किया। स्टेशन पर उसने अपने नौकर को भेजा और आने वाले अपने मित्र को एक चिट्ठी लिख कर दी कि मुझे कुछ आवश्यक कार्य है मै नही आ सका हूँ। इसके लिये आप मुझे क्षमा करे। वह चाहता तो नौकर को पैसे देकर भी लडकी के पास भेज सकता था लेकिन उसने अपने वचन के पालन के लिये ही ऐसा किया। हमारी वाणी मे भी ऐसी दृढता होनी चाहिये। सत्य का पालन करने के लिये ऐसी दृढता

का सवन करना आवश्यक है। पैसा की हानि उठाकर भी सत्य की हानि नहीं उठानी चाहिये। क्योंकि पैसों की हानि तो अधिक से अधिक भूखों ही मार सकती है लेकिन सत्य की हानि तो जन्म-जन्मान्तर में भी दुःख का कारण होती है। अतः वचन की दृढ़ता तो अवश्य होनी चाहिये। बंगाल के एक सत्यनिष्ठ व्यापारी कृष्णपान्ति का किस्सा है। एक बार जब वे रायाघाट की नाव से मुसाफिरी कर रहे थे तब चोरों ने उनकी नाव को घेर कर उनसे कहा—तुम्हारे पास जो भी हो सब दे दो नहीं तो फिर खैर नहीं रहेगी! कृष्णपान्ति ने चोरों से कहा—भाई अभी तो मेरे पास कुछ नहीं है। चोरों को जब कुछ नहीं मिला तो वे उन्हें मारने लगे। कृष्णपान्ति ने कहा—भाई मारते क्यों हो? अगर तुम्हें रुपये चाहिये तो तुम मेरे घर आना मैं तुम्हें जितने मागोगे उतने रुपये दूंगा। उनकी बात पर विश्वास कर जब वे चोर दूसरे दिन उनके घर गये तो अपनी इच्छानुसार रुपये लेकर लौट आये। इनके ही जीवन का दूसरा दृष्टान्त है—एक बार एक अंग्रेज ने इनके साथ चावल का सौदा किया था। भाग्य से सौदा करते ही चावल के भाव तीन गुने अधिक बढ़ गये। कृष्णपान्ति चाहते तो वे इस मामले से अधिक मुनाफा उठा सकते थे लेकिन उन्होंने अपने वचन का खयाल रखते हुए उसका सब मुनाफा उस अंग्रेज को दे दिया। इन दृष्टान्तों से सीखना इतना ही है कि हम मुंह से जो सत्य कहें उसका जीवन में भी आचरण करें। ऐसे सत्य को प्राप्त करने के लिये महाभारत में अहिंसा क्षमा दया तितिक्षा आदि ग्यारह उपाय बताये गये हैं। जिनका अनुसरण करने से सत्य का पालन किया जा सकता है।

तीर्थ करो को तीर्थ कर वनाने वाला सत्य ही है। अत तीर्थ करो से भी ऊँचा सत्य है। इसीलिये कहा है कि 'सच्च खु भगव'—सत्य ही भगवान् है। यदि हम एक वार तीर्थ कर का स्मरण नही करें तो यह उतना भयकर नही है, जितना कि सत्य का स्मरण नही करना। सत्य का स्मरण नही करना, तीर्थंकर का स्मरण नही करने से भी अधिक भयकर है क्योकि सत्य ही ईश्वर है और वही ईश्वर को पैदा करने वाला भी है। अत मनुष्य किसी भी स्थिति मे क्यो न हो उसे सत्य का अहर्निश पालन करना चाहिये। सत्य के पालन मे ही शिव और सौन्दर्य है।

२६ जुलाई १६४६।

१

सत्य और दया

कोई अगर रेतीली जमीन पर अपना महल खड़ा करे तो हवा का झोंका आने पर वह धराशायी हो जायगा। इसी तरह अपना जीवन भी अगर असत्य के पाये पर खड़ा जाय तो वह भी एक ही झपाटे में गिर सकता है। हमारे जीवन का पाया सत्य है और इस पर अगर हमारा जीवन आश्रित होगा तो हम दुनिया में टिक सकेंगे अन्यथा हमें भी रेतीले महल की तरह धराशायी हो जाना पड़ेगा। सत्य के विषय में एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है—

The truth and love ar most powerfull things in the world

'सत्य और प्रेम ये दो वस्तुएँ जहाँ होती हैं वह दुनिया में सबसे अधिक शक्तिशाली हो जाता है। जिस व्यक्ति में सत्य और करुणा होगी उसके सामने दुनियाँ की कोई भी शक्ति नहीं टिक सकेगी। जगत की सर्वोत्तम शक्ति सत्य और दया ही है।

कल हमने जो सत्य के ११ उपाय बताये थे उनमें दया भी एक उपाय बताया गया है। दया के बिना सत्य का पालन नहीं किया जा सकता है। दूसरों की भलाई के खातिर अपनी

भलाई को—सुख को—न्यौछावर कर देना दया है। दयापूर्ण जीवन ही सच्चा जीवन होता है और वही सत्य का पालन भी कर सकता है। एक समय की बात है—एक रेल्वे पुल के पास में एक छोटी-सी झोपडी थी। इसमे एक बुढिया और उसकी लडकी रहती थी। एक बार ऐसी घनघोर वर्षा हुई कि वह पुल टूट गया। रात अंधियारी थी और हवा खूब जोरो से चल रही थी। अचानक लडकी की नीद खुल गई। उसने अपनी खिडकी मे से देखा तो पुल टूटा हुआ उसे नजर आया। गाडी के आने का भी यही समय था। उसने अपनी मा को उठाया और कहा—'माँ, पुल टूट गया है और गाडी अभी आने वाली है, अत हजारो मनुष्यो की जान बचाने के लिये हमे कुछ करना चाहिये।' एक तरफ तो वर्षा का भयकर तूफान चालू है, घर से बाहर निकलने की इच्छा भी नही होती है और दूसरी तरफ लडकी कहती है कि 'माँ, इन हजारो मनुष्यो की जान बचाने के लिये हमे कोई उपाय करना चाहिये?' लडकी बडी होशियार थी। उसने अपने हाथ मे टूटे हुए खाट का एक डडा लिया और उस पर कपडा लपेट कर उसे जलाया। दूसरे हाथ मे अपनी लाल साडी का फटा हुआ कपडा लिया और माँ से कहा—'माँ, चलो, अब हम रेल के सामने खडी हो जायँ। ड्राइवर जब यह लाल कपडा देखेगा तो गाडी खडी कर देगा।' माँ और बेटी दोनो अपनी झोपडी से निकल कर बाहिर आकर उस भयकर झझावात में भी पुल के पास आकर खडी हो गई। गाडी ठीक समय पर आई, लेकिन ड्राइवर ने जब आग की रोशनी मे लाल कपडा उडता हुआ देखा तो कोई खतरा समझ कर गाडी रोक दी। चारो

चलेगा, उसे ही वडा मान लिया जायगा। सवसे पहले आँखे चली गई, लेकिन आँखो के अभाव मे भी मनुष्य जीवित रहा और अपना काम करता रहा। श्रोत्रेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय के अभाव मे भी मनुष्य का काम रुका नही। और इस तरह सभी इन्द्रियाँ एक-एक साल के लिए शरीर को छोडकर चली गई, पर शरीर का काम चलता रहा। आखिर मे जव प्राण के जाने की वारी आई और वह शरीर से निकलने लगा तो सव इन्द्रियाँ विकल हो गई। उन्होने कहा—तुम मव मे श्रेष्ठ हो, तुम मत जाओ। तुम्हारे विना हम मवका काम नही चल मकता है।

जैसे शरीर मे प्राण का मूल्य अधिक है वैमे ही सभी मद्गुणो मे सत्य मवसे कीमती है। सत्य के अभाव मे मनुष्य की भी प्राण-शून्य शरीर की तरह स्थिति हो जाती है। हम आत्मा को सच्चिदानन्द कहते हैं, लेकिन आत्मा का आनन्द तो सत्य ही है और सारी ममाज ही सत्य पर नियत है। मनुस्मृति मे कहा—

'झूठ वोलना सव दुर्गुणो मे वडा दुर्गुण है।' हम भी कहते है कि—यदि कोई मनुष्य पहले, तीसरे और चौथे (अहिंमा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य) व्रत का पालन करता हो, पर दूमरे व्रत का पालन नही करता हो तो यह निस्सार है। साधु यदि ४ व्रत का भग भी करदे तो वह मुवर मकता है, लेकिन दूसरे व्रत का भग करने वाला नही मुवर सकता। दुराचारी और हिंमक मनुष्य भी यदि मत्य वोलता है तो सुवर सकता है, लेकिन असत्य वोलने वाला कभी नही सुवर मकता है। इमीलिये कहा गया है कि सत्य प्राण तुल्य है। सत्य के अभाव

में जीवन मरे हुए के समान ही है।

मनुष्य को स्वभावतः सत्य से प्रेम होता है। किसी मजदूर को आप कोई काम करने को कहें और वह बिना किये ही आपके सामने आकर कहे कि मैंने वह काम कर दिया है तो आपका दिमाग कैसा गरम हो जायगा ? जिस तरह आपको झूठ बोलने वाला पुरुष नहीं रुचता है उसी तरह आप भी अगर झूठ बोलते हैं तो दूसरों को नहीं रुचेंगे। अतः इससे सिद्ध होता है कि सत्य मनुष्य को प्रिय है। असत्य उसे रुचता नहीं है लेकिन सत्य का आचरण उसे सुगम नहीं है। यहा एक कमी मनुष्य की सबसे बड़ी कमी है। जिसे मनुष्य को अवश्य ही दूर करनी चाहिये। सत्य बड़ा चमत्कारिक होता है। एक गुनहगार पुरुष भी सत्य बोलने पर दु:खों से छुटकारा पा सकता है। पुराने समय म फ्रान्स और इटली आदि देशों में ऐसा नियम था कि जो पुरुष चोरी करते थे उनके हाथ बाँध कर उन्हें नौकाओं पर बैठा दिया जाता था। एक बार एक बड़े आफिसर ने जब इन लोगों को देखा तो पूछा तुम लोगों ने ऐसा क्या काम किया है जिससे तुम्हें यहाँ बाँधकर रखा गया है ? लोगों म से किसी ने कहा—जज ने मुझे झूठ-मूठ चोर समझ कर यह सजा दे दी है। किसी ने कहा—झूठी गवाही में मुझे पकड़ लिया गया है। इस तरह दोषी होते हुए भी सब अपने को निर्दोष साबित करने लगे। लेकिन एक आदमी ने कहा—मेरे पास खाने को कुछ नहीं था अतः मैंने चोरी की और पकड़ा गया। उसी की यह सजा मुझे यहाँ मिली है। इस आदमी के सत्य कथन से उसने समझ लिया कि और सब आदमी अपने दोष छिपाने के लिये झूठ बोले हैं पर यह आदमी सत्य

बोलता है। तब उसने इस आदमी से कहा—भाई, तुम इन भले आदमियों (व्यंग) के बीच मे रहने लायक नही हो, मैं तुम्हे इस दु ख से छुटकारा दिलाता हूँ। सत्य बोलने वाला दु खो से भी मुक्त हो जाता है, यह हमे इस कथा से ज्ञात हो जाता है। अत हमें यह समझ लेना चाहिये कि हमारे जीवन का पाया सत्य है और जीवन को स्थिर बनाने के लिये सत्य का ही पाया बनाना होगा। जितना ही जीवन अधिक उन्नत बनाना होगा उतना ही सत्य का पाया मजबूत करना होगा। जो इस सत्य का जितना गहरा पालन करेंगे वे उतनी ही अधिक अपने जीवन मे शान्ति स्थापित कर सकेंगे।

जो मनुष्य शर्मदार होता है वही सत्य का पालन कर सकता है। जिसमे घृति यानी लोक-कल्याण की भावना नही होती, वह कभी भी सत्य का पालन नही कर सकता है। जिसमे आर्यता यानी आगे बढने की भावना होती है वही सत्य का पालन कर सकता है। समता यानी समभाव रखने वाला व्यक्ति ही सत्य का पालन कर सकता है और क्षमा-शील व्यक्ति ही सत्य का आचरण कर सकता है। यहाँ क्षमा का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। क्षमा दो तरह की होती है—किसी को क्षमा देनी, यह क्षमा का पहला प्रकार है और दूसरो से क्षमा की याचना करनी, यह क्षमा का दूसरा प्रकार है। क्षमा मागनी और क्षमा देनी, यह भी सत्य-प्राप्ति की सीढी है। हम अपनी त्रुटियो के लिये क्षमा मागे और दूसरो को क्षमा दे तभी हम सत्याचरण कर सकते है। मानव से भूल होना तो स्वाभाविक ही है, लेकिन जैसे मनुष्य अपनी भूल के लिये क्षमा चाहता है वैसे दूसरो के दोषो को भी उसे क्षमा

करना चाहिये। कोई अगर यह सोचे कि दुनिया में जो-जो मनुष्य भूल करते हैं उन्हें मार देना चाहिये तो आज जो अरब मनुष्यों में से कौन पुरुष जिन्दा बचेगा? अतः मनुष्य को क्षमा करना और क्षमा लेना दोनों ही प्रकार की क्षमा का आचरण करना चाहिये।

जो मनुष्य अपनी भूल को भूल समझ लेता है वह मनुष्य सुधरने की तरफ आगे बढ़ जाता है। अपने दोषों को दोष मानना यह कोई छोटी बात नहीं है। जिस मनुष्य के पास ऐसी दुतरफी क्षमा हो उसके लिये एक अंग्रेज लेखक ने कहा है—

'जिस पुरुष के पास दुतरफी क्षमा है वह पुरुष देव-तुल्य है। वह क्षमा सत्य की सोपान स्वरूप है। इसके पालन से सत्य का आचरण किया जा सकता है। क्षमा की तरह तितिक्षा अनसूया आदि भी सत्य की सीढ़ियाँ हैं। जिन पर चल कर मनुष्य अपना जीवन पवित्र बना सकता है और जीवन में सत्य का व्यवहार कर सकता है। अतः हमें यह समझ लेना चाहिये कि हमारे जीवन का पाया सत्य है और जीवन को स्थिर बनाने के लिये सत्य का ही पाया बनाना होगा। जितना ही जीवन अधिक उन्नत बनाना होगा उतना ही सत्य का पाया गहरा करना होगा। जो इस सत्य का जितना गहरा पालन करेंगे वे उतनी ही अधिक अपने जीवन में शान्ति स्थापित कर सकेंगे।

१ जुलाई १९४८

११

अचौर्य

साईकिल मे जब तक गति होती है तब तक वह खडी रहती है, चलती हैं– गति के अभाव मे वह गिर जाती है। मनुष्य का जीवन भी साइकिल की तरह है। मानव का जीवन भी जब तक चारित्र मे चलता रहता है तब तक वह उन्नत रहता है, अन्यथा पतित हो जाता है। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जो सदा काल गतिशील ही रहती है। यानी उनकी गति स्थिर नही रहती है। समय का चक्र सदा आगे ही चलता रहता है। वह कभी रुकता नही है। मनुष्य का चारित्र और सद्गुण भी ऐसी वस्तु है कि जो सदा बढता ही रहना चाहिए। साईकिल की गति की तरह सद्गुणो मे जहाँ तक हम चलेंगे, वहाँ तक ही हमारा जीवन गतिमान है, अन्यथा हम रुक गये ऐसा समझ लेना चाहिये। चारित्र का अर्थ चलने का होता है। चलने के दो मार्ग होते हैं—अच्छे और बुरे। इसलिये चारित्र के पहले सम्यक् शब्द को जोड कर यह ज्ञात कराया गया है कि शुभ ध्येय की तरफ चलना ही चारित्र है, ध्येय-विमुख होकर चलना चारित्र नही। लेकिन आज तो हमने चारित्र का अर्थ ही स्थगित हो जाना कर दिया है। एक जमाना था जब कि निवृत्ति प्रधान चारित्र को महत्व दिया गया था क्यो

कि उस समय लोभ लालचवश लड़ाइयाँ बहुत हुआ करती थी। उनको मिटाने के लिये ही निवृत्ति प्रधान चारित्र की शिक्षा दी जाती थी। लेकिन आज निवृत्ति में भी आलस्य प्रमाद आराम आदि पाप घुस गये हैं। इसलिये आज निवृती प्रधान चारित्र को नहीं बल्कि प्रवृत्ति प्रधान चारित्र की विशेष आवश्यकता है। इस चारित्र के पहले और दूसरे अंग का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। यहाँ अब अचौर्य का वर्णन हम करना है जो कि चारित्र का तीसरा अंग है।

अचौर्य यानी चोरी नहीं करना। चोरी करके किसी का धन हड़प कर लेना या दरवाजा तोड़ कर कोई चीज उठा लेना चोरी कही जाती है लेकिन यदि हमने किसी वस्तु को प्राप्त करके भी उसका सदुपयोग वैसा नहीं किया तो यह भी चोरी ही होती है। अपनी इन्द्रियों का उपयोग न कर दुरुप योग किया तो यह भी चोरी है। अधिक गहराई से विचार करें तो आवश्यकता से अधिक रखना भी चोरी है। जब मनुष्य का काम सादे भोजन से चल सकता है तो फिर उसके लिये अचार आदि खाना भी चोरी नहीं तो और क्या है। प्रकृति इतना पैदा करती है कि सब मनुष्य उससे अपना गुजारा कर सकते हैं बशर्ते कि सब अपने-अपने परिमाण मे से आवश्यकता से अधिक का संचय नहीं करें। चीटी कितनी छोटी होती है पर इकट्ठा कितना करती है? उसका निर्वाह तो एक छोटे से कण से भी हो जाता है लेकिन बहुत संचय करती रहती है अतः यह भी चोरी ही है।

सत्य अवलम्बन करने के लिये हमें जो काम मिले हैं उनका उपयोग निरालम्बन मे करना और लोभ से सत्य के बदले

असत्य वोलना चोरी है। शरीर से सुस्त निकम्मे वने वैठे रहे, पर-सेवा नही करे तो यह भी चोरी ही है। क्योंकि जो वस्तुएँ हमे जिस कार्य के लिये मिली हैं उनका वैसा उपयोग न कर विपरीत उपयोग करना भी चोरी ही कहा गया है। अचौर्य के साथ अपरिग्रह का वैसा ही सम्वन्ध है जैसा कि सुई के साथ डोरे का। जो अपरिग्रही होता है वही अचौर्य व्रत का पालन कर सकता है। पुराने ज़माने की एक वात है—ईरान में एक शाहजूसा नामक प्रसिद्ध पुरुष हो गया है। वह राजवशी होने पर भी वहुत पवित्र मनुष्य था। वहाँ के फकीर भी उसे पूज्य पुरुष मानते थे। एक दिन एक फकीर ने शाहजूसा से मुलाकात की और कहा—जो वस्तु हम फकीरो के जीवन मे देखना चाहते थे वह आज तुम्हारे जैसे राजवशी मे दिखाई दे रही है। मतलव यह है कि वह एक पहुँचा हुआ पुरुष था। उसके एक पुत्री भी थी, जो वडी लायक थी। वह जितनी शिक्षित और सस्कारित थी उतनी ही सुन्दर भी थी। एक दिन एक राजा ने उसके साथ शादी करने के लिये कहा, लेकिन शाहजूसा ने उत्तर दिया—मुझे लडकी के लिये राजा नही, त्यागी पुरुष चाहिये। कुछ दिनो वाद शाहजूसा ने एक मस्त फकीर को देखा, जिसे देखकर उसने कहा—क्या तुम शादी करना चाहते हो ?

फकीर ने कहा—शादी करना तो चाहता हूँ लेकिन मुझ फकीर को कौन अपनी लडकी देने को राजी होगा ? मेरे पास तो कुछ भी नही है ?

शाहजूसा ने कहा—मै तुम्हे अपनी लडकी दूँगा।

फकीर ने कहा—लेकिन मेरे पास तो केवल तीन पैसे हैं ?

शाहशुजा ने कहा—तुम अपने तीन पैसों से ही अमरबत्ती कुंकुम आदि ले आओ मैं अपनी लड़की का विवाह तुम्हारे साथ कर दूँगा।

जब फकीर सब सामग्री लेकर आया तो शाहशुजा ने उसके साथ अपनी लड़की का विवाह कर दिया। फ़कीर उस लड़की को लेकर अपने घर आया। लेकिन लड़की ने जैसे ही उस फ़कीर की झोंपड़ी में पैर दिया कि वैसे ही उसने कहा—मैं इस घर में नहीं रह सकती हूँ ?

फ़कीर ने कहा—यह तो मैं जानता ही था कि तुम राज-घराने की होकर मेरे जैसे फ़कीर की झोंपड़ी में कैसे रह सकोगी ?

लड़की ने कहा—मैं तुम्हारी झोंपड़ी देखकर नहीं भागना चाहती हूँ पर तुम्हारी इस रोटी को देखकर मैं यहाँ नहीं रहना चाहती हूँ। क्या तुम्हें कल का भरोसा नहीं है ? जिससे तुमने यह रोटी रख रखी है ?

फकीर ने कहा—यह रोटी कल बच गई थी अतः मैंने रख छोड़ी है। लेकिन जब लड़की ने उस फ़कीर से कहा कि जरूरत से ज्यादा रखना चोरी है तो उस फ़कीर ने वह रोटी एक भूखे मनुष्य को दे दी। तब वह लड़की उसकी झोंपड़ी में आई। लेकिन आज हमारी स्थिति बड़ी विषम हो गई है। जरूरत के मुताबिक रखने में हमें विश्वास ही नहीं होता। सन्त फ्रांसिस भी एक ऐसा ही अपरिग्रही था। एक दिन उसके मठ में एक धनार्थी आया जिसकी जेब में से एक पैसा नीचे गिर गया था सन्त फ्रांसिस के एक शिष्य ने उसे उठाकर ऊपर रख दिया। तब सन्त फ्रांसिस ने अपने इस शिष्य को दण्ड

देते हुये कहा——तुमने जिस पैसे को अपने हाथो से उठाकर ऊपर रखा है, उसे अब अपने दाँतो से पकड कर बाहर फेक दो। याद रखो, अगर तुम्हे अपना हित अभीष्ट हो तो पैसे से सदा बचते रहो, उसे छूना भी नही चाहिये। भगवान् महावीर ने भी यही कहा है कि—'परिग्रह को इकट्ठा करके नही रखना चाहिये। तुम्हे जो वस्तु चाहिये उसका अधिक सचय मत करो, वह तो तुम्हारी अन्तराय खुली होगी तो अवश्य मिलेगी ही। लेकिन हमे आज उनके वचनो पर विश्वास नही रहा है। इसीलिये हम परिग्रह को इकट्ठा करके रखते हैं। सच्ची पूजा या आराधना तो यही है कि भगवान् के वचनो का पालन किया जाय। पालन और विश्वास के अभाव में केवल उनके नाम-स्मरण से क्या लाभ हो सकता हैं। अत मनुष्य को अस्तेय व्रत का पालन करना नही भूलना चाहिये। अस्तेय व्रत मे अहिंसा और सत्य का तो समावेश हो ही जाता है। क्योकि अस्तेयव्रत के पालन से ही सत्य और अहिंसा का भी पालन किया जा सकता है। इस अस्तेयव्रत के पालन करने पर ही मनुष्य सयम क्षेत्र मे आगे चल सकता है तथा सत्य अहिंसा के पालन द्वारा अपना जीवन पवित्र बना सकता है।

३१ जुलाई, १९४८

१२

ब्रह्मचर्य

हमारे शरीर में दो तरह की शक्ति है। एक मस्क्युलर स्ट्रेन्थ—शारीरिक शक्ति और दूसरी नर्व स्ट्रेन्थ—स्नायुविक शक्ति। अपने शरीर को पूर्ण स्वस्थ और चुस्त रखने के लिए हम दोनों ही शक्तियों का संचय करना जरूरी होता है हम अच्छी खुराक और व्यायाम आदि से मस्क्युलर स्ट्रेन्थ बढ़ा कर सकते है। शरीर में जो महीने-महीने ज्ञान-तन्तु हैं उनको स्वस्थ रखना नर्व स्ट्रेन्थ है। पहली शक्ति व्यायाम से प्राप्त की जा सकती है और दूसरी ब्रह्मचर्य तथा चित्त की प्रसन्नता से कायम रखी जा सकती है। इस ब्रह्मचर्य का हमारे जीवन में चौथा स्थान है।

ब्रह्मचर्य हमारे जीवन की खाद है। शारीरिक और मानसिक दोनो ही शक्तियाँ इस पर टिकी हुई हैं। खेत में यदि खाद अच्छी हो तो सब अच्छा ही पैदा होता है। जिस तरह अच्छी खाद से दो-तीन तोले वाले टमाटर भी सेर-दो सेर तक के पैदा किए जा सकते हैं उसी तरह बुद्धिबल और आत्मबल को और बढ़ाने के लिये भी ब्रह्मचर्य रूपी खाद की जरूरत रहती है। बाल्यावस्था में ही यदि यह खाद डाल दिया जाय तो उससे नर्व स्ट्रेन्थ बढ़ जाती है।

हमने ब्रह्मचर्य का बिल्कुल छोटा-सा अर्थ ले रखा है। लेकिन पूर्ण ब्रह्मचर्य तो पाचो इन्द्रियो से ही पालन किया जा सकता है। तभी बौद्धिक तन्दुरुस्ती यानी आत्मिक और शारीरिक तन्दुरुस्ती साधी जा सकती है। जैसे कि—

कान का ब्रह्मचर्य—जिसको सुनने से हृदय मे कुसंस्कारो की जागृति हो ऐसे सिनेमा आदि के गायनो को नही सुनना, कान का ब्रह्मचर्य है। आँख का ब्रह्मचर्य यह है कि सिनेमा-नाटक आदि नही देखना, जिससे कि हृदय मे बुरे विचार पैदा हो, क्योकि मनुष्य का यह स्वभाव है, कि वह अच्छाई को ग्रहण करने में तो देरी लगाता है,परन्तु बुराई को वह तत्काल ग्रहण कर लेता है। नाटक और सिनेमा भले ही कितने अच्छे और महापुरुषो के भी क्यो न हो, लेकिन वे प्राय कुसस्कारो को ही जागृत करने वाले होते है। एक बार हमारे पास काका-साहब कालेलकर आये थे, उस समय प्रसगवश सिनेमा की बात चल पडी थी। तब उन्होने कहा था—'मनुष्य सन्त तुकाराम का सिनेमा देखते हैं, लेकिन क्या कोई मुझे यह भी बता सकते हैं कि सिनेमा देखने से कितने तुकाराम के भक्त हुए हैं?' देखने वालो मे तो तुकाराम के भक्त होगे, लेकिन सिनेमा देखने से कोई तुकाराम का भक्त नही हुआ है। इस लिये जो लोगसिनेमा के नाम पर यह कहते हैं, कि उससे तो बडी-बडी शिक्षाएँ मिलती हैं, वे बडी भूल करते हैं। आज के सिनेमा और नाटको का अच्छा असर प्राय होता ही नही है।

ब्रह्मचर्य पालन के लिये विषय-वासना नही रखनी चाहिये यह निषेध आज्ञा दी गई है। लेकिन आगे जाकर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये विधेयात्मक-भावात्मक ब्रह्मचर्य का

स्वरूप भी जानना जरूरी है। अन्यथा ब्रह्मचर्य अधूरा रह जाता है पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को परमात्मा की सेवा में—जन-सेवा में लगा देना चाहिये। जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को परमात्मा की सेवा में लगा देता है उसे फिर कभी विषय की चाह नही होती है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा है—'काम की दवा काम है। मानी मानव जब शारीरिक श्रम करने लग जाता है तब उसके सब विकार शान्त हो जाते है। कोई मनुष्य लकड़ी चीरता हो या लोहा गरम करता हो तो उस समय उसके सब विकार शान्त रहते हैं। इसलिये यह कहा जाता है कि काम—(विकार) की दवा काम ही है। यदि मनुष्य अपने हाथों से काम करता रहे तो वह वासनाओ को जीत सकता है। इसीलिये हमारी संस्कृति के मूल मे श्रम रक्खा गया है। जैन और बौद्धों की संस्कृति को श्रमण संस्कृति कहते है। जब मूल मे ही श्रम है उसके लिये उद्योग तो चाहिये ही। लेकिन मनुष्य स्वभाव से ही आरामतलबी होता है। कम काम करना और अधिक आराम लेना यह उसकी भावना रहती है। मोटर की स्पिरिट बढ़ाकर या रेल की चाल तेज करके भी वह समय की बचत करने का विचार करता है। क्योंकि उसे आराम चाहिये। अत यह सब वह अपने आराम के लिये ही करता है। लेकिन वह जिसे आराम समझ रहा है वह सचमुच आराम नहीं है। चुपचाप बैठे-सोते रहना भी क्या आराम है ? श्रमण संस्कृति ने श्रम की प्रतिष्ठा कायम की पर फिर भी मनुष्य आराम तलबी ही रहा। महात्माजी ने पुन उसकी प्रतिष्ठा स्थापित की और स्वयं मेहनत कर लोगों को श्रम की महत्ता बताई।

आज की दुनिया का मनुष्य अपना सामान अपने हाथो से उठाने मे और खेत मे जाकर कुदाली से काम करने मे भी शर्म समझता है। लेकिन महात्माजी ने पुन इसकी प्रतिष्ठा की। भला, अपने हाथो से अपना काम करने मे भी शर्म क्यो होनी चाहिये ? शर्म तो दूसरो के सामने बीडी पीने मे या दूसरो से काम कराने मे आनी चाहिये। महात्मा जी ने जब सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की थी, तब एक बडा श्रीमन्त उनसे वहाँ मिलने के लिये आया था। उसने एक घडा लिये हुए व्यक्ति से पूछा—भाई, मुझे गान्धीजी से मिलना है, वे कहाँ मिलेगे ? हाथो मे घडा लिये हुए व्यक्ति ने कहा—आप मेरे साथ चलिये, मैं आपको गान्धीजी से मिला दूगा। वह उसे कूए पर ले गया। श्रीमन्त ने कहा—भाई, मुझे गाधीजी से जरा जल्दी मिला दो न ? घडा उठाने वाले व्यक्ति ने कहा—भाई मै ही गाधीजी हूँ। कहिये, क्या काम है ? आगन्तुक श्रीमन्त तो गाधीजी को अपटूडेट समझ रहा था, पर जब उन्हे अपने कधो पर घडा उठाये हुए देखा तो उसके आश्चर्य का पार न रहा। ऐसी ही एक घटना अफ्रिका मे हुई थी। गाँधीजी अफ्रिका के आश्रम मे कुदाली से मिट्टी खोद रहे थे। उस समय एक पुरुप आया और उसने गाधीजी से कहा—मुझे गाँधीजी से मिलना है। गाधीजी ने कहा— मै ही गान्धी हूँ। कहिये, क्या काम है ? गान्धी जी के हाथ में कुदाली देख कर वह भी आश्चर्य मे डूब गया था। कहने का मतलब यह है कि इस तरह स्वय मेहनते करने से ही शारीरिक शक्ति बढती है और उसीसे ब्रह्मचर्य का बल भी बढता है।

ब्रह्मचारी मनुष्य के ज्ञानतंतु बडे निर्मल हो जाते है। वे

जिस चीजको एक बार देख लेते हैं या सुन लेते हैं उसे फिर कभी नहीं भूलते हैं। स्वामी विवेकानन्द जब 'विश्व विद्या' नामक ग्रंथ पढ़ रहे थे तब उनसे एक शिष्य ने कहा—आप इतना बड़ा ग्रंथ तो पढ़ जाते हैं लेकिन क्या यह सब याद रह जाता है? विवेकानन्द ने कहा—बोल तू क्या पूछना चाहता है? शिष्य ने पूछा—अमुक पत्र पर किस विषय पर क्या लिखा हुआ है? स्वामी विवेकानन्द ने जैसा उस पुस्तक में लिखा हुआ था वैसा ही अपने मुँह से कह सुनाया। उनकी स्मरण शक्ति इतनी तेज थी। लेकिन स्मरण शक्ति के मूल में ब्रह्मचर्य का ही तेज था। ब्रह्मचर्य से उनके ज्ञानतंतु इतने निर्मल और शुद्ध बने हुए थे कि वे एक बार पढ़ने से ही उसे ग्रहण कर लेते थे।

ब्रह्मचर्य की शक्ति असीम है। जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह दीर्घजीवी तो होता ही है। पुराने समय का एक किस्सा है—मगध के एक गाँव में धर्मपाल नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसके एक पुत्र था। जिसका नाम था धर्मकुमार। उसने अपने पुत्र को तक्षशिला के विद्यालय में अध्ययन के लिये भेज रखा था। वहाँ कुछ वर्ष बाद धर्मकुमार के एक आचार्य के पुत्र का देहावसान हो गया। सब विद्यार्थी शोक मग्न हो गये। धर्मकुमार ने उन्हें देख कर कहा—भाई तुम सब दुःख क्यों कर रहे हो? लड़कों ने कारण बताते हुए कहा— आचार्य के एक ही तरुण पुत्र था और वह भी अकाल मर गया है। धर्मकुमारने कहा—तरुण तो कभी मरता ही नहीं है लड़को ने कहा-क्या तुम्हारे घर में कोई नहीं मरता है? धर्मकुमार ने कहा—हाँ मेरे घर में तरुण नहीं मरता है।

पिता के देखते हुए पुत्र आज तक नही मरा है। लडको को धर्मकुमार की वात पर आश्चर्य हुआ। उन्होने आचार्य से आकर कहा–आचार्य, धर्मकुमार कहता है कि तरुण तो कभी मरता ही नही है। उसके घर मे पिता के देखते हुए आज तक कोई पुत्र नही मरा है। आचार्य को भी इस बात से आश्चर्य हुआ। लेकिन उन्होने अपने मन मे धर्मकुमार की वात सच है या नही, यह जानने का निश्चय कर लिया। मौका पाकर एक दिन आचार्य तीर्थाटन करने के वहाने तक्षशिला से निकले और सीधे धर्मकुमार के घर पर आकर ठहरे। धर्मकुमार के पिताने आचार्य का वडा स्वागत-सत्कार किया और वडी प्रसन्नता से पूछा—कहिये, क्या आज्ञा है ? आचार्य ने रु धे गले से कहा– "भाई तुम्हारा पुत्र धर्मकुमार मेरे यहाँ पढा और वेदो का ज्ञान प्राप्त किया, लेकिन अव वह मर गया है। मै उसके फ़ल लेकर तुम्हारे पास आया हूँ।" उसका पिता, आचार्य की वात सुनकर, ताली वजाते हुए कहने लगा—महाराज यह बात आप बिल्कुल झूठी कहते हैं। मेरा धर्मकुमार कभी नही मर सकता है। यह सुनकर आचार्य को धर्मकुमार की वात पर विश्वास हो गया। तब उन्होने धर्मपाल से कहा—भाई, तुम्हारा पुत्र मरा नही है। मै तो केवल यह जानने के लिये यहाँ आया हू, कि तुम्हारे कुटुम्ब मे तरुण की मृत्यु क्यो नही होती है ? धर्मपाल ने कहा—आचार्य, मेरे कुल मे कोई भी स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य का उल्लघन नही करते हैं। इसीलिये कभी भी मेरे कुटुम्ब मे तरुण का मरण नही होता है। बन्धुओ ! अब तनिक आप अपनी स्थिति का भी खयाल कीजिये। आज हमारे समाज मे पत्नीव्रत नष्ट हो गया है। समाज का एक पहिया बिल्कुल

बढ़ गया है फिर भला समाज की गति हो भी तो कैसे ? स्त्रियों के लिये जैसे पतिव्रत धर्म है और वे इसका पालन आजन्म करती भी हैं पति के मर जाने पर भी जैसे वह दूसरे पुरुष की इच्छा नहीं करती हैं वैसे ही पुरुषों को भी पत्नीव्रत का पालन करना चाहिये। पुरुषों ने अपने आप आज इसकी छूट ले रखी है पर यह उनकी ज्यादती ही है। उसने अपने प्राप्त अधिकार का दुरुपयोग ही इसमें किया है। जैसे बहिनों पर पुरुषों ने जबरन् पतिव्रत डाल रखा है वैसे मनुष्यों पर भी पत्नीव्रत का प्रतिबन्ध क्यों नहीं होना चाहिये ? सरकार ने यह तो कानून बना दिया है कि एक के जीवित होने पर दूसरी स्त्री के साथ विवाह नहीं किया जा सकता पर मैं तो यह कहना चाहती हूँ कि पत्नी के मर जाने पर भी मनुष्य को दूसरी पत्नी करने का अधिकार नहीं होना चाहिये। अगर आप इस पत्नीव्रत धर्म का पालन करेंगे तो आप अपने जीवन में ब्रह्मचर्य का तेज—निर्माण में—अवश्य प्राप्त कर सकेंगे।

२ अगस्त २६४८

१३

अपरिग्रह

व्यापारी व्यापार करते है और जहाँ तक उनको उसमे कमाई होती है वहाँ तक वे अपने जीवन मे रस लेते है लेकिन जव कमाई फीकी पड जाती है तव उनको अपना जीवन नीरस ज्ञात होने लगता है।

एक सगीतज्ञ की आवाज़ जव तक मधुर रहती है तव तक तो वह वडा खुश रहता है, लेकिन जव उसकी आवाज विगडने लगती है तो उसे वडा दु ख होने लगता है।

एक सुन्दर स्त्री अपने सौंदर्य के नष्ट हो जाने से पूर्व ही मरना अच्छा समझती है, पर कुरूप रह कर जीना नही चाहती है। ठीक इसी तरह हर एक मनुष्य को भी यह विचारना चाहिये कि जव अपने जीवन में से सच्चारित्र निकल जाय तो ऐसा जीवन भी हमे नीरस और निकम्मा लगना चाहिये।

चारित्र क्या है और उसके कौन से अग है ? इसका वर्णन करते हुए आज हम चारित्र के पाँचवे अङ्ग पर पहुँचे है। दुनिया के समस्त सद्‌गुणो का अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह मे समावेश हो जाता है। ये ही पाच

चारित्र के मुख्य मञ्ज हैं । जिनमें से चार का बयान तो हम कर चुके हैं भाज पांचवें का वर्णन हमें यहाँ करना है ।

चारित्र का पांचवां भज्ज है भपरिग्रह । मानव श्रीमन्त हो पर स्वतः गरीबी को स्वीकार करे तो यह भपरिग्रह है । (श्रीमन्त होकर भी स्वतः गरीबी को धारण करना भपरिग्रह है) भगवान् महावीर राजा के लड़के थे भौर भगवान् बुद्ध भी राज-पुत्र थे लेकिन उन्होंने श्रीमन्त होते हुए भी स्वतः गरीबी मोल ली यही उनका अपरिग्रह था । अपरिग्रह का मतलब ही यही है कि स्वतः गरीबी धारण करना ।

भाज हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा प्रश्न गरीबी का है । मनुष्य को जब तक भोजन नहीं मिलता है तब तक उसके लिये सब नीरस होता है । भाज का हिन्दू दुनिया में सबसे गरीब है । गरीब मानव के सामने खाने का ही प्रश्न खड़ा रहता है । जब तक हम उसका वह प्रश्न नहीं हल कर सकते तब तक उसको हम दूसरा क्या उपदेश दे सकते हैं ? भाज के गरीब भारत का यह प्रश्न इतना विकट है कि यदि गांव का एक व्यक्ति बीमार होता है तो वह न एक रोज की दवा ले सकता है भौर न वह एक रोज भाराम ही कर सकता है । दवा ले तो पैसे कहाँ भौर भाराम करे तो खावे क्या ?

भाज इन्हीं गांवों पर सारा हिन्दुस्तान निभ रहा है । वकील भौर राजे महाराजे भी उनसे पल रहे हैं । वे सब को खिला-पिला कर जीवन-दान देते हैं पर उनको कोई जीवन देता है ? जिनके ऊपर हमारे जीवन का भाधार है क्या हम उनको भूल सकते हैं ? लेकिन भाज की स्थिति बड़ी विचित्र है । हम उन्हें भूल गये हैं । जब तक हम उनका सुधार नहीं

करेंगे तब तक याद रखिये कि हमारी स्थिति ठीक नही हो सकेगी। मानव का प्राथमिक कर्तव्य ही यह है कि वह जन-सेवा करे। लेकिन आज वह अपने इस उद्देश्य से कोसो दूर हो गया है और उसका ही यह परिणाम है कि हिन्द आज गरीबी की चक्की मे पिसता चला जा रहा है।

हम मानते है, कि पहले-दूसरे और तीसरे आरक मे धर्म नही होता है। क्योकि उस समय समाज मे किसी तरह की विषमता नही होती है। जब रोग ही न हो तो फिर रोगो की दवा क्यो रखी जाय ? अत उस समय धर्म नाम की कोई चीज नही होती थी। लेकिन आज तो सारी दुनिया मे ही विषमता ने अपना घर कर लिया है। आज एक तरफ तो एक मानव, मेवा-मिष्टान्न खाता है, पर दूसरी तरफ दूसरे को चने भी खाने के लिये नही मिल रहे है। कैसी विषम स्थिति आज हमारी हो गई है। महाराष्ट्र का एक दृष्टान्त है—जस्टिस रानाडे अपने घर से बाहिर जा रहे थे। रास्ते मे उन्होने एक कुत्ते को वमन करते हुए देखा और फिर वही एक भूखे मनुष्य को खाते हुए भी देखा। यह देख कर उनका अन्तस्तल काप उठा। उन्होने तत्क्षण यह प्रतिज्ञा की कि जब तक मै इस गरीबी को दूर नही करूगा तब तक मै सादगी से अपना जीवन व्यतीत करूगा।

बधुओ ! एक तरफ तो किसी के गले मे मोतियो के हार लटकते हो और दूसरी तरफ किसी की आखो से मोती झरते हो तो ऐसी हालत मे कैसे कल्याण हो सकता है ? ऐसी विषमता को दूर करने पर ही गरीबो का कल्याण हो सकता है और उसी के धर्म का प्राथमिक कर्त्तव्य पूरा किया जा

सकता है ।

जैसे 'काम की दवा काम है' वैसे गरीबी की दवा भी गरीबी ही है । यदि आप गरीबी को दूर करना चाहते हैं तो उसके लिये स्वत गरीबी का आचरण करना ही पड़ेगा ।

टाल्सटाय ने जब रूस में गरीबों के दुःख देखे तो वे अपनी सम्पत्ति को छोड़कर गरीब बन गये थे । इससे धर्म त्यागी (लोग) भले ही यह कहे कि गरीबों की संख्या में उन्होंने एक और अधिक संख्या बढ़ाई, लेकिन पूंजीपतियों को या भूमिवासियों को उससे यह भली भांति समझ लिया था कि श्रीमन्ताई से ही यह विषमता है । इस विषमता को दूर करने के लिये ही अपरिग्रह व्रत पर इतना अधिक जोर दिया गया है ।

अपरिग्रह व्रत यानी गरीबी मानव जीवन का गर्व है । यह तो ईश्वर की प्रसादी है और वीरों का धर्म है । भगवान् महावीर और बुद्ध ने इसी गरीबी को अपनाकर अपना कल्याण किया था । जब तक हम भी ऐसी गरीबी धारण नहीं करेंगे तब तक अपना कल्याण नहीं कर सकेंगे । पुराने समय की एक बात है—

कन्नौज देश के राजा के दो पुत्र थे । बड़े पुत्र का नाम राजवर्द्धन और छोटे का नाम हर्षवर्द्धन था । राजा की मृत्यु के समय राजवर्द्धन कहीं बाहर था । अतः मरते समय राजा ने हर्षवर्द्धन को अपने पास बुलाया और कहा—बेटा मैं अपना सारा राज्य तुम्हें सौंपता हूँ । तू इसकी रक्षा करना और प्रजा का प्रेम से पालन करना । राजा के मर जाने पर राजकर्मचारियों ने हर्षवर्द्धन से कहा—महाराज ! अब आप

राजमुकुट धारण कर प्रजा का पालन कीजिये। हर्षवर्द्धन ने कहा—भाइयो ! यह कैसे हो सकता है ? राज्य का अधिकारी तो सदा वडा भाई ही होता है, मै तो उसका सेवक मात्र हूँ। कुछ दिनो वाद राजवर्द्धन जव अपने गाँव मे आया तो उसने सारा गाँव सूना-सूना सा देखा। उसे जव सारी हकीकत मालूम हुई तव वह हर्षवर्द्धन के पास आया और वोला—भाई, तुमने इतनी देरी क्यो की है ? उठो, राज्य सम्हालो और प्रजा का पालन करो। हर्षवर्द्धन ने कहा—कौन कहता है कि राज्य मै लूँ ? राज्य के अधिकारी आप हैं अत आप ही स्वीकार करें। इस तरह दोनो भाई एक दूसरे को राज्य सौंपने की जिद्द करने लगे। वन्धुओ ! जहाँ आज राज्य के लिये एक भाई दूसरे भाई का खून कर रहा है, वहाँ वे दोनो भाई उसे छोडने को कह रहे हैं। अन्त मे हर्षवर्द्धन को ही राज्य स्वीकार करना पडता है और राजवर्द्धन जगल मे चला जाता है। इस प्रकार जो मनुष्य अपनी इच्छा से गरीबी स्वीकार कर लेता है वही अपना कल्याण कर सकता है और दुनियाँ की विषमता दूर कर सकता है।

हिन्द की गरीबी कितनी भयकर हो चुकी है और इसका कैसा दुष्परिणाम दिन प्रतिदिन आरहा है, यह हमसे छिपा हुआ नही है गरीवी इन्सान को एक न एक दिन मृत्यु के मुँह में जाने को विवश कर देती है।

एक गाँव में हरकचन्द सेठ नामक एक वनिया रहता था। उसके शक्कर का व्यापार था। सेठ बडा भला और ईमानदार था। गाँव के सब लोग उससे सलाह मशवरा लेने के लिये आया करते थे और उसका वडा मान करते थे। लेकिन मनुष्य

से भविष्य में मेरे बाल-बच्चों का क्या होगा ? उनके जीवन का आधार क्या होगा ? लेकिन जैसे उसे अपने बाल-बच्चों की चिन्ता का प्रश्न उठता है वैसे ही उसे समाज की चिन्ता भी करनी चाहिये । तभी वह अपरिग्रह व्रत को धारण कर अपना तथा देश का कल्याण कर सकेगा ।

३ अगस्त १९४८

१४

परिग्रह पाप है

सस्कृत मे एक कहावत है 'बुभुक्षित न प्रतिभाति किंचित्' भूखे मनुष्य को कुछ भी अच्छा नही लगता है। हम रोगो को वेदनीय कहते हैं। क्षुधा भी एक रोग है। और यह भी वेदनीय है। दूसरे रोग तो छोटे-छोटे होते है और उनसे एक बार चिकित्सा करने पर मुक्ति भी पाई जा सकती है, लेकिन क्षुधा की बीमारी तो इतनी भयकर और जटिल होती है कि रोज तीन-तीन बार इसकी चिकित्सा करने पर भी यह दूर नही होती जब तक क्षुधा रोग की पूरी चिकित्सा नही की जाय, तब तक मनुष्य को कुछ भी अच्छा नही लगता है।

भूखे मनुष्य को यदि कोई सिनेमा-नाटक देखने ले जाये या उसे कोई धर्म का उपदेश दे तो क्या वह उसे रुचेगा ? अत ऐसी स्थिति में उसे धर्म का उपदेश देने से पूर्व उसकी क्षुधा शान्त करने का उपाय करना चाहिये। क्योकि तृप्त पुरुष पर ही धर्म के उपदेश का असर हो सकता है, भूखे पर नहीं। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ भारत को छोडकर यूरोप में उपदेश देने के लिये इसीलिये गये थे, कि वहां जनता भोगो से तृप्त हो गई थी। अत तब उन्हे धर्म के उपदेश की जरूरत थी। हिन्द तो भूखा था और भूखमरी

की हालत मे उपदेश करना निस्सार होता है इसीलिये वे अन्य देशों मे गये ।

गरीबी ऐसी चीज है कि जिससे मनुष्य का तेज चला जाता है । यह जब तक दूर नही की जाय तब तक दूसरा कोई उपयोग या काम नही हो सकता है ।

दुनिया में अनेक भय है पर सबसे बड़ा भय दो तरह का है—मृत्यु और भूख ।

मनुष्य चाहे जितना बलवान् हो पर जब वह भूखों मरता हो तो उसे कमजोर के सामने भी नमना ही पड़ता है तब उसे दूसरा कुछ भी अच्छा नही लगता है । अतः ऐसे मनुष्यों को उपदेश कब दब सकेगा ? पानी का घड़ा जब पूरा भरा हुआ होगा तभी वह स्थिर रहेगा और हमारा प्रतिबिम्ब भी उसमें पड़ सकेगा । अस्थिर पानी में हमारा प्रतिबिम्ब कभी नहीं पड़ सकता है । इसी तरह हम दूसरे को उपदेश तो दें, पर उसका जिज्ञासु स्थिर न हो तो हमारे ज्ञान का प्रतिबिम्ब उसमे नही पड़ सकेगा । अतः सर्व प्रथम गरीबी को दूर करने का उपाय करना चाहिये और इसके लिये स्वयं गरीबी स्वीकार करनी चाहिये। क्योंकि गरीबी ही गरीबी की रामबाण दवा है ।

भगवान् बुद्ध जब श्रावस्ती के वन में विचार रहे थे तब उन्होंने किसी से सुना कि यहाँ से ६ योजन दूरी पर एक गरीब ग्वाला रहता है । जो कि बड़ा जिज्ञासु हृदय वाला है । महापुरुष जो होते है वे दूसरा के लिये दुःख उठाने में तनिक भी हिचकिचाते नही हैं । उनका शरीर ही दूसरों की सेवा करने के लिये होता है । इसलिये भगवान् बुद्ध ६ योजन चल कर भी उस ग्वाले को उपदेश देने के लिये गये ।

ग्वाला शाम को अपने बैलो को चरा कर घर आ रहा था। रास्ते मे जब उसने यह सुना कि मेरे गाँव मे भगवान् बुद्ध पधारे है तो वह शीघ्र अपने बैलो को लेकर घर आया और विना कुछ खाये पीये ही भगवान् बुद्ध की सेवा में आ खडा हुआ। भगवान् बुद्ध ने जब यह सुना कि वह सारे दिन का भूखा है तो उन्होने उसे उपदेश देने से पूर्व अपने एक शिष्य से कहा—क्या तुम्हारे पास कुछ भोजन वचा है? शिष्य ने कहा– हाँ, कुछ वचा हुआ पडा है। तव भगवान् बुद्ध की आज्ञा से उस शिष्य ने वह भोजन उसे खिलाया और उसकी क्षुधा शान्त की भोजन कर लेने पर भगवान् बुद्ध ने उसे चार सत्य का उपदेश दिया, जिसे सुन कर वह भी उनके भिक्षु सघ मे दाखिल हो गया। भिक्षुओ मे जब इस वात की ऊहा-पोह होने लगी, कि भगवान् बुद्ध और किसी को तो अपने पात्र में से खिलाते-पिलाते नही हैं, तव फिर इसे क्यो भोजन कराया? ऐसी चर्चा जव भगवान् बुद्ध ने सुनी तो उन्होने अपने शिष्यो से कहा–भिक्षुओ! यह व्यक्ति उपदेश का तो पात्र था, लेकिन भूखा था। भूख की हालत मे दिया हुआ उपदेश व्यर्थ जाता है, इसी लिये मैंने इसे उपदेश देने मे पूर्व भोजन दिया था।' आज भगवान् बुद्ध का यही उपदेश हमे भी लेना है। क्योकि जव तक मनुष्य की भूख शान्त नही की जायगी तव तक उसे उपदेश देना व्यर्थ ही होगा। भूखा मनुष्य न तो धर्म ही कर सकता है और न धर्म का उपदेश ही सुन सकता है। हिन्दी मे एक कहावत है—

भूखे भजन न होई गोपाला।
यह लो अपनी कण्ठी माला।

सक्त में भी कहा है—

'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'

भूखा मनुष्य कौनसा पाप नहीं करता ? वह अपनी क्षुधा शान्ति के लिये बड़े से बड़ा पाप भी कर सकता है। अतः धर्मोपदेश देने से पूर्व हमें भी भगवान् बुद्ध की तरह पहले लोगों की क्षुधा शान्त करनी चाहिये।

परिग्रह रखना पाप है यह बात आज हम भूल गये हैं। आज तो जो जितना पैसे वाला होता है उसे ही बड़ा समझा जाता है। जो जितना अधिक पैसे वाला होता है वह उतना ही बड़ा आदमी माना जाता है। बड़े आदमी का मतलब ही आज अधिक परिग्रही हो गया है और वही आज पुण्यात्मा भी माना जाता है। भला यह कितनी विचित्र बात है कि जिसने अपेक्षा कृत अधिक पाप इकट्ठा कर रक्खा है उसे ही आज पुण्यात्मा कहा जाता है। यह कैसी विरोधी मान्यता हमारे दिलो में आज घर कर गई है ? पुण्य के ४२ भेदों में क्या कहीं धन का नामोनिशान भी आता है ? तो फिर धन वानों को पुण्यात्मा किस आधार से माने बैठे हैं।

सड़क पर एक मोटर जा रही थी जिसमें एक बड़े सेठ बैठे हुए थे। उनके गले मे नीलम की कंठी और हाथों मे सवा लाख की हीरे की अगूठी जगमगा रही थी। सैठ जी की आज्ञा से ड्राइवर मोटर को बड़ी तेजी से लेजा रहा था। अचानक सड़क पर एक बालक मोटर के नीचे आ गया और वह बेहोश होकर गिर पड़ा। सेठजी आवेश मे आकर कहने लगे—साले इन लोगों से यदि अपने छोकरे भी नहीं सम्हलते है तो वे पैदा क्यों करते हैं ? ऐसे मार्गों पर तो बेत चला देना

चाहिये। यह कह कर सेठजी ने अपनी मोटर आगे बढा दी और वह बालक वही बेहोश पडा रहा। उसी समय वहाँ एक फटे हुए चिथडो वाला एक आदमी आया। उसने जब बच्चे को बेहोश देखा तो उसे उठाया और अपने फटे कपडो से हवा कर उसे होश मे लाया। बताइये, अब पुण्यात्मा किसे कहना चाहिये? क्या उस क्रोडीधज सेठ को या उस अकिंचन फकीर को?

पैसा मिलना कोई पुण्य नही है। मनुष्य जन्म मिलना पुण्य है। लेकिन आज तो पैसे को ही पुण्य कहा जा रहा है, जो कि बिल्कुल असत्य है।

आज की स्थिति तो ऐसी हो गई है, कि जीवन निर्वाह के लिये पैसो की जरूरत नही, पर पैसो के लिये जीवन हो गया है। इसलिये इस परिग्रह को पाप कहा गया है। परिग्रह के आस-पास भी कई पाप लगे हुए रहते हैं, लेकिन जब तक मूल पाप को नही छोडा जाय वहाँ तक दूसरे पापो का अन्त नही आता है। हम मूल व्रतो को छोड कर दूसरो का पालन करें तो उससे क्या लाभ हो सकता है?

एक दिन मैने कहा था, कि झाड को पानी पिलाने के बजाय अगर कोई उसके फ़ल और पत्तो को पानी पिलाये तो वह झाड हरा नही रह सकेगा? इसी तरह अगर आप मूल व्रतो को छोड कर बाह्य क्रियाएँ—व्रत पौषध आदि करें तो उनसे कोई विशेष लाभ थोडे ही होने वाला है? क्योकि व्रत पौषध आदि तो उत्तरव्रत हैं। अत जब तक हम मूल व्रत को—अपरिग्रह को नही सोचेंगे तब तक हम धर्म रूपी वृक्ष को हरा नही रख सकेंगे। अत मूलव्रतो का—अहिंसा सत्य, अचौर्य,

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पहले पालन करना चाहिये। इनके पालन में ही दूसरे व्रतों की कीमत समाई हुई है।

किसी के यहाँ पुत्र का जन्म हो तो यह खुसी की बात होती है लेकिन यदि किसी कुमारी कन्या के पुत्र हो तो यह शर्म की बात होगी। हम एक तरफ तो परिग्रह को इकट्ठा करते रहें और दूसरी तरफ धर्म क्रिया करते रहें तो यह भी वैसी ही शर्म की बात होनी चाहिये। आज अधिक पैसे वाला ही बड़ा समझा जाता है लेकिन सच तो यह है कि जिसके पास जितना अधिक पैसा है वह प्रायः उतना ही अधिक पापी है। क्योंकि अधिकांश में पैसा असत्य हिंसा और चोरी से ही इकट्ठा किया जाता है। अतः जो जितना अधिक पैसा इकट्ठा करता है वह उतना ही अधिक असत्य चोरी और हिंसा का आचरण करता है। इसलिये अपेक्षाकृत वह दूसरों से ज्यादा पापी है। कोई यह कहे, कि मैं प्रमाणिकता से पैसा इकट्ठा करता हूं इसमें क्या पाप है ? ऐसे भाइयों को यह समझ लेना चाहिये कि उनकी प्रामाणिकता से उनको असत्य चोरी और हिंसा का पाप तो नहीं लगता लेकिन फिर भी परिग्रह का पाप तो शेष ही रह जाता है। अतः इसे तो छोड़ना ही चाहिये। इसलिये जहाँ तक परिग्रह का त्याग नहीं किया जायगा वहाँ तक दूसरे सद्गुणों का असर नहीं हो सकता है।

आज हमारी बहिनें पाँच-पाँच उपवास करती हैं पर उनकी तपस्या का असर क्यों नहीं होता है ? उनकी तपस्या से पूरा लाभ तो तभी हो सकता है जब कि वे अपनी ५ साड़ियों में से ४ साड़ियाँ विधवा बहिनों को बाँट दें। तभी उनकी तपस्या असर करने वाली होगी। हमारा अपरिग्रहव्रत

भी तभी सफल होगा जब कि हम अपनी सम्पत्ति गरीबो को बाँट देंगे ।

शिवाजी महाराज एक बार सतारा के किले पर बैठे हुए थे, तब उन्होने अपने गुरु समर्थ रामदास को हाथ मे झोली लिये हुये घर-घर भिक्षा मागते हुए देखा । रामदास सचमुच समर्थ रामदास ही थे । बचपन मे जब उनका लग्न हो रहा था और वे जब लग्न-मडप मे बैठे हुये थे, तब उन्होने जैसे ही 'सावधान' शब्द सुना, वे सावधान हो गये और उससे ऐसे छूटे कि १२ वर्ष तक उनका कोई पता नही लगा । फिर तो वे सन्यासी हो गये और घर-घर भिक्षा माँगने लगे । शिवाजी ने जब उन्हे भिक्षा मागते हुये देखा तो अपने मन मे सोचा—मेरे जैसे शिष्य का गुरु भी भिक्षा माँग रहा है ? क्या मै अकेला ही उनकी इच्छा पूरी नही कर सकता हू ? जो वे घर-घर भिक्षा मागने जायँ । उन्होने तत्क्षण एक चिट्ठी लिखी, और अपने नौकर को देते हुये कहा—जब रामदास आवे तो उनकी झोली मे यह चिट्ठी डाल देना । यथा समय रामदास आये तो नौकर ने वह चिट्ठी उनकी झोली मे डाल दी । उसमे लिखा था—'महाराज ! मै अपना सारा राज्य आपको सौपता हू । आप घर-घर जाकर भिक्षा मागना छोड दे ।' रामदास ने उसे पढा और चुपचाप वहाँ से चल दिये । दूसरे दिन वे शिवाजी के पास आये और बोले—बेटा तुमने अपना सारा राज्य मुझे दे दिया है । बोल अब तू क्या काम करेगा ? शिवाजी ने कहा—महाराज, जो आपकी आज्ञा हो ! मै तो सेवा मे सदा तैयार हू । रामदास ने कहा—यह मेरी झोली उठाओ और मेरे साथ भिक्षा माँगने चलो । यह सुन कर

शिवाजी बड़े विस्मित हुये पर वचनबद्ध थे। अतः उन्होंने झोली उठाई और रामदास के साथ चल पड़े रामदास ने उन्हें सारे गाँव मे फिराया और अन्त में नदी के किनारे आकर सबके साथ भोजन कराया। भोजन के बाद रामदास ने शिवाजी से कहा—बेटा तुमने अपना सारा राज्य मुझे दे दिया है लेकिन अब मैं यह तुम्हें सौंपता हूँ। तुम यह राज काज मेरा समझ कर करना और यह मेरा भगवां कपड़ा भी साथ रखना जिससे तुम्हें अपने राज्य से वैराग्य-भाव आता रहेगा। महाराष्ट्र मे आज भी उस भगवे झंडे का महत्व क़ायम है। शिवाजी ने रामदास के कथनानुसार ही राज्य चलाया और उसके मालिक नहीं ट्रस्टी बन कर काम किया था। हमको भी आज अपने धन का मालिक नहीं ट्रस्टी बन कर रहना चाहिये। तभी हम अपने जीवन का कल्याण कर सकेंगे।

४ अगस्त १९४८

१५

शाश्वत धन

पानी वहता न हो तो वह गदा हो जाता है, उसमे से वास (दुर्गन्ध) आने लग जाती है। हवा भी वहती न रहे तो खराव हो जाती है। वन्द मकान मे जो हवा होती है वह खराव हो जाती है। इसी तरह हमारा जीवन भी अगर सच्चारित्र मे वहता हुआ न हो तो गदा हो जाता है। सडे हुए पानी की तरह उसमे से भी दुर्गन्ध आने लग जाती है। जिस मनुष्य का जीवन चारित्रहीन हो तो क्या आप उसके साथ वैठना पसद करेगे ? जिस तरह गदे पानी को कोई पीना नही चाहता है, उसी तरह चारित्रहीन मानव के पास भी कोई वैठना नही चाहता है। इसी चारित्र के पाँच अगो का हमने यहाँ वर्णन किया है। अपरिग्रह उसी चारित्र का पाँचवा अग है, जिसका कि हम यहाँ वर्णन कर रहे है।

परिग्रह यह सव पापो का मूल है। मूल को जव तक उखाडा नही जायगा तव तक डाली, फूल पत्ते आदि को उखाडा नही जा सकता है। अत मनुष्य को परिग्रह पर सर्व प्रथम नियत्रण करना चाहिये। तभी वह दूसरे पापो से भी छुटकारा पा सकता है।

मनुष्य ने मिल्कियत (पूंजी) एक ऐसा शब्द गढ़ लिया है और उसके आसपास ऐसा वातावरण बना दिया है कि उससे मानव का सहसा छुटकारा नहीं हो सकता है।

एक बार पशुओं का एक बड़ा झुंड इकट्ठा हुआ और उसमें उन्होंने 'मनुष्य मिल्कियत से बड़ा माना जाता है' इस विषय पर चर्चा की। उनमें से एक ने कहा—मानव भले ही मिल्कियत से बड़ा बना हो लेकिन जब वह मिल्कियत के लिये जमीन खोदता है तो उसमें से क्या पाता है? कोयला और तेल ही तो उसे मिलता है। अधिक गहरा खोदता है तो चमकता हुआ कोयला जिसे वह हीरा कहता है उसे मिलता है। वह दरिया में गहरा उतरता है तो मछलियों का पेट चीर कर उसमें से मोती निकाल लाता है। लेकिन वह इन सब मोती और हीरों के पाने में कितना पाप कर डालता है? क्या इसका भी कभी उसने हिसाब लगाया है? ऐसी मिल्कियत मनुष्य को ही मुबारक हो हम पशुओं को उसकी जरूरत नहीं है।

मनुष्य वासनाओं का गुलाम होता है वह दूसरों को भी इनका गुलाम बना देता है। जिसके पास मिल्कियत न हो वह उसे पशु तुल्य समझता है। लेकिन पशु कहते हैं जो मिल्कियत वर्ग विग्रह का निमित्त बनती है उसे यदि मनुष्य अपनी पूंजी समझे, तो भले ही वह समझे, हमें तो ऐसी मिल्कियत नहीं चाहिये। इस प्रकार पशु तो उससे बच गये लेकिन मनुष्य ने तो आज उसे ही अपना सर्वस्व समझ रखा है।

एक समय भगवान् बुद्ध के दर्शनार्थ उग्र प्रसाद आया

और उनसे कहा--भगवान् ! हमारे नगर मे मिगार साहूकार बडा धनी है। उसके यहाँ अखूट धन-राशि का भण्डार है। भगवान् बुद्ध ने कहा--उग्र ! जिसको तुम धन कह रहे हो, वह सच्चा धन नही है। उसके पीछे तो कई तरह के भय लगे हुए हैं। चोर उसे लूट सकते हैं, अग्नि उसे जला कर खाक कर सकती है, और राजा उसका धन हरण कर सकता है। लेकिन मैं जिसको धन कहता हू, उसमे ये भय नही है। उग्र ने कहा--भगवन् ऐसा कौनसा धन है जिसका नाश नही होता है। भगवान् बुद्ध ने कहा--मेरा धन सात प्रकार का है। श्रद्धा, शील, लज्जा, अवतृप्य, श्रुत, प्रज्ञा और त्याग ये सात प्रकार के धन ही सर्व श्रेष्ठ धन हैं। इनका कभी नाश नही होता है अत यही मिल्कियत बढानी चाहिये। लेकिन मनुष्य आज सुख-शान्ति के बजाय दु ख ही बढाता जा रहा है। पशुओ ने कहा--मानव रोज रोज हीरा-मोती बढाता जा रहा है; लेकिन इसके साथ वह रोज-रोज भूखमरी भी बढाता जा रहा है। इसलिये वह सुख नही दुख ही बढा रहा है। तब भगवान् बुद्ध ने कहा--पहली मिल्कियत दुख बढाने वाली है और दूसरी सुख देने वाली। अत पहली मिल्कियत छोड कर मनुष्य को दूसरी मिल्कियत बढानी चाहिये।

भगवान् बुद्ध ने सात प्रकार का धन बताया और उनमे सब से पहला धन 'श्रद्धा' को कहा। अब देखना यह है कि हमारे पास यह धन है या नही ? आज की श्रद्धा हमारी सच्ची श्रद्धा नही है। श्रद्धा यानी दृढ विश्वास। जैसें आज हमे यह विश्वास और श्रद्धा है कि अग्नि में हाथ डालने से हाथ जल जाता है और सर्प के काटने से मनुष्य मर जाता है, वैसे ही

हमको यह भी श्रद्धा होनी चाहिये कि राग और द्वेष विषय और कषाय मनुष्य को मार डालते हैं अतः इनसे भी बचकर रहना चाहिये। लेकिन आज के जीवन से यह सिद्ध होता है कि हमको इन पर विश्वास नहीं है।

श्रद्धा एक ऐसा तत्त्व है कि मानव कितना भी बुद्धिशाली क्यों न हो पर श्रद्धा के अभाव में उसका जीवन विपरीत दिशा की ओर ही गति करेगा।

यूरोप में माइकेल ऐंजिलो नामक एक चित्रकार था। उसकी चित्रकला बड़ी लोकप्रिय थी। उसकी लोक प्रियता को देखकर एक दूसरे चित्रकार को उससे ईर्ष्या हुई। उसने सोचा —लोग मेरा भी गुणगान क्यों नहीं करते हैं? क्या मैं चित्र कार नहीं हूँ? एक बार एक ऐसा चित्र बनाऊँ कि जिससे लोग माइकेल ऐंजिलो को तो भूल जायें और मैं ही लोगों की जबान पर चढ़ जाऊ। यह सोचकर उसने एक स्त्री का चित्र बनाना शुरू किया। उसने देश-विदेश घूम-घूमकर सुन्दर स्त्रियों को देखा और उनके सुन्दर-सुन्दर अवयवों को देखकर अपने चित्र में उन्हें उतारा। जब चित्र पूरा हो गया तो वह उसकी सुन्दरता का पता लगाने के लिये कुछ दूर जाकर उसे देखने लगा। चित्र में उसे कुछ कमी दिखाई देने लगी। लेकिन कमी क्या थी? यह वह नहीं समझ सका। एक दिन माइकेल उसी रास्ते से आ रहा था। जब उसकी नजर उस चित्र पर पड़ी तो उसे वह चित्र बहुत सुन्दर लगा। लेकिन उसमें जो कमी रह गई थी वह उसे तत्काल याद आ गई। इसलिए वह उस चित्रकार के घर में गया और उससे कहा—भाई तुम्हारा चित्र तो बड़ा सुन्दर है पर उसमें एक कमी रह गई है। चित्र

कार ने कहा—कमी तो मुझे भी लगती है, पर क्या कमी है ? यह नही मालूम होती। माईकेलो ने कहा—तुम जरा अपनी तूलिका दो, मै इसे ठीक कर देता हूँ। चित्रकार ने कहा—नही भाई, कही तुम मेरा चित्र विगाड दोगे तो मेरी सारी मेहनत ही वेकार हो जायगी। माईकेल ने कहा—तुम जरा अपनी तूलिका तो दो। मैं तुम्हारा चित्र खराव नही होने दूँगा। चित्रकार ने अपने चित्र की आँखो मे काली विन्दी लगाना छोड दिया था, माईकेल ने दोनो ही आँखो मे दो टिपके लगा दिये। फिर तो वह चित्र वोलता हुआ नजर आने लगा। तव उस चित्रकार ने माईकेल से पूछा—भाई, तुम्हारा नाम क्या है ? माईकेल ने कहा—भाई, मेरा नाम माईकेल है तव तो उस चित्रकार ने माईकेल से क्षमा मागी और उससे कहा—भाई, वस्तुत तुम्ही सच्चे कलाकार हो। मैने तुम से ईर्षा कर बुरा ही किया। वन्धुओ ! हमारे जीवन मे भी श्रद्धा का स्थान आँख की काली कीकी जैसा है। जैसे आँख हो, पर उसमें काली कीकी न हो तो आँख होते हुए भी कुछ दिखाई नही देता है, वैसे ही श्रद्धा के विना जीवन भी सुनसान होता है। श्रद्धा के विना कोई काम पूरा नही हो सकता है। आज हम डाक में पत्र डालते हैं, और तीन दिन के वाद वह अमुक पते पर पहुँच जायगा, ऐसा हमे विश्वास होता है। वैङ्क मे रुपये जमा करा देने पर भी हमे यह श्रद्धा होती है, कि जब चाहेगे तव वे हमे वापिस मिल जायेंगे। उसी तरह हमें यह श्रद्धा भी अवश्य होनी चाहिये कि अहिसा, सत्य, ब्रह्मचर्य का यदि हम पालन करते हैं तो इनका फल भी हमें मिलेगा ही। इसमें शका नही होनी चाहिये। लेकिन आज हमारे जीवन में श्रद्धा

नहीं है। इसीलिए तो पैसे के खातिर भी हम अपने अनमोल सत्य को बेच देते हैं। हमारे शास्त्रों में भी कहा है—"सद्धा परम दुल्लहा" श्रद्धा बड़ी दुर्लभ है और वही सच्चा धन है। लेकिन आज हमें इस धन पर विश्वास कहाँ रहा है?

भगवान् बुद्ध ने जो दूसरा धन बताया है वह है शील। शील यानी सदाचार, जीवन का अच्छा आचरण। इसमें सत्य अहिंसा ब्रह्मचर्य मादक पदार्थों का त्याग आदि सभी आजाते हैं। मनुष्य चोरी करे या व्यभिचार करे तो उसे सदाचारी नहीं कहा जा सकता है। अतः शील के विशाल अर्थ को समझ कर इसका पालन करना चाहिये। यह मनुष्य का दूसरा शाश्वत धन है।

तीसरा धन है—लज्जा। अर्थात् खराब काम करते हुए मनुष्य को शर्म आनी चाहिये। यह लज्जा तीसरा धन है।

चौथा है अवद्य यानी लोकापवाद का भय। खराब काम करते समय मनुष्य को यह भय होना चाहिये कि मैं ऐसा कोई काम नहीं करूँ जिससे कि लोग मेरी निन्दा करें। लोकापवाद अच्छे काम करने पर भी होता है और बुरे काम करने पर भी। लेकिन मनुष्य को दोनों ही अवस्था में यह सोचना चाहिये कि मैं जो करता हूं वह ठीक है या नहीं? अगर ठीक है तो फिर लोकापवाद के भय से घबराना नहीं चाहिये और अपना काम करते जाना चाहिये।

जर्मनी के एक बड़े तत्ववेत्ता के पास एक आदमी आया और बोला—भाई तुम्हारी साधना की तो लोग बड़ी निन्दा करते हैं। अतः तुम इसे छोड़ क्यों नहीं देते? तत्ववेत्ता ने अपने सिर पर हाथ फिराते हुए कहा—भाई, कुदरत ने मुझे

दिमाग ही दिया है, उसके बजाय यदि उसने मुझे खूटी दी होती तो मैं दूसरे के अभिप्राय पर भी लटक जाता। दुख है कि मुझे वह रूप नही मिला। मुझे तो विचार-शक्ति मिली है, अत सारासार का निर्णय तो मै ही कर सकता हूँ। स्वामी विवेकानद ने भी एक वार कहा था—दुनिया भले ही तुम्हारे अच्छे काम की निंदा करे, पर तुम उसकी कुछ भी परवाह मत करो और अपना काम किये जाओ। यह लोकोपवाद चौथा धन है।

पाचवा श्रुत धन है—यानी चाहे जिस प्रसग मे भी ज्ञान का सतुलन कम ज्यादा नही होने देना और विवेक को सदा क़ायम रखना श्रुत है, दूसरे की भलाई के लिये क्या करना चाहिये ? यह सोचना श्रुत है। श्रुत का अर्थ केवल बाह्य शास्त्रो को याद कर लेना या बिना समझे बूझे ही बोलते जाना मात्र ही नही, पर विवेक को सतत जागृत रखना श्रुत है। दूसरो की सेवा मे सुख है—इसको याद रखना श्रुत है। यही श्रुत धन है।

छठा धन है प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि। आपत्ति के समय मे बुद्धि को जागृत कर प्राप्त सकट से छुटकारा पाना प्रज्ञा है।

सातवा धन है त्याग। उपरोक्त सब धन हो, पर स्वार्थ-त्याग की भावना न हो तो कोई भी वस्तु उपयोगी नही हो सकती है। जब तक मनुष्य त्याग का आचरण नही करेगा तब तक किसी का कल्याण नही हो सकता है। त्याग के बिना गाधीवाद या समाजवाद कोई भी वाद क्यो न हो, किसी से भी कल्याण नही हो सकता है। इसलिये भगवान् बुद्ध ने आखिरी धन त्याग को कहा है। इसके बिना कोइ भी सिद्धान्त

न तो जीवन में उतारा जा सकता है और न दूसरों का कल्याण ही किया जा सकता है।

श्रद्धा भी त्याग से ग्रहण की जा सकती है। त्याग के बिना कुछ भी सारयुक्त नहीं है। अतः भगवान् बुद्ध ने त्याग को आखिरी धन कह कर उसकी महत्ता बताई है। उक्त सात प्रकार के धन ही शाश्वत धन हैं दूसरे सब नाशवान् जड़ धन हैं। शंकराचार्य ने कहा है —

अर्थमनर्थं भावय नित्यम्

अर्थ को अनर्थकारी ही समझो। दुनियां की मिल्कतों ने जितने अनर्थ आज तक किये हैं उतने दूसरों ने नहीं किये हैं। शंकराचार्य का यह वाक्य बड़ा ही सारयुक्त है। अतः भगवान् बुद्ध ने उग्र से कहा—हे उग्र ! अगर तू अपना कल्याण चाहता है तो ऐसे अनर्थकारी धन का त्याग कर और मेरे इस शाश्वत धन को ग्रहण कर। इससे तू अपना इहलोक और परलोक दोनों को सुधार सकेगा। हम भी अगर इन शाश्वत धन सम्पत्ति का संग्रह करेंगे तो अपना जीवन सुखी बना सकेंगे।

५ अगस्त १९४८

१६

परिग्रह के नये रूप

डाक्टर यो कहते हैं कि हमारे शरीर मे भले ही कितनी बीमारिया हो, पर जब तक अपना हृदय मजबूत हो, तब तक उस मनुष्य को किसी तरह का भय नही रहता। लेकिन यदि व्याधि न हो और हृदय कमजोर हो तो उस मनुष्य का जीवन खतरे मे रहता है। हमारे जीवन मे भी चारित्र हमारा हृदय है। मनुष्य भले ही धनवान् या विद्वान् हो, पर उसका चारित्र रूपी हृदय सुरक्षित न हो तो उसकी जिन्दगी भी खतरे मे समझनी चाहिये। अत जैसे हमारे शरीर मे हृदय का स्थान महत्त्वपूर्ण है, वैसे ही हमारे जीवन मे चारित्र का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। इस चारित्र के पाच अग हैं, जिनको अन्य धर्मों ने भी अहिंसा 'सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्यमपरिग्रह' के नाम से माने हैं। अपरिग्रह उस चारित्र का पाँचवा अग है, जिसका अर्थ है जड वस्तुओ का सग्रह नही करना। यो तो हमारा शरीर भी जड है और इसको चलाने के लिये दूसरी जड वस्तुओ की भी जरूरत रहती है, लेकिन जीवन पूर्ति के हद तक ही, इससे अधिक का सग्रह करना परिग्रह है।

मानव आज धन को नही खा सका है, पर धन मनुष्य को खा गया है। क्या धन हमारी मनुष्यता हजम नही कर गया है? इस धन से जब तक दूर नही रहा जाय तब तक अहिंसा सत्य आदि का पालन नही किया जा सकता है। अत जहाँ

तक जीवन में परिग्रह रहेगा वहाँ तक अहिंसा सत्य और अचौर्य की बुनियाद नहीं डाली जा सकेगी। क्योंकि इनका पाया ही अपरिग्रह है। अपरिग्रह के पाये के बिना अहिंसा और सत्य का महल कदापि नहीं बनाया जा सकता है।

अन्याय और हिंसा से जो चीज इकट्ठी की जाती है उससे हमारी बुद्धि ही नहीं बिगड़ती जिसके पास भी वह जाती है उसकी बुद्धि भी बिगड़ जाती है लाभ तो उससे कुछ होता ही नहीं है।

एक अब्बु-अब्बास नामक मुसलमान भाई था जो बड़ा सीधा-सादा जीवन व्यतीत करता था। वह टोपियों को सीकर अपना गुजारा चलाता था। रोज वह एक टोपी सीकर दो पैसे लेता था जिसमें से एक पैसा तो वह दान मे देता था और दूसरे पैसे से अपना गुजारा कर लेता था। वह जमाना ही ऐसा था कि उस समय एक पैसे मे भी गुजारा चल जाता था अब्बु अब्बास जब अपनी एक टोपी बेच देता था तब वह दूसरी टोपी बनाता और उससे भी वह दो पैसे लेता था। जिसमें से एक पैसा दान में दे देता और दूसरे से अपना निर्वाह करता। ऐसा वह रोज रोज किया करता था। वस्तुतः वह जाति से तो मुसलमान था पर क्या उसे अपरिग्रही नहीं कहा जायगा? इतना तो कहना ही पड़ेगा कि उसे हमारे अपरिग्रह व्रत का ज्ञान था। उसका एक दूसरा सबंधी बड़ा धनवान था। उसने अपना सारा धन अनीति से संग्रह किया था। लेकिन था वह बड़ा जिज्ञासु। एक दिन वह अब्बु अब्बास के पास आया और बोला—भाई मुझे कुछ रुपयों का दान करना है अतः जिन्हें तुम कहो उन्हीं को

मैं यह दान दूँ। अब्बु अब्बास ने कहा–भाई, तेरा विचार तो अच्छा है, लेकिन तेरा यह पैमा अनीति का है अनीति का पैमा जिसके पास होता है वह उसकी वुद्धि भी भ्रष्ट करता है और जिसके पास जाता है उमकी बुद्धि भी बिगाड देता है। मेरी इम बात पर अगर तुमको विश्वास नही आता हो तो भले ही तुम अपने रुपयो का दान दो, लेकिन फिर उसका परिणाम अवश्य देखना। वह पुरुष अब्बु अव्बास की वात सुन कर बाजार मे आया और वहाँ उसने एक गरीब अन्धे भिखारी को एक मोहर दान मे दी। अन्धे भिखारी ने उससे शराब पी और वेश्या के यहाँ जाकर उसको खर्च कर दिया। वन्धुओ, शकराचार्य ने जो यह कहा है–'अर्थमनर्थ भावय नित्यम्, विल्कुल यथार्थ कहा है। ऐसा अनर्थकारी धन जिसके पास होता है। उसकी बुद्धि तो बिगाडता ही है, साथ ही जिसके पास जाता है उसकी बुद्धि भी बिगाड देता है। जब उस पुरुष ने उस अधे भिखारी के काम को देखा तो उमने अब्बु अब्बास के पास आकर कहा–भाई, तुमने विल्कुल ठीक बात कही थी। मेरे पैसे ने दूसरे की भी बुद्धी खराब ही की। तब अब्बु अव्बास ने उसे अपना एक पैसा दिया और कहा–लो, अब इसे तुम किसी गरीव को देना और फिर देखना कि वह क्या करता है? वह पैसा लेकर वाहर निकला तो चलते,चलते एक ऐसे भूखे पुरुष को देखा, जो एक मरे हुए पक्षी को देख कर खाने की सोच रहा था। जब उसने वह पैसा इस भूखे पुरुष को दिया तो वह वडा खुश हुआ और वोला–भाई, ईश्वर तुम्हारा भला करे। मैं तो अभी इस मरे हुए पक्षी को खाने की मोच रहा था, पर अव इस पैसे मे चने लेकर खाऊँगा

और भविष्य में मजदूरी करके जीवन-निर्वाह करूंगा। जब उसने यह बात भी प्रभु से आकर कही तो प्रभु मुस्कराये और कहा—अन्याय और अनीति का पैसा जहाँ भी जाता है अन्याय और अनीति ही पैदा करता है।

आज हम भी अपनी अनीति का पैसा छोड़ कर चले जाते हैं। लेकिन उसका प्रभाव हमारी सन्तान पर कैसा पड़ता होगा इसका भी क्या कभी विचार किया है? लाभ से लोभ बढ़ता ही है। अतः हमारा यह पैसा हमारे लिये तो दुःखदायी होता ही है पर जिसको दिया जाता है उसका भी नाश करता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है—"लोभो सव्व विणासणो" लोभ सबका विनाशकारी है। अतः परिग्रह का त्याग करना सबसे पहले आवश्यक है। जरूरत से ज्यादा का त्याग करना ही अपरिग्रह है।

जड़ वस्तुओं का संग्रह करना तो परिग्रह है ही साथ ही साथ साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता का पूजन भी एक तरह का परिग्रह ही है। यह मेरा सम्प्रदाय है और साधु ही पूजनीय हैं ऐसा समझना भी परिग्रह ही है। साम्प्रदाय भले ही एक नहीं अनेक हों पर साम्प्रदायिकता हमारे में नहीं होनी चाहिये। जहाँ पक्षपात है वहीं पक्षघात भी है जो एक न एक दिन मरणासन्न कर ही देता है। अतः ऐसा पक्षपात होना भी परिग्रह है।

आज जैसे हमारे समाज में धन का परिग्रह है वैसे ही इस साम्प्रदायिकता का भी परिग्रह घर कर गया है। इसको दूर करने के लिये भगवान् ने स्याद्वाद का मार्ग बतलाया है। उन्होंने कहा है—तुम सबको अपनी दृष्टि से ही नहीं उनकी

दृष्टि से भी देखो। तुम्हारे माता-पिता तुम्हारे लिये पूज्य हैं, पर वे ही दूसरो के लिये भी पूज्य हो, यह कैसे कहा जा सकता है ? तुम्हारे नियम तुम्हारे लिये ठीक हो, पर वे ही दूसरो के लिये भी उपयोगी हो, यह कोई नियम नही है। कोई स्वाध्याय से अपनी आत्म शुद्धि करे, पर दूसरा माला फिरा कर भी शुद्धि कर सकता है। अत साम्प्रदायिकता का परिग्रह भी नही रखना चाहिये।

आज रूस की राजधानी मास्को की दीवारो पर लिखा हुआ है कि "जनता के लिए धर्म अफीम की गोली के समान है।" क्या सचमुच धर्म अफीम को गोली है ? धर्म नही, पर धर्म के नाम पर फैली हुई साम्प्रदायिकता वस्तुत अफीम की गोली हैं। धर्म बुरा नही, लेकिन धर्म के नाम पर होने वाला लडाई झगडा बुरा है। धर्म के रूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि को कोई खराब नही कहता है। सब इनको किसी न किसी अश मे मानते ही हैं। लेकिन इनके नाम पर होने वाली साम्प्रदायिकता बुरी है—जहर है। वह अफीम की गोली है। अत धर्म का नही, पर उसका त्याग करना जाहिये।

राष्ट्रीयता भी इसी तरह का एक परिग्रह है। अपने राष्ट्र के कल्याण के लिये जैसे चाहे वैसे कुकर्म कर सकते हैं, ऐसा मानना भी परिग्रह है। धर्म का परिग्रह अगर अफीम है तो राष्ट्रीयता का परिग्रह शराब है आज अणुवम की [illegible] हुई है वह इसी राष्ट्रीयता के परिग्रह से हुई है। [illegible] ध्येय केवल अपने राष्ट्र के लिये ही नही होना चाहिए उसमें विश्व-बधुत्व की कल्याणकारी भावना का [illegible] होना चाहिये। अत अपने देश के कल्याण के लिये [illegible]

अमर्ष करना भी परिग्रह है।

किसी के पास पैसे का परिग्रह न हो पर साम्प्रदायिकता का या राष्ट्रीयता का परिग्रह हो तो वह अपना कल्याण नहीं कर सकेगा। अतः पैसा के परिग्रह के साथ-साथ जब हम साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता के परिग्रह से भी अलग होंगे तभी हम अपना कल्याण कर सकेंगे।

प्रायः कहा यह जाता है कि जिनके पास पैसा नहीं होता वे अपने को अपरिग्रही समझ लेते हैं। लेकिन उनका यह समझना ठीक नहीं है। पैसे नहीं होने से कोई अपरिग्रही नहीं कहा जा सकता है। जब तक हृदय से धन प्राप्ति की कामना दूर न हो तब तक परिग्रही होते हैं। धनवान तो अपना धन तिजोरी में रखते हैं पर ग़रीब का धन उसके हृदय में रहता है। अतः जब तक इच्छाओं का अन्त न हो जाय तब तक वह परिग्रही ही कहा जायगा। इस प्रकार चारों तरफ से विचार करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धन का संग्रह न करना दूसरों के प्रति असहिष्णुता न रखना स्याद्वाद का अनुगमन करना यानी 'ही' के बदले 'भी' का प्रयोग करना और अपने देश का ही नहीं सबका भला सोचना ही अपरिग्रह व्रत है। ऐसी विविध कल्याण-भावना जब हमारे हृदय में होगी तभी हम अपरिग्रह का पालन कर सकेंगे।

— स्थिर रख सकेंगे। अपरिग्रह हमारे पूर्वोक्त

•। अतः इस अपरिग्रह पर

त होगा तो हम इस

भी बलकर जन-कल्याण

१ अगस्त १९४८

■

■

१७

शान्ति कहाँ है ?

दुनिया मे हर एक मनुष्य या प्राणीमात्र शान्ति चाहता है। वह शान्ति के लिये अथक प्रयत्न करता है। सुख के लिये वह कोई कसर उठा नही रखता है। लेकिन वह सुख है कहाँ और मिलता कैसे है ? यही हमे विचारना है। सुख और शाति को पाने के लिये, हमारे इतने प्रयत्न होने पर, हमको सुख मिला क्यो नही ? इसका यही कारण है कि शान्ति कहाँ है ? यह हम जानते नहीं हैं। कई एक जड बुद्धि वाले मनुष्य पैसो में सुख समझते हैं। लेकिन उसको इकट्ठा करने पर भी उन्हे सुख नही मिलता। कोई सत्ता मे शान्ति समझते हैं पर सत्ता पाकर भी उन्हे शान्ति नही मिलती। इस प्रकार मनुष्य वाह्य वस्तुओ में सुख की खोज करता है, लेकिन उसे वह मिलता नही है। अन्तत वह उससे वचित ही रहता है। सच है, जो वस्तु मनुष्य के हृदय मे रहती हो वह भला वाहिर की वस्तुओ मे मिल भी कैसे सकती है ?

एक गरीव बुढिया अपनी झोपडी मे रहती थी। वह इतनी गरीव थी कि उसके पास दीपक जलाने के लिये भी तेल नही था। एक दिन जव वह अधेरे मे वैठी-वैठी अपनी धोती सी रही थी तो सीते-सीते उसकी सुई नीचे गिर पडी। अधेरा होने से उसको वहाँ अपनी सुई नजर नही आई। तव वह अपनी

झोंपड़ी से निकल कर म्युनिसिपैलिटी के लैम्प के नीचे गई और वहाँ वह अपनी सुई खोजने लगी। इतने में उधर से एक भला आदमी निकला। उसने बुढ़िया से पूछा—माँ जी तुम यहाँ क्या ढूंढ रही हो ? बुढ़िया ने कहा—मेरे घर में सुई खो गई है लेकिन वहाँ रोशनी नहीं होने से मैं यहाँ ढूंढ रही हूँ। आदमी ने कहा—माँजी तुम्हारी सुई तो तुम्हारे घर में गिरी है यहाँ ढूंढने से कैसे मिलेगी ? बंधुओ ! जैसे बुढ़िया भूल कर रही थी वैसे ही हम भी आज भूल कर रहे हैं। जो सुख हमारे भीतर ही है उसे हम बाहिर ढूंढ रहे हैं। तब वह कैसे मिल सकता है यदि हमें शान्ति का अमृतपान करना है तो सद्गुणों की गिरिमालाओं के पास जाना ही चाहिये। वह शान्ति का अमृत धन सत्ता या विषय-विलास में नहीं है।

हम किसी पर क्रोध करें तो उससे पहले अपने को ही दुःख होता है। जो आग दूसरों को जलाती है उसे अगर हम अपने हाथों में लेकर दूसरे पर फेंके तो दूसरों का जलाने से पहले वह हमारे ही हाथ जलायेगी। इसी तरह विषय-कषाय आदि दूसरों को तो दुःख पीछे देते हैं पर उससे पूर्व हम को ही दुःखी करते हैं।

हमारे सुख या शान्ति का झरना बन मे नहीं है। शान्ति का निर्मल जल तो अपने हृदय में ही होता है। प्रमोद आदि सद्गुणों से ही मनुष्य उसका पान कर सकता है और अपना जीवन उन्नत एव सुखी बना सकता है। मानव की आकृति होने पर भी यदि उसमें सद्गुण न हों तो उसे मानव नहीं शैतान समझना चाहिये। सद्गुणों के विकसित होने पर ही मानव अच्छे से अच्छा बन सकता है और अपने चरम ध्येय तक पहुँच

सकता है । अग्रेजी मे कहा है–'भलाई का वदला बुराई से देना हैवानियत है । इसमें पाशविकता या पैशाचिकता समाई हुई रहती है ।' तो फिर मानवता किसका नाम है ? इसका उत्तर यह है, कि जो वदला भी भलाई से लेता हो, लेकिन जो बुराई का वदला भी भलाई से देता हो, वह दिव्यत्व है । इसी मे ईश्वरत्व का अश भी छिपा हुआ रहता है । भगवान् महावीर को सगम ने कैसे भीषरण कष्ट दिये थे ? भगवान् महावीर ने उन कष्टो को तो सहन किया ही था, लेकिन इसके फलस्वरूप सगम को कितना कष्ट उठाना पडेगा, यह सोचते हुए वे रो भी पडे थे । सगम के दिये हुए कष्टो को वे हसते-हसते सह गये, पर भविष्य मे होने वाले सगम के कष्टो को वे नही देख सके । उनकी आँखो से वरवस आँसू निकल ही पडे । यही ईश्वरत्व है । ईशु ख्रिस्त को जव सूली पर लटकाया जा रहा था, तव उसने कहा था—

> Oh I father forgive them, they do not know what they do

'हे ईश्वर ! तू इन लोगो को क्षमा कर। इन्हे अपने कर्मो का भान नही है । तू इनके गुनाहो को माफ करना ।'

इस प्रकार बुराई का वदला भी भलाई से देना दिव्यत्व कहा जाता है और यही ईश्वरत्व का अश भी है । मानवात्मा मे जव यह दिव्यत्व समा जाता है तव वह परमात्मा वन जाता है ।

पत्थर फेकने पर भी वृक्ष हमें फल ही देता है । एकेन्द्रिय वृक्ष का भी जव यह हाल है तो फिर पचेन्द्रिय मानव का यदि कोई बुरा करे तो वदले मे उसे कितनी भलाई करनी

चाहिये ? बुराई करने पर भी जो भलाई करता है वही ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है। रूप से मानव होते हुए भी यदि हममें सद्गुण न होंगे तो हम मानव नहीं दानव ही कहे जायेंगे ।

मनुष्य आकृति से जन कहाते है। लेकिन सद्गुणों से सज्जन और अधिक गुणों का उपार्जन करने पर वे महाजन बनते है तथा दुर्गुणों के होने पर दुर्जन भी बनते हैं। अब हम देखना यह है कि आज हम जन से सज्जन और महाजन बनने के बजाय कहीं दुर्जन तो नहीं बन रहे है ? लेकिन सज्जन और महाजन तो उसे कहते है जो बुराई का बदला भी भलाई से देते है। कई मनुष्य तो ऐसे भी होते है जो भलाई करने पर भी बुराई करते है। उन्हे जन कहे या दुर्जन ? जैसे कोई मनुष्य सीढ़ियों पर चढ कर खड़ा हो तो उसे ऊपर या नीचे जाना ही होगा। वहाँ वह नहीं रह सकता है। इसी तरह हम भी जन की सीढी पर खड़े है। ऊपर चढ़ेगे तो सज्जन बनेगे नहीं तो दुर्जन होंगे ही। घड़ी का कांटा जैसे चाबी देने पर रुकता नहीं है और काल का चक्र सदा चलता रहता है' रुका नहीं रहता उसी भांति मानव की गति भी रुकी नहीं रहती। अगर वह ऊंचा चढ़ता है तो सज्जन बनता है अन्यथा दुर्जन तो होगा ही। क्योंकि मानव की गति तो जब तक सांस है तब तक होने की ही है अतः उत्थान नहीं तो पतन अवश्यम्भावी होगा ही।

हम लोगों को आज सब तरह के साधन सहज ही प्राप्त हुए है अमेरिका के लोगों को तो मीलों घूमने पर सद्गुरु के दर्शन होते हैं। लेकिन हमें यह सहज ही मिले है। हम

सहज ही मिले हुए साधनो का उपयोग कैसे करे ? यह समझ लेना आवश्यक है। तभी उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब चीन गये थे तब उनका वहाँ बडा आदर-सत्कार किया था। चीन के लोगो ने भारतीय वाङ्मय का अध्ययन किया था और उससे उन्हें जो अनुभव हुआ, उसके आधार से उन्होने कवीन्द्र रवीन्द्र से कहा —'तुम्हारे देश के मानव कभी चोरी नही करते है, लडते नही हैं, हिंसा नही करते है, झूठ नही बोलते हैं, अहा! तुम्हारे देश के मानव कितने पवित्र होगे ? यह सुनकर रवीन्द्र की आँखो मे से आँसू निकल पडे थे। उन्होने कहा था—'भाई हिन्द देश जैसा तुम कह रहे हो वैसा आज नही रहा है। मेरे देश के मानव आज झूट भी बोलते हैं, और चोरी भी करते हैं और दुराचार भी करते हैं।'

बन्धुओ, जिस देश के प्राचीन शास्त्रो को पढ कर मनुष्य इस तरह का उच्च विचार करता है, उस देश के लोग अगर इन सहज ही मिले हुए साधनो का सदुपयोग नही करे, तो यह कैसी विस्मयजनक बात होगी ? क्या यह चिन्तामणि रत्न को कांच का टुकडा समझकर फेंक देने जैसी बात नही है ? अत हमे यह सदा याद रखना चाहिये की हम जन से सज्जन और महाजन बने। बुराई करने वाले का भी भला ही करे। किसी ने हमे गाली भी दी तो उसमे हमारा क्या नुकसान होने वाला है ? नुकसान तो उसी को हुआ जिसने हमे गाली दी। अत यदि हम जन से सज्जन बनना चाहते हैं तो हमे गाली देने वाले को भी आशीर्वाद ही देना चाहिये।

बाईबिल में कहा है—Bless them those curse you जो तुम्हें श्राप दे उसे भी तुम आशीर्वाद दो। Love your enemies तुम अपने शत्रु से भी प्रेम करो। यही भावना हमारे 'मित्ति मे सव्व भूएसु' में अंकित किया गया है। यदि हमारे साता वेदनीय कर्म का उदय होगा तो क्या किसी के श्राप देने पर भी बुरा हो सकेगा? और यदि असाता का उदय होगा तो क्या वह किसी से टाला जा सकेगा। हमारे हृदय में ऐसा दृढ़ विश्वास होगा तो हम जन से सज्जन बन सकेंगे। लेकिन आज ऐसी दृढ़ श्रद्धा कहाँ है। श्रद्धा होती तो आज हम बुरे के साथ भी भला ही करते होते। अनार्यों ने भी जब यह कहा है कि 'तुम्हारे साथ जो बुरा करे उसका भी तुम भला करो'। तो फिर अपने को जो आर्य कहते हैं उनको तो उससे भी ऊपर उठना चाहिये। तभी उनका आर्य कहना और होना सार्थक है। यदि हम भला नहीं कर सकें तो बुराई के बदले बुरा तो नहीं करें, किसी का नुकसान तो नहीं करें। हमारी तरफ से किसी का कल्याण हो या न हो पर हमारी तरफ से किसी को कष्ट नहीं हो—ऐसी भावना तो जरूर होनी चाहिये। यही जन की कोटि है। मनुष्य महाजन या सज्जन न बने पर उसे 'जन' तो बने रहना चाहिये। जन से दुर्जन की कोटि में तो नहीं जाना चाहिये।

हमें आज इतने साधन मिले हैं। पुण्यशाली मनुष्यों को जो साधन मिलते हैं वे आपको मिले हैं। इनका सदुपयोग कर जब हम जन की कोटि से महाजन और सज्जन की कोटि में पहुँचेंगे तभी वास्तविक शान्ति और सच्चे जीवन-सुख को प्राप्त कर सकेंगे। ७ अगस्त १९४८

१८

सम्यक्-चारित्र

एक मकान का पाया बहुत गहरा और मजबूत हो, दीवारे चौडी और सगीन हो, रग-रोगन सुन्दर किया गया हो, चारो तरफ खिडकियां (झरोखे) बहुत हो, पर ऊपर की छत न हो तो ? सब सुन्दर और मजबूत हो, पर जैसे छत के बिना सारा मकान बेकार होता है, वैसे ही आचार के बिना—सम्यक् चारित्र के बिना ज्ञान भी व्यर्थ होता है। ज्ञान की दीवार भले ही बडी मज़बूत और गहरी हो, पर आचार की छत न हो तो वह बेकार होती है—व्यर्थ होती है। रावण बडा बली था, पराक्रमी था। उसके बल के सब कायल थे। लेकिन फिर भी वह आज निन्दा का पात्र क्यो बना हुआ है ? सदाचार की उसमे खामी (कमी) थी, इसीलिये आज वह निन्दा का पात्र बना हुआ है। ज़रा सोचिये कि आज रामचन्द्र तो सब अपने लडके का नाम रखते हैं, पर रावण क्यो नही रखते ? इस प्रश्न के मूल मे भी अगर हम जावेंगे तो सदाचार की भावना ही पावेंगे, जिसके वशीभूत होकर ही मानव ऐसा करते है।

हमारे समाज मे आज मनुष्यो के दो भाग किये जा सकते हैं—१ ज्ञानवान्—चर्चा करने वाले और बाल की खाल

उतारने वाले जिनको अध्यात्म-शास्त्रों का ज्ञान होता है। २ मुखक वर्ग—जिसमे कुछ ज्ञान तो नहीं होता है पर जो मात्र कन्न के सुयोम-समोल शास्त्र के ज्ञाता होते हैं। दोनों (वर्ग) का ज्ञान तो है लेकिन सब कुछ जानते हुए भी अगर हृदय का ज्ञान नहीं हो तो ऐसा ज्ञान निस्सार होता है। हमारे उक्त दोनों ही प्रकार के ज्ञान भी ऐसे ही निस्सार हैं।

हम भोजन करें पर उसमें 'विटामिन' नहीं हो तो क्या वह हमारे शरीर को पुष्ट कर सकेगा? इसी तरह भले ही किसी को भगवती सूत्र के भांगों का बहुत अच्छा ज्ञान हो पर जीवन में उसका आचार-आचरण न हो तो वह आत्मा को पुष्ट नहीं कर सकेगा। कर भी कैसे सकेगा जब कि उसे मात्र रस द्वारा पचाया ही न गया हो?

कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक बार कहा था कि 'मानव आध्यात्मिक शास्त्र की तो बड़ी-बड़ी बातें करता है पर जब उसकी तमाखू की डिबिया गुम हो जाय तो वह लड़ाई लड़ने पर उतारू हो जाता है और उसके लिये आकाश-पाताल एक कर देता है।

हम रोज-रोज शास्त्रों को पढ़ें और सुने लेकिन बाजार में जाकर ग्राहकों से लड़ें—झगड़ें तो इससे क्या लाभ हो सकता है? ऐसा ज्ञान तो उल्टे घड़े पर पानी डालने जैसा या विटामिन रहित भोजन करने जैसा है। भले ही हमें भगवती के भांगे याद न हों पर सत्य दया क्षमा कुरु धर्मचर आदि वाक्य याद हों और वे अपने जीवन में पूरे-पूरे उतरे हुए हों तो समझ लेना चाहिये कि हम बहुत बड़े ज्ञानी बन गये हैं। लेकिन आज तो यह समझा जाता है कि जो धर्म की चर्चा अधिक कर सकता हो

वही सबसे बडा धर्मज्ञ माना जाता है। एक तरफ भगवती के भागो का विवेचन करने वाला, समयसार का निचोड कर देने वाला या गीता, कुरान और पुराण की रटन करने वाला एव चर्चा मे सबको परास्त कर देने वाला पुरुष हो और दूसरी तरफ एक सीधा-साधा ग्रामीण पुरुष हो, जिसने कभी इनके नाम भी न सुने हो, पर वह कभी क्रोध नही करता हो, असत्य नही बोलता हो, लडाई झगडा नही करता हो, तो कहिये—आप किसको धर्मात्मा कहेगे ? क्या समयसार का निचोड कर देने वाले को या जीवन मे सत्य का आचरण करने वाले को ? समयसार का निचोड कर देने वाला पुरुष भी अगर आचार मे धर्म का पालन नही करता है, तो उसका वह ज्ञान व्यर्थ होता है—सार रहित, भारवाही होता है। क्योकि आचार मे आने पर ही वह ज्ञान सारयुक्त और फल-दायी बनता है। अत आचार के पालने के लिये निम्न पाच बातो का सदैव ध्यान रखना चाहिये। इनसे मनुष्य की बुद्धि स्थिर होती है और वह श्रेय की तरफ आगे बढती है। उन पाच बातो मे सबसे पहली बात है—

जराधर्म—मनुष्य सदा यह विचार करता रहे कि मुझे वृद्धावस्था आने वाली है। इसका विचार करने से मनुष्य के हृदय मे जो तारुण्य का मद होता है वह निकल जाता है।

दूसरी बात है—व्याधि धर्म—शरीर व्याधियो का घर है, न जाने कब कौनसी बीमारी खडी हो जाय ? अत मनुष्य को सदा इसका खयाल होना चाहिये। इससे वह अपनी तन्दुरुस्ती कायम रख सकता है, बीमारो को देखने से उसे सेवा का भाव पैदा हो सकता है और अपने शरीर से ममत्त्व भी छूट सकता है।

तीसरी बात है—मरण धर्म—मनुष्य यह समझे, कि मुझे आखिरकार तो अपना कुटुम्ब छोड़कर जाना ही है। भले ही आज नहीं तो कल या दस साल बाद लेकिन जाना तो है ही। फिर इतने अनर्थ मैं क्यों करूं ? ऐसा अगर वह विचार करे तो इससे बुरे काम सब रुक सकते हैं। जब मनुष्य यह समझ जाय कि मुझे कुछ काल तक ही जीना है तो फिर क्या वह किसी से लड़ेगा झगड़ेगा ? अतः इससे अनिष्ट दूर किये जा सकते हैं।

चौथी बात है—प्रिय वस्तु का वियोग—मनुष्य यह समझे कि प्रिय वस्तुओं का वियोग तो होने का ही है फिर मैं उसमें दुःख या सुख क्यों समझूँ ? शास्त्र में लिखा है—एक बार चण्डप्रद्योत राजा ने उदायी राजा के साथ युद्ध किया। युद्ध करने का कारण यह था कि उदायी राजा की एक दासी बड़ी सुन्दर थी जिसको पाने के लिये ही चण्डप्रद्योत ने उदायी राजा पर आक्रमण किया था। इसी तरह कौणिक राजा ने हार और हाथी के लिये अपने नाना चेटक से युद्ध किया था। लेकिन जब मानव को इस बात का खयाल हो कि प्रिय वस्तु का वियोग तो होगा ही तो फिर क्या वह ऐसे अनिष्ट कार्य कर सकेगा ? अतः प्रिय वस्तु का वियोग भी अवश्यंभावी है ऐसा सदैव खयाल रखना चाहिये।

पाँचवीं बात है—कर्मफल—मनुष्य यह सदैव याद रखले कि अपने कर्मों का फल मुझे ही भोगना है। कुटुम्ब परिवार या दूसरा कोई उसे नहीं भोगेगा। इस प्रकार यदि हम इन पाँचों बातों का स्मरण रक्खें तो पाप कर्म से बच सकते हैं। भगवान् बुद्ध के समय की बात है—

राजा प्रसेनजित, एक दिन अपनी सवारी सजा कर जा रहे थे। चलते-चलते वे जब भगवान् बुद्ध के सामने आये, तब भगवान् बुद्ध ने उनसे पूछा—राजन्! आज कहाँ जा रहे हो?

राजा ने कहा—मेरे राज्य में कोई सिर ऊँचा करके तो नही देख रहा है—यही देखने के लिये मे जा रहा हू। भगवान् बुद्ध ने कहा—राजन्, अगर तुम्हारे ऊपर हिमालय जैसा महान् पर्वत टुट पडे और यह कहे कि तुम्हे जो करना हो कर लो तो उस समय तुम क्या करोगे?

राजा ने कहा—उस समय मै धर्म के सिवाय कुछ नही करूँगा।

बुद्ध ने कहा—राजन्! जरा-मरण और व्याधि का महान् पर्वत तेरे सिर पर मडरा रहा है। तू उनसे बचने का प्रयत्न कर। नगर मे कौन मनुष्य सिर उठा कर तुझे देख रहा है, यह पीछे देख। पहले तू अपने सिर पर मडराते हुये शत्रुओ से बच। भगवान् बुद्ध ने इनसे बचने के लिए उसे सदाचार का उपदेश दिया था। भगवान् महावीर ने भी क्या हमे यह नही कहा है कि 'जन्म-जरा और व्याधि ससार की आग है! सारा ससार इस आग मे जल रहा है। अत तुम्हे जो वस्तु चाहिए वह शीघ्र निकाल लो।' लेकिन आज आप कौनसी वस्तु निकाल रहे हैं? जो वस्तु नाशवान् है, आज आप उसी को निकाल रहे हैं। लेकिन नाशवान् वस्तु भी क्या कभी आपके साथ आ सकेगी? अत' आप शाश्वत वस्तु—सदाचार और धर्म को निकालिये, जो कि अन्त समय तक आपके साथ रहने वाली है, धन की तरह नष्ट हो जाने वाली नही। अत अगर हम इन शाश्वत वस्तुओ का सग्रह करेंगे तो हम अपना

कल्याण कर सकेगी। जरा व्याधि मरण प्रिय-वियोग और कर्मफल ये पांच वस्तुएँ तो मानव-जीवन के साथ सदा से लगी हुई हैं। लेकिन इनके लिये यदि हम किसी तरह का अनर्थ नहीं करें तो यही ज्ञान मानव को उन्नत बना सकता है।

आज हम क्रिया तो बहुत करते हैं पर उसका असर क्यों नहीं होता है? इसका कारण भी यही है कि हम खुराक तो खाते हैं पर 'विटामिन' रहित खाते हैं। हमारे जीवन में सदाचार का अभाव है। इसीलिये हमारी क्रियाओं का असर बिल्कुल नहीं होता है। अतः सदाचार को अपने जीवन में अवश्य उतारना चाहिए। पुराने जमाने की एक बात है। कौरव और पांडव द्रोणाचार्य के पास पढ़ते थे। एक दिन उन्होंने सब लड़कों को यह पाठ दिया कि क्षमां कुरु—क्षमा धारण करो। दूसरे दिन सब लड़कों ने यह पाठ याद कर गुरुजी को सुना दिया लेकिन युधिष्ठिर ने अपना पाठ नहीं सुनाया। तीसरे दिन भी जब आचार्य ने उससे पूछा तो युधिष्ठिर ने कहा—अभी मुझे अपना पाठ याद नहीं हुआ है। इस प्रकार ४ ५ दिन बीत गये लेकिन युधिष्ठिर ने अपना पाठ नहीं सुनाया। तब द्रोणाचार्य उस पर बहुत क्रोधित हुए और युधिष्ठिर को खूब मारा-पीटा लेकिन युधिष्ठिर शान्त रहा उसके मन में तनिक भी क्रोध नहीं आया। तब उसने कहा—आचार्य अब मुझे यह पाठ याद हो गया है। द्रोणाचार्य ने कहा—इतने दिनों तक तो नहीं हुआ था और अब कैसे याद हो गया? युधिष्ठिर ने कहा—मैं इसकी कोशिश कर रहा था कि कोई मुझे मारे-पीटे या क्रोध करे, पर मैं शान्त रहूँ क्षमा रक्खूं। आज आपने मुझे मारा-पीटा और

क्रोध भी किया, लेकिन मुझे तनिक भी रोप उत्पन्न नही हुआ है। अत आज आपका यह पाठ—क्षमा-कुरु—मुझे याद हो गया है। आचार्य युधिष्ठिर की वात सुन कर वडे खुश हुए और उनके विचारो की सराहना की। यहाँ कहने का मतलब इतना ही है, कि मनुष्य जितना भी जाने उसे आचरण मे उतारे, तो वह अपनी तरक्की कर सकता है। यही एक मात्र तरक्की का महान् साधन है। लेकिन आज हमारा क्या हाल हो रहा है? आज हम जितना जानते हैं उसका शताश भी आचरण में नही उतारते हैं। तव फिर तरक्की न हो इसमे किसका कसूर है? कौन नही जानता है कि गरीवो को नही सताना चाहिये, चोरी नही करनो चाहिये, व्यभिचार और हिंसा नही करनी चाहिये? जानते तो सब हैं, लेकिन आचरण मे कोई नही उतारते हैं। अत कोरा जानना ही धर्म नही है, वल्कि जान कर अपने आचरण मे उतारना धर्म है। यह समझ कर जो अपने धर्म को आचरण मे उतारेंगे वे अपने जीवन का कल्याण कर सकेंगे।

९ अगस्त १९४८

११

आचरण का महत्व

संस्कृत में कहा है—आचारः प्रथमो धर्मः—आचार ही सब से पहला धर्म है। हम कई शास्त्र पढ़ें और सुनें पर उनको अपने जीवन में नहीं उतारें तो उससे क्या लाभ? पशुओं पर चाहे जितने शास्त्रों का भार लादा जाय लेकिन वह उन्हें नहीं समझता अतः उसके लिये वह भार ही होता है। हम भी शास्त्र पढ़ें पर आचार में उन्हें नहीं उतारें, तो यह भी भार जैसा ही है। शास्त्रकारों ने एक बड़ा रोचक उदाहरण देते हुए कहा है— गधे पर चाहे चन्दन का भार डाला जाय पर वह जैसे उसको भारभूत ही होता है वैसे ही मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो पर आचरण में ज्ञान न हो, तो यह भी वैसा ही भारभूत होता है। इसीलिए आचार की महत्ता बताने के लिए उसे पहला धर्म कहा है।

आज से एक मास बाद सम्वत्सरि पर्व आने वाला है। हमने गत ११ महीनों में जो पढ़ा और सुना है उसे इस एक मास में प्रत्यक्ष यानी आचरण में उतार लें—यही उसकी सफलता है। कोई मनुष्य यह सोचे कि एक मास में हम क्या कर सकते हैं? तो उसका यह सोचना उचित नहीं है। मानव चाहे तो एक मास में ही बहुत कुछ कर सकता है।

एक आदमी ने अपने पुत्र को १ पाई दी और कहा—तुम इस पाई को एक मास तक दुगुनी-दुगुनी करते जाना। आज इस पाई की दो करना, कल चार, परसो आठ और फिर सोलह। इस तरह एक महीने तक करते जाना। बघुओ! एक पाई को दुगुनी करते जाना कोई कठिन काम नही है, लेकिन आप को यह जानकर आश्चर्य होगा कि वह एक पाई ही महीने के अन्त मे ५५ लाख रूपये से भी कुछ ज्यादा रकम पैदा कर देती है हम एक मास को भी कम कहते है, लेकिन पौद्गलिक सम्पत्ति के लिये भी जब एक पाई से एक मास मे लाखो की सम्पत्ति पैदा की जा सकती है, तो हमारी आत्मिक सम्पत्ति क्या नही बढाई जा सकती है? हम भी अगर आत्म-साधना मे आज से एक-एक मिनिट का दुगुना समय लगाते जाय और उससे अपनी शुद्धि करते जाय तो सम्वत्सरि तक हम अपने जीवन की शुद्धि कर सकते हैं। यही बात आज का दिन (महीने का घर) हम से कहता है। लेकिन यह हो कैसे? इसी का विचार हमे यहाँ करना है।

विद्या सर्वश्रेष्ठ वस्तु है यह एक सत्य हकीकत है कि बडे से बडा राजा भी अपने देश मे ही पूजा जाता है, लेकिन कवि या विद्वान् सब जगह पूजा जाता है चीन का चागकाई शेक चीन के सिवाय और कही नही पूजा जाता है। रूस का स्टालिन रूस मे और अमेरिका का ट्रूमेन भी अमेरिका मे ही पूजा जाता है। लेकिन हिन्दुस्तान का रवीन्द्र सब जगह पूजा जाता है। क्योकि 'विद्या सवत्र पूज्यते'—विद्या के बल पर मनुष्य सब जगह पूजा जाता है। लेकिन ऐसी विद्या भी जिसके सामने झुक जाती है, वह है आचार। चारित्र के सामने विद्या

भी नतमस्तक हो जाती है। हर एक वस्तु को पहले अपने जीवन मे उतारना चाहिये। तभी उसका प्रचार भी किया जा सकता है। हम प्रायः दिन इसका दम भरते रहते हैं कि हमे अपने धर्म का प्रचार करना है लेकिन इसका प्रचार कैसे हो यह बात हम अभी तक नही जानते हैं। क्या अट्ठाई करके वरघोड़ा निकालने से धर्म का प्रचार होता है या बड़े-बड़े जिमनवार करने से धर्म का प्रचार होता है?

आज के जमाने में जहाँ लाखों पुरुष भूख से तड़प-तड़प कर अपनी जान खो रहे हों वहाँ आप बड़े-बड़े जिमनवार करते हैं तो यह धर्म का प्रचार कहा जाय या धर्म का नाश? धर्म-प्रचार का सच्चा मार्ग ही आचार है। आचार से ही प्रचार होता है। अगर आप अपने धर्म का सचमुच प्रचार करना चाहते हैं तो आप अपने आचार से दूसरों पर ऐसा प्रभाव डाले कि जिससे कोई झूठ नही बोले चोरी नही करे हिंसा नही करे। यानी जैनी कहलाने वाले अपने आचार में सत्य और अहिंसा को इस प्रकार उतारलें कि जिससे दूसरे लोग यह कहे कि जैनी कभी भी हिंसा नहीं करते हैं झूठ नहीं बोलते हैं और चोरी नही करते हैं। तभी वह सच्चा प्रचार है और इसी से धर्म की सच्ची प्रभावना भी हो सकती है। अट्ठाई करके वरघोड़ा निकालना और जिमनवार करना तो कभी कभी धर्म का प्रचार नही हास्य कराते हैं। अतः चारित्र ही एक ऐसी वस्तु है जिससे सच्चा प्रचार किया जा सकता है और जिसके सामने विद्या भी झुक जाती है।

गांधी जी का नाम आज सब लेते हैं, पर क्या इसलिये कि वे एक बैरिस्टर थे? लोकमान्य आदि को आप क्यों याद

करते हैं ? क्या वे विद्वान् थे इसलिये ? उन्होने अपने विचारो को अपने जीवन में उतारा था, इसीलिये हम उन्हे याद करते हैं। आज कई लोग अपने पुत्रो को विद्वान् बनाने की तो फिक्र करते हैं, लेकिन क्या वे उनको सदाचारी बनाने की भी फिक्र करते हैं ? हर एक मनुष्य चाहने पर भी धनवान या विद्वान् नही बन सकता है, लेकिन यदि वह चाहे तो सदाचारी अवश्य बन सकता है। रोगी भी सदाचारी बन सकता है और जवान भी खुशी-खुशी सदाचार का पालन कर सकता है। धनवान और विद्वान् बनना या शारीरिक बल प्राप्त करना हर एक के वश की बात नही है, लेकिन सदाचारी तो सब कोई बन सकते हैं। सदाचार एक ऐसी सर्वोत्तम वस्तु है, कि जिसे निर्धन और निरक्षर मनुष्य भी अपना सकता है और अपना जीवन सार्थक बना सकता है।

आज हम एक सुनार को आभूषण बनाने के लिये सोना दे या दर्जी को सीने के लिये कपडा दे तो क्या वह उसका हो जाता है ? एक माली बगीचे मे फल तैयार करता है, पर जैसे वे उसके नही हो जाते हैं, वैसे ही हमारे पास भी ऊचे से ऊचे अध्यात्म विद्या के शास्त्र हो—सिद्धान्त हो, पर जब तक हम उनको अपने जीवन में नही उतारें तब तक वे हमारे नही हो सकते हैं। जैनी आज भले ही यह कहे कि हमारा धर्म जैन है, पर जब तक वे अपने जीवन में उसको नही उतारें तब तक वे जैन धर्म के हो सकते हैं, पर जैन-धर्म उनका नही हो सकता।

पेरिस मे मिस्टर कोल नाम का एक आदमी हो गया है जो कि बडा प्रामाणिक था। उसकी स्थिति पहले ठीक थी पर बाद

में बिगड़ गई थी। उसकी पत्नी मेरी भी बड़ी समझदार और सुन्दर थी। वह सदा अपने पतिका ख्याल रखती थी और ऐसा कोई काम नहीं करती थी जिससे कि उसके पति को दुख हो। कोल एक अच्छा लेखक और वक्ता भी था। उसके घर में लिखने के लिए एक छोटी सी मेज के सिवाय और कुछ नहीं था। वह म्युनिसिपल कमेटी का भी सदस्य था।

एक दिन जब अपने घर देरी से आया तो उसकी पत्नी मेरी ने हँसते हुए उससे कहा—तुम म्युनिसिपल कमेटी के मेम्बर होकर भी इस तरह देरी से घर आते हो? जल्दी भोजन कर लो फिर मुझे नीलाम में से एक बाल्टि खरीद कर लाना है। कोल को यह सुन कर बड़ा दुख हुआ कि क्या मेरी पत्नी को एक बाल्टि खरीदने के लिये भी नीलाम में जाना पड़ता है? लेकिन मेरी ने इस बात को भुलाते हुए उसे भोजन कराया। भोजन करने के बाद जब कोल भी उसके साथ चलने लगा तो मेरी ने कहा—नहीं तुम अपना लेख पूरा करो मैं अभी बाल्टि लेकर आजाती हूँ। कोल लेख लिखने बैठा ही था कि एक आदमी ने उसका दरवाजा खटखटाया। कोल उठा और आगन्तुक से पूछा—कहिये क्या काम है? आगन्तुक ने कहा—आप म्युनिसिपैलिटी के मैम्बर हैं अतः मैं आपसे एक राय लेने के लिये आया हूँ। क्या आप मुझे अपनी राय देंगे? कोल ने कहा—कहिये आप क्या पूछना चाहते हैं?

आगन्तुक ने कहा—मेरा यह ख्याल है कि म्युनिसिपैलिटी यदि अपनी एक रेल चलावे तो उससे उसे और कॅाच जनता को बड़ा फ़ायदा पहुँच सकता है। क्या आप भी मेरी इस

सम्मति से सहमत हो सकेंगे ?

रेलवे-कमेटी के कुल सात मेम्बर थे, जिनमे से तीन इसके पक्ष मे थे और तीन विपक्ष मे । अब कोल की सम्मति ही बाकी थी और यही महत्त्वपूर्ण भी थी । क्योंकि बहुमत का आधार इसी सम्मति पर था । लेकिन कोल ने कहा—भाई मै तो इसके विरुद्ध हूँ । रेलवे लाईन से प्रजा का हित नही, अहित ही होगा, अत मै अपनी सम्मति इसके पक्ष मे नही दे सकता । आगन्तुक ने कुछ कागज़ात देखने को दिये और कहा—लीजिये, पहले आप इन्हे देख ले और फिर अपनी सम्मति दें । कोल उन्हे देखने लगा तो उसमे ५० हज़ार का एक चैक दिखाई पडा । उसने कहा—यह क्या ? पचास हज़ार का फ्रैंच चैक ? आगन्तुक ने कहा—साहब, आप यह चैक लीजिए और इसके पक्ष मे अपनी राय दे दीजिये । यह सुनकर कोल कुछ विचार में पड गया । आगन्तुक ने कहा—साहब, प्रामाणिकता के खातिर आप अपने जीवन मे दु ख अनुभव करें, और आपकी पत्नी एक जाकिट लेने के लिये भी नीलाम मे जावे, यह ठीक नहीं है । रहने के लिए मकान भी ठीक न हो, क्या यह आप जैसो के लिये योग्य है ? मेहरबानी कर आप यह चैक ले ले और मुझे अपनी सम्मति दे दे । कोल विचारने लगता है, इतने मे मकान मालिक आता है और कोल से कहता है—साहब, मकान का तीन महीने का किराया चढ रहा है, आप म्युनिसिपैलिटी के मेम्बर होकर भी ठीक समय पर किराया नही दें, तो यह आपके लिये ठीक नही है । कोल मकान मालिक को तो समझा-बुझाकर विदा करता है, पर आगन्तुक ने उससे

चुकाने को भी पैसे नहीं हैं ? आप रोज-रोज दुःख सहते हैं यह ठीक नहीं है। अब आप यह चैक ले लें और मुझे अपनी सम्मति दे दें।

रोम का पचास हजार के चैक ने उलझन में डाल दिया। वह विचारों में उलझ रहा था कि इतने में उसकी पत्नी आ गई। उसने उसे देखकर कहा—मेरी अब तू ही मुझे बता यह भाई कहता है कि पहले यह पचास हजार का चैक लो और पीछे अपनी सम्मति मुझे दो। बता अब मैं क्या करूँ ?

मेरी ने जब सारा किस्सा सुना तो उसने आगन्तुक से कहा—हमारी सच्चाई और हमारी प्रामाणिकता कोई धन से बिकने वाली चीज नहीं है। तुम अपना चैक ले जाओ हमें अपनी प्रामाणिकता का मोल नहीं कराना है।

प्यारी बहिनो ! क्या आज तुम भी अपने पति को इस तरह गलत मार्ग पर जाने से बचाती हो ? सचमुच अगर आप अपने पति को 'मेरी' की तरह प्रामाणिकता में स्थिर रखेंगी तो आपका यह सब सुनना सार्थक बन सकता है। जब हम इस तरह अपने आचार-धर्म को अपने जीवन में उतारेंगे तभी हम अपना और समाज का कल्याण कर सकेंगे।

१ अगस्त, १९४८

पुरुष का मतलब ही यही है कि जो दूसरों के लिये हितकारी हो। स्वार्थ छोड़कर परार्थ में जाना धर्म भावना है और यही जीवन विकास का साधन भी है। अतः इसी भावना का हमें विकास करना चाहिये। शरीर का विकास व्यायाम से होता है। इसी तरह हृदय का विकास करने के लिये भी व्यायाम की जरूरत है और वह व्यायाम है बुद्धि की शुद्धि यानी निर्मलता। हमारी बुद्धि इतनी निर्मल होनी चाहिये हम सारी दुनियाँ को अपना कुटुम्ब समझें। अपना दुःख सुख कर भी विश्व-सुख की भावना हमारे मन में होनी चाहिये। लेकिन आज हमारी स्थिति बिल्कुल विपरीत है। आज हम अपना ही सुख देखते हैं। स्व-शरीर का पोषण और दूसरों का शोषण यही हमारा जीवन-मन्त्र हो गया है। लेकिन इससे आप यह चाहें कि हमारा जीवन सुगन्धित हो तो यह कदापि नहीं हो सकता है। आपका सुगन्धित जीवन तो तभी हो सकता है, जब आप यह समझें, कि हमारा भले ही शोषण हो पर हम दूसरों का पोषण ही करें। यह मन्त्र जब आपका होगा तभी आपके जीवन में सुगन्ध का संचार हो सकेगा। एक अंग्रेज लेखक ने कहा—

'तू अपना सुख पीछे देख पहले दूसरे का सुख विचार।

जो व्यक्ति अपने बजाय दूसरे का सुख सोचता है वही व्यक्ति अपना व्यक्तित्व बड़ा सकता है।

मानव चाहे तो सब कुछ कर सकता है असम्भव उसके लिये कुछ नहीं नैपोलियन ने कहा था—मेरी डिक्शनरी में असंभव शब्द ही नहीं है।

मानव क्या नहीं हो सकता है? मानव चाहे तो सिद्ध भी

हो सकता है। हमारे तीसरे तीथकर का नाम सभव है। जिसका मतलब भी यही है, कि असभव कुछ है ही नही। मानव जो भी चाहे कर सकता है, लेकिन होना चाहिये उसमें आत्म-बल और अपनी निर्मल बुद्धि।

इङ्गलैण्ड मे जब पहला विलियम राज्य करता था तव वहाँ अधिकतर लकडी के मकान बनाये जाते थे। उस समय बादशाह का ऐसा हुक्म था कि कोई भी रात को ८ बजे बाद अपने घर मे दिया नही जला सकता था। इसके लिये एक करफ्यू बैल (घन्टा) था, रोज़-रोज़ रात को ठीक आठ बजे बजाया जाता था जिसे सुनकर सब अपने-अपने दीये बुझा देते थे। जो इस आज्ञा का उल्लघन करता था, उसे सजा दी जाती थी।

एक दिन एक फौजी सिपाही को, किसी अपराध मे, बादशाह ने मृत्यु-दण्ड का हुक्म सुनाया। सिपाही की शादी हुए छह मास ही हुए थे। जब उसकी पत्नी ने यह सुना तो उसे अपार दु ख हुआ। उसने सोचा—किसी न किसी तरह से मुझे अपने पति की जान अवश्य बचानी चाहिए। बादशाह का हुक्म हो चुका था, लेकिन फाँसी होने मे अभी १२ घन्टे का समय था। अत वह अपने पति से मिलने के लिए जेल में गई और जेलर से कहा—मेरे पति को आज रात को ८ बजे फाँसी होने वाली है, अत क्या आप मुझे उनसे मिलने देंगे? जेलर ने कहा—उससे मिलने का हुक्म नही है। स्त्री ने बहुत आजीजी की, पर जल्लादो का भी कभी हृदय पिघल सकता है? उसने उसे अन्दर नही आने दिया। लाचार हो तब वह व

घन्टा बजाने वाला भाग्य से बहरा और अन्धा था। उस स्त्री ने उसे प्रलोभन देते हुए कहा—भाई, अगर तुम आज अपना यह घंटा नहीं बजाओगे तो मैं तुम्हें एक हजार रुपये दूँगी। आदमी ने कहा—बहिन मैं कुछ लेना नहीं चाहता। मैं तो जो काम करता हूँ वह करूँगा ही। तब वह विचार में पड़ गई। अब उसके पास कोई चारा नहीं था। वह उस मंजिल पर चढ़ी जहाँ वह घंटा लटक रहा था। ऊपर चढ़कर उसने उस घंटे को अपने दोनों हाथों से मजबूत पकड़ा और उस पर लटक गई। घंटे बजाने वाले ने ठीक समय अपनी रस्सी हिलाई, पर घंटे की आवाज नहीं हुई। बेचारा हिलाने वाला तो बहिरा था उसने तो रस्सी हिलाई और समझ लिया कि घंटा बज गया है। लेकिन जब नौ बज गये और तब भी घंटे की आवाज नहीं सुनाई दी तो सब लोग आश्चर्य में पड़ गये। फांसी देने वाले तैयार खड़े थे। वे तो घंटा बजने की राह देख रहे थे कि कब घंटा बजे और इसे फाँसी दी जाय। लेकिन जब घंटा ही नहीं बजा तो वे भी विवश हो खड़े थे। जब घंटा बजा ही नहीं तो बादशाह स्वयं वहाँ आया और घंटे वाले से कहा—तुमने आज घंटा क्यों नहीं बजाया? घंटे वाले ने कहा—जहाँपनाह! मैंने तो ठीक समय पर रस्सी खींच ली थी पर न जाने आज घंटा बजता क्यों नहीं है? बादशाह ने अपना एक सिपाही ऊपर भेजा तो उसने वहाँ एक स्त्री को देखा जो अपने हाथों से घंटे को बड़ी मजबूती से पकड़े लटकी हुई थी। उसने नीचे आकर बादशाह से कहा—ऊपर तो एक जवान स्त्री घंटे पर लटकी हुई है इसी कारण से आज घंटा नहीं बज रहा है। बादशाह स्वयं ऊपर

आया और उस स्त्री से पूछा—वहिन, आज तुम यहाँ क्यो लटक रही हो ? स्त्री ने कहा—पहले आप मुझे वचन दीजिये, फिर मै अपनी वात आपको कहूगी । राजा ने कहा—वहिन, तुम अपनी वात तो कहो ? स्त्री ने कहा—आज जो व्यक्ति फासी पर लटकाया जा रहा है वह मेरा पति है । उसे फासी न दी जाय और उसका अपराध क्षमा कर दिया जाय । इस तरह की वात से जव पत्थर-सा दिल भी पिघल सकता है तो फिर मानव क्यो नही पिघले ? वादशाह ने उसकी फासी रोक दी और इस प्रकार वह सिपाही मृत्यु के मुँह मे जाने से वचा लिया गया ।

वन्धुओ ! जव एक स्त्री भी इस तरह का साहस का काम कर सकती है तो मनुष्य के लिये असभव क्या है ? एक अँग्रेज ने कहा है—

"अच्छा काम करते हुए मानव को कभी नही रुकना चाहिये । भले ही उसकी सिद्धि हमे उस समय नजर नही आवे पर उसका फल तो होने का ही है ।"

मानव, साधु-दर्शन के लिये ठेठ तक जावे या नही, पर एक कदम भी आगे वढा दिया तो उसका फल तो मिल ही गया । इस तरह अगर हम शक्ति, साहस, प्रेम और ज्ञान का विकास करेगे तो अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकेंगे ।

प्रेम एक ऐसी वस्तु है, जो हर एक के दिल मे स्थित है । सिंह जो क्रूर प्राणी माना जाता है उसके हृदय मे भी अपने वच्चो के प्रति प्रेम होता है । लेकिन आवश्यकता है प्रेम को विकसित करने की । इस प्रेम का विकास ही व्यक्तित्व का

विकास है। आयुर्वेदानुसार प्रेम करने वाला मनुष्य आयुष्य की भी वृद्धि करता है। आयुर्वेद के ग्रन्थ चरक संहिता में लिखा है—

"अहिंसक मनुष्य रसायन जी सकता है। क्योंकि अहिंसक मनुष्य का हृदय प्रफुल्लित रहता है जिससे उसका आयुष्य बढ़ता है। द्वेष हृदय को संकुचित करता है पर प्रेम हृदय को विकसित करता है। एक जगह लिखा है—

द्वेष मन का पागलपन है।

वस्तुत द्वेष-ईर्षा आदि मन का पागलपन ही है। पागल मनुष्य जैसे कुछ सोचता-विचारता नहीं है वैसे ही क्रोधी मनुष्य भी कुछ सोचता नहीं है। अतः प्रेम को अपने हृदय में स्थान देना और सब से मैत्री रखना ही हृदय का विकास है। इसे हम एक भाई से लेकर धीरे-धीरे सारे मानव समाज तक विकसित कर सकते हैं। क्या आप में ऐसा प्रेम है? आप दूसरों की बात तो जाने दीजिये आज भाई-भाई का ही युद्ध हो रहा है—आपस में लड़ाई-झगड़ा हो रहा है। आज आपके एक भाई की दूकान पर चार ग्राहक अधिक आजायें या चार अगुल जमीन उसे अधिक मिल जाय तो क्या आप अपना प्रेम कायम रख सकेंगे? उस पर ईर्षा तो नहीं करेंगे? जब आप अपने भाई के साथ भी प्रेम स्थापित नहीं कर सकते तो मानव समाज के साथ कैसे कर सकेंगे? अतः मनुष्य को क्रमशः अपनी मैत्री प्रेम और ज्ञान का विकास करना चाहिये। चौथी बात है शक्ति जिसका विकास भी आवश्यक है। क्योंकि शरीर-बल के बिना कोई काम नहीं किया जा सकता है। शक्ति होने पर भी ज्ञान प्रेम और मैत्री—इन तीनों गुणों का होना अत्यावश्यक है। एक के अभाव में भी हित के बजाय अहित

होने की ही सभावना रहेगी । माता प्रेम मे आकर बच्चे को कुछ खिला देती है, पर खिलाने का ज्ञान न हो तो वह अहित-कारक पदार्थ भी खिला देगी । ज्ञान हो, पर प्रेम न हो तो यह भी अनिष्टकारक ही होगा । जैसे कि आजकल का विज्ञान । उसमे ज्ञान है, पर प्रेम नही है । इसीलिये आज उसने अणुवम जैसी भयङ्कर चीज़ पैदा की है । इसलिये हमारे जीवन में तीनो वस्तुओ की समान आवश्यकता है । मस्तिष्क मे ज्ञान, हृदय मे प्रेम और शरीर मे शक्ति हो तो हम हमारे व्यक्तित्व का विकास कर सकते हैं और अपना जीवन सफल वना सकते हैं ।

११ अगस्त, १९४८

२१

भाव जीवन

हर एक वस्तु को पूर्ण समझने के लिये जैसे उसका बाह्य और आभ्यन्तर स्वरूप समझना पड़ता है वैसे ही अगर हम अपने जीवन को भी समझना चाहते हैं तो द्रव्य और भाव जीवन को पूरा-पूरा समझना चाहिये। द्रव्य-जीवन तो केवल खुराक खाना-पीना आदि हैं पर भाव-जीवन तो इससे कुछ जुदा होता है। द्रव्य-जीवन जैसे खुराक पानी और हवा से जीवित रहता है वैसे ही भाव-जीवन को भी जिन्दा रखने के लिये खुराक—पानी और हवा की जरूरत होती है। शरीर में से यदि आत्मा चला जाता है तो शरीर खोखला हो जाता है वैसे ही जीवन में से भी यदि भाव-जीवन चला जाय तो वह भी खोखला हो जाता है। भाव-जीवन द्रव्य-जीवन की आत्मा है। मानव शरीर में से आत्मा चला जाय तो शरीर को जला देना पड़ता है अन्यथा वह सड़ जायगा और उसमें से बदबू (गन्ध) आने लग जायगी। इसी तरह द्रव्य जीवन में से भाव-जीवन चला जाय तो उसमें भी विषय कषाय के कीड़े पैदा हो जाते हैं और वह सड़ने लग जाता है। द्रव्य-जीवन को टिकाने के लिये जैसे भोजन हवा और पानी की जरूरत होती है वैसे ही भाव-जीवन को बनाये

रखने के लिये भी वात्सल्य-भाव की खुराक, निःस्वार्थ सेवा का श्वासोच्छ्वास—हवा और पवित्रता का पानी होना आवश्यक है। इन्ही तीन चीज़ो से हमारा भाव-जीवन ज़िन्दा रह सकता है। एक मनुष्य श्वास तो ले, पर उसे वापस निकाले नही, तो उसकी मृत्यु निश्चित हो जाती है। ज़िन्दा रहने के लिये श्वास का लेना और निकालना आवश्यक है। इसी तरह सेवा भी एक ऐसी वस्तु है, कि जो लेनी भी पडती है और देनी भी। सेवा लिये विना जैसे हमारा जीवन चलता नही है, वैसे ही सेवा दिये विना भी (हमारा काम) नही चल सकता है। आप सडक पर चलते हैं, तो इससे आपने मज़दूरो की सेवा ली या नही ? अन्न खाते हैं, तो अन्न पैदा करने वाले की सेवा लेते ही हैं। इसके विना हमारा काम नही चल सकता है। कोई मनुष्य यह कहे कि न तो मैं किसी की सेवा लू और न दू, तो क्या वह जीवित रह सकता है ? मानव को जीवित रहने के लिए पशु की भी सेवा लेनी पडती है। इस तरह लेना तो उसे पडता ही है, पर दिये विना भी उसका काम नही चलता है। यही लेना-देना भाव-जीवन का श्वासोच्छ्वास है। लेकिन श्वासोश्वास के—हवा के होने पर भी यदि पानी न हो तो जीवन अधिक नही टिकाया जा सकता है। इसलिये भाव-जीवन को कायम रखने के लिये पवित्रता का पानी होना भी आवश्यक है। गुजरात के प्रसिद्ध कवि दलपत ने कहा है—

'मनुष्य कहता है कि सर्प में ज़हर है, विच्छू के डक मे ज़हर है, पागल कुत्ते मे और समुद्र मे ज़हर है। लेकिन बुद्धिवान् मनुष्य तो यह कहते हैं कि अगर सबसे ज्यादा ज़हर कही है तो वह है मानव के हृदय में।'

यह सच है कि हमारे हृदय में सर्प से भी ज्यादा जहर भरा हुआ है। बिच्छू के डंक से भी बढ़कर जहर हमारे शरीर में भरा हुआ है। इनका जहर तो ऐसा होता है कि दो-चार घंटे में ही समाप्त हो जाता है पर मनुष्य के मन का डंक तो इतना गहरा लगता है कि वह मिटना असंभव सा हो जाता है। यदि हम मनुष्य और पशुओं में क्रूरता की तुलना करें तो किसे अधिक क्रूर कहेंगे? क्या पशुओं ने अधिक प्राणियों का संहार किया है या मानवों ने? अगर मानवों ने अधिक संहार किया है तो फिर पशुओं को अधिक क्रूर कैसे कहा जा सकता है? पशु तो अपनी खुराक के लिये ही प्राणी-संहार करते हैं, पर मानव ने तो हजारों प्राणियों को यों ही मार डाला है। फिर क्रूर किसे समझा जाय—मानव को या पशु को?

दूसरी तुलना यह कीजिये कि पशु ने मनुष्यों का संहार अधिक किया है या मानव ने पशुओं को अधिक मारा है? तब आपको यह बात माननी पड़ेगी कि मनुष्यों ने पशुओं का जितना संहार किया है उतना पशुओं ने मनुष्यों का नहीं किया। इससे सिद्ध यह होता है कि हमारे हृदय में जहर भरा हुआ है पवित्रता का पानी नहीं है। तब भला हम क्रूर किसे समझें—पशु को या मानव को?

मनुष्य के हृदय में द्वेष का जहर भरा हुआ होता है और जब तक वह रहता है तब तक हृदय में पवित्रता का पानी नहीं भरा जा सकता है। अतः भाव जीवन को कायम रखने के लिये पवित्रता का पानी मानव हृदय में अवश्य होना ही चाहिये। इसके बिना जीवन में सुवास का संचार नहीं किया

जा सकता है।

इसके सिवाय भाव-जीवन को टिकाने वाली तीसरी वस्तु है वात्सल्य-भाव। वात्सल्य-भावना भाव-जीवन का आहार है। इसीसे निस्वार्थ सेवा के श्वासोश्वास को और पवित्रता के पानी को वेग मिलता है। भगवान् महावीर का जीवन उन्नत था। क्योकि उनका जीवन भाव-जीवन था। उनका पवित्रताका पानी था और निस्वार्थ सेवा का श्वासोश्वास था। उनके हृदय की पवित्रता ऐसी थी, कि हिंसक सिंह और मृग भी साथ-साथ बैठते थे। बिल्ली और चूहे भी साथ बैठते थे। ऐसे जन्म जात वैरी, जो एक दूसरे को देखते ही प्रहार कर देते हैं, वे भी अपना बैर भूल कर साथ-साथ बैठते थे। कैसी महान् थी उनकी पवित्रता! हमारे जीवन मे भी जब ऐसे भाव-जीवन का प्रकाश होगा तो हम भी दूसरे के जीवन को प्रकाशित कर सकेंगे, उनके हृदय के अन्धियारे को सदैव के लिये दूर कर सकेंगे। पतजलि ने कहा है—

'अहिंसा प्रतिष्ठायातत् सन्निधौ वैर त्याग'

'अहिंसक मानव के पास कभी वैर टिकता ही नही है।' हमारी अहिंसा की कसौटी ही यह है, कि अहिंसक मनुष्य के सामने आया हुआ हिंसक प्राणी भी अहिंसक बन जाय। जब हमारी अहिंसा का इतना प्रकाश होने लग जाय कि हिंसक प्राणी भी अपनी वृत्ति छोडकर अहिंसक बन जाय तो समझ लेना चाहिये कि हमारी अहिंसा सच्ची है—हम पूरे अहिंसक बन गये हैं। भगवान् महावीर के सामने जन्म-जात वैरी सिंह और मृग भी अपना वैर भूल जाते थे। इसका कारण यही था कि उनकी अहिंसा और प्रेम भावना इतनी विशाल थी कि,

जिसके प्रभाव से जन्म-जात वैरियों का वैर भी प्रेम में परिणत हो जाता था।

एक मनुष्य यदि अन्धेरे में दीपक लेकर चलता है तो उसका प्रकाश उसे तो मिलता ही है पर सामने से आने वाले व्यक्ति को भी मिल जाता है। इसी तरह अगर आज हम इस दुनिया में जहाँ कि सर्वत्र राग और द्वेष का अन्धकार फैला हुआ है प्रेम का दीपक लेकर चलने तो वह हमें तो प्रकाश देगा ही पर साथ में दूसरों को भी प्रकाश देगा।

इंग्लैंड में होमरलेन नामक एक विद्वान् पुरुष हो गया है। उसका हृदय बड़ा अहिंसक और प्रेम भरा था। वह जब किसी अनाथ या दुखी पुरुष को देखता तो उसका हृदय दुख से भर जाता था। जब वह किसी खराब स्वभाव वाले बालकों को देखता तो विचार में पड़ जाता था कि ये बालक भविष्य में उन्नत कैसे हो सकेंगे ? अगर अभी से इनकी कुटेव सुधारी नहीं जायगी तो भविष्य में इनकी जिन्दगी सुधर नहीं सकेगी। इन्हीं विचारों के वशीभूत होकर उसने एक 'रिपब्लिकन' नामक आश्रम खोला जिसमें वह बुरी आदतों वाले बालकों को रखता और उनकी आदतें सुधारता था।

एक दिन कोर्ट में ऐसा बालक पकड़ा गया जो तीन बार चोरी कर चुका था और सजा भी पा चुका था। होमरलेन को जब यह पता चला तो वह उस लड़के को अपने आश्रम में ले आया। लड़का बड़ा तूफानी था उसने आश्रम में आते ही फल-फूल तोड़ने शुरू किये लड़कों से लड़ने लगा और उनकी पुस्तकें फाड़ने लगा। सब लोग उससे तंग हो गये थे। अन्त में अध्यापकों ने होमरलेन से कहा—साहब

यह लडका तो सारे आश्रम के लडको को विगाढ देगा, अत मेहरवानी कर इसे यहाँ अव मत रखियेगा।

होमरलेन ने कहा—भाई, मुझे सवसे अधिक दया इसी लडके पर आती है, अत इसका जीवन सवसे पहले सुधारना चाहिये। तुम सव उसको अपने पास नही रखना चाहते हो, पर मै उसे अपने पास रखू गा। लडके का नाम था जौन। होमरलेन ने खाने के समय जौन से कहा—वेटा जौन,अपने खाने की प्लेट लेकर उस टेवल पर चलो और मेरे साथ वैठ जाओ। जौन ने कहा—मैं धनी घर का लडका हू, मैं अपने हाथो से अपनी प्लेट उठाकर नही लाऊ गा। अगर ऐसा था तो आप मुझे अपने आश्रम मे लाये ही क्यो ? होमरलेन ने कहा—वेटा जौन, हमारे आश्रम का ऐसा ही नियम है देख, आज तो मै ले आता हु—पर कल से तुझे ही अपनी प्लेट उठाकर लानी होगी। खाना खाने के वाद उसने अपने हाथ मे एक पत्थर लिया और सवकी प्लेटें तोडने लगा। मास्टर ने होमरलेन से उसकी शिकायत की। होमरलेन ने उसे वुलाया और कहा—जौन! तू, खूव वदमाशी करता है न ? अभी रसोई मे अगर कुछ प्लेटें वची रह गई हो, तो ले यह पत्थर और उन्हें भी फोड डाल। जौन ने वची हुई प्लेटें भी फोड डाली। तव होमरलेन ने कहा—वेटा जौन, तुमने सव प्लेटें तो फोड डाली, पर अभी मेरी यह कीमती घडी तो वाकी ही रह गई है। होमरलेन ने अपनी घडी खोली और उसे अपने ही हाथो से पत्थर देते हुए कहा—ले इसे फोड डाल !!

जोन ने सोचा—मैं ने इतना तूफान किया और सव कुछ तोडा-फोडा, पर यह अव भी मुझे नही रोक रहे हैं और वदले

में प्रेम से कहते हैं कि ले यह बड़ी और इसे भी फोड़ डाल ?
जब होमरसेन ने अपनी बड़ी उतार कर नीचे रखी और जौन
से फोड़ने के लिये कहा तो जौन ने अपना सिर उठा कर
होमरसेन की आँखों की तरफ देखा। दोनों की आँखें आमने
सामने हुईं। होमरसेन की आँखों में से प्रेम की किरणें
निकलीं। और उसने उसे बस में कर लिया। जौन तत्काल
होमरसेन के पैरों में गिर पड़ा और उससे अपने अपराध की
माफी माँगी। आगे चलकर वही जौन उस आश्रम का एक बड़ा
आदमी बनता है। आज भी वह आश्रम इङ्गलैण्ड में चल रहा
है जहाँ कि कई अनाथ बालकों का पोषण किया जाता है।

बन्धुओ भगवान् महावीर का प्रेम तो जानवर वैर
को भुला देता था पर ऐसा प्रेम भी मानव की दुर्बुद्धि को
दूर कर देता है। ऐसा जीवन ही भाव जीवन होता है। भाव
जीवन बनाने के लिए विचारों की उदारता और हृदय की
विशालता अवश्य होनी चाहिये। भाव-जीवन जीने के लिये
अपने जीवन को सादा बनाना चाहिये। इस प्रकार अगर हमारे
जीवन में प्रेम की सुवास होगी विश्व वात्सल्यता की खुराक
होगी निःस्वार्थ सेवा का श्वासोश्वास और पवित्रता का पानी
होगा तो हम अपना भाव-जीवन जिन्दा रख सकेंगे। ऐसे ही
जीवन से हम अपने समाज का उद्धार कर सकेंगे।

१२ अगस्त १९४८

२२

अमरता की पगडंडियाँ—१

दशवैकालिक सूत्र की एक गाथा मे कहा है—

'सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउ न मरिज्जिउ'

'जीवमात्र जीना चाहते हैं, मरना कोई नही चाहता।' यानी अमरता सवको प्रिय है, मृत्यु के मुँह मे कोई नही जाना चाहता। किसी मनुष्य को बीमारी हो और डाक्टर उसे जवाव दे दे तो उसे कितना अपार दु ख होता है ? एक ब्राह्मण शास्त्र का मत्र है—

असतो मा सद् गमय मृत्योर्माऽमृत गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय

भगवन् ! मुझे मृत्यु मे से अमरता की तरफ ले चल। इससे यह सिद्ध होता है कि अमरता सवको प्रिय है। मनुष्य अपनी हर चीज को अमर देखना चाहता है। वह मकान भी ऐसा वनाना चाहता है, कि वह टूटे नही, कुछ अर्से तक बना रहे। इस तरह सव अमरता तो चाहते हैं, पर अमरता का पथ क्या है ? यह हम नही जानते हैं।

हम अमरता चाहते हैं, पर अमरता के लिए यदि हम नश्वर वस्तुओ का प्रयोग करें तो उसमे से अमरता कैसे हमे मिल सकेगी ? कांच का टुकडा तो फूटने का ही है, पर वह कब फूटेगा—इसका हमे पता नही है। इसी तरह धन जैसी

नश्वर वस्तु से अमरता चाहना भी वैसा ही है न जाने कब वह नष्ट हो जाय ? अतः अशाश्वत साधनों से अमरता नहीं प्राप्त की जा सकती है। उसके लिये तो शाश्वत साधन ही चाहिएँ। उपनिषद् में एक कथा है—

याज्ञवल्क्य नामक एक ऋषि के दो पत्नियाँ थी। मैत्रेयी और कात्यायिनी। ऋषि अपने जमाने के बड़े विद्वान् थे। एक दिन उन्हें विचार आया कि मुझे अब इस प्रवृत्तिमय जीवन से निवृत्ति ले लेनी चाहिये। यह तय कर उन्होंने अपनी पत्नियों को बुलाया और कहा—मैं तो अब सन्यास लेता हूं लेकिन इससे पहले मैं अपनी सारी सम्पत्ति तुम्हें बाँट देना चाहता हूं। मैत्रेयी कुछ बुद्धिमान थी। उसने कहा—स्वामिन्! आप जो सम्पत्ति देकर निवृत्ति लेना चाहते हैं तो क्या यह सम्पत्ति मुझे अमरता दे सकेगी ? याज्ञवल्क्य ने कहा—मैत्रेयी यह सम्पत्ति अमरता नहीं दे सकेगी भोग-विलासिता देगी। तब मैत्रेयी ने कहा—स्वामी ! जब मुझे इससे अमरता नही मिलती है तो इस सांसारिक सम्पत्ति की मुझे जरूरत नही है। यह आप मेरी बहिन कात्यायिनी को दे दें पर मुझे तो आध्यात्मिक शक्ति दें जिससे कि मैं अमर बन सकूं। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी की बात सुनकर बड़े खुश हुए और उन्होंने उसे आध्यात्मिक मार्ग बताया। इस कथा से हमें मतलब इतना ही लेना है कि अमरता को पाने के लिये अशाश्वत साधन नहीं चाहिये। मर्त्य साधनों से अमरता नहीं मिल सकती है। अमर साधनों से ही अमरता मिल सकती है। इसके लिये दस अमर साधन बताये गये हैं जिन्हें हम दस धर्म के नाम से पहिचानते हैं।

'खंति मुत्ति अज्जवे मद्दवे लाघवे सच्चे संजमे तवे चेइए बम्भचेर वासिए ।'

इन दस धर्मों के पालन से असत् से सत् मे और मृत्यु से अमरता मे पदार्पण किया जा सकता है। इनमे सबसे पहला धर्म है—खति—क्षमा। भर्तृहरिजी ने कहा है—

शान्तिश्चेत् कवचेन किम् ?

यदि मानव के पास क्षमा का शस्त्र हो तो फिर कवच-ढाल आदि दूसरे शस्त्र रखने की उसे जरूरत नही होती है। दूसरे सैकडो शस्त्र मानव पर प्रहार करे, पर क्षमा की ढाल हो तो वह सबको सहन कर सकता है। यह क्षमा अहिंसा का ही एक रूप है और उसका बहुत कोमल विभाग भी।

कोई मनुष्य क्रोध से क्रोध को वश मे करना चाहे तो वह वश मे नही किया जा सकता है। वैर से वैर नही जीता जा सकता है, यह एक शाश्वत नियम है। सेर को मच्छर काटे और वह यह सोचे कि मै इन मच्छरो को मार डालूँ, तो क्या वह उनको मार सकता है ? वह थक जाय पर मच्छरो का नाश नही कर सकता है। इसी तरह क्रोध को भी क्रोध से जीता नही जा सकता है।

धर्मात्मा पुरुष क्रोधी मनुष्य को चाहे जितना उपदेश दे वह सुधरता नही है। लेकिन वही क्षमा से सुधर सकता है। दुनिया में कई वस्तुएँ ऐसी हैं जो अग्नि से पिघलती हैं और कई पानी से भी। घी जैसे अग्नि से पिघलता है तो शक्कर पानी से पिघलती है। वैसे ही कुछ मनुष्यो को शिक्षा की ज़रूरत होती है तो कुछ को क्षमा की। दोनो से पुरुष सुधारा जा सकता है। लेकिन क्षमा की ज़रूरत ज्यादा रहती है। हमारे

व्रत उपवासादि तो बाह्य तप हैं पर क्षमा आन्तरिक तप है। शास्त्रकारों ने क्षमा के समान दूसरा तप नहीं कहा है। आध्यात्मिक प्रकरण नामक ग्रन्थ में लिखा है—'एक मनुष्य ६६ करोड़ मास खमण करे और दूसरा पुरुष किसी सामने वाले आदमी का एक कटु वचन भी शान्ति से सहन कर ले तो उसका पुण्य ६६ करोड़ मास खमण करने वाले पुरुष से भी ज्यादा होता है। इससे सिद्ध है कि क्षमा के समान दूसरा कोई व्रत नहीं है। सामने वाला पुरुष चाहे कितने भी खराब वचन कहे पर उसमें से भी सीधा अर्थ निकाल ले तो स्वर्ग है अन्यथा नरक तो है ही।

कोई हमें मायामय झूठा अकर्मी आदि कहे पर यह सुन कर भी हम यह सोच कि क्या यह सच कह रहा है? इस पर मुझे अमल करना चाहिये। इस प्रकार यदि हम उनका सीधा अर्थ लें तो वही गालियाँ हमारे लिये वरदान भी बन जाती हैं और सन्मार्ग की तरफ ले जाने वाली हो जाती हैं। कुछ गालियाँ आशीर्वाद रूप भी होती हैं। जैसे कोई यह कहे कि तू तो अकर्मी है। भला अकर्मी तो सिद्ध होते हैं। अकर्मी कह कर क्या वह उसे सिद्धों की श्रेणी में पहुँचने का आशीर्वाद नहीं देता है? कई कहते हैं तू तो कर्महीन है। कर्महीन तो भला अरिहन्त बनते हैं। क्या यह आशीर्वाद नहीं है? कोई 'रामा' कहते हैं पर यह कह कर तो वह हमारी प्रशंसा ही करता है। क्योंकि चारित्र हीन मानव के लिये तो सभी स्त्रियाँ बहिन तुल्य ही होती हैं। इस प्रकार यदि हम गालियों का भी उल्टा अर्थ न लेकर सीधा अर्थ ही लें तो वे हमारी उन्नति में साधक बन सकती हैं।

आप जानते होगे कि गोशाले पर जब किसी ने तेजोलेश्या फेंकी थी तो भगवान् महावीर ने उसको शान्त करने के लिये शीतल लेश्या फेंकी थी । अगर हम भी सचमुच भगवान् महावीर के सुपुत्र हैं तो क्या हमे भी अग्नि के ऊपर पानी नही छिडकना चाहिये ? क्रोध को क्रोध से शान्त नही किया जा सकता है, अत क्रोध के सामने तो क्षमा ही रखनी चाहियें। तेजोलेश्या के सामने तो शीतललेश्या का ही आदर्श रखना चाहिये । अन्यथा हम शान्ति स्थापित नही कर सकते हैं ।

ग्वाले भगवान् महावीर को गाये सोप कर गये थे तब भी वे मौन थे और जब वापिस आये तब भी वे ध्यानस्थ-मौन थे । उन्हे कुछ भी पता नही था । लेकिन ग्वालो की गाये जब इधर,उधर चरती हुई चली गई तो उन्होने भगवान् को ही चोर समझ कर खूब मारा-पीटा । यह सब देखकर, इन्द्र महाराज स्वर्ग से पृथ्वी पर आये और भगवान् से विनयपूर्वक बोले—भगवन् ! यह तो पहला ही परिषह है । ऐसे कई परिषहो का सामना आपको करना पडेगा, अत आप कहे तो मैं आपके साथ रहू । भगवान् ने इन्द्र को उत्तर देते हुए कहा—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि,

'इन्द्र ! किये हुए कर्मों का भोग भोगे बिना छुटकारा नही होता है । अत मेरे कर्म मुझे ही दूर करने होगे । तेरे रहने से मेरी सिद्धि नही हो सकेगी ।

कोई मनुष्य हमारे मैले कपडे धो डाले तो हम कितने खुश होते है ? इसी तरह कोई मनुष्य हम पर क्रोध करे और हमारे हृदय का कचरा ले जाय तो क्या हमे खुशी नही होनी चाहिये ? भला, इससे अधिक खुशी की बात और क्या हो

सकती है ? लेकिन आज तो हमारा यह हाल है कि हम तिजोरियों में से रुपये लेते हुए तो खुश होते हैं, पर कोई हमारा कचरा निकाल ले जाय तो बड़ा दुःख अनुभव करते हैं। कैसी विपरीत स्थिति आज हमारी हो गई है ?

क्रोध जहर है और क्षमा अमृत है इसीलिये क्षमा शाश्वत धर्म है और उसीसे अमरता भी प्राप्त की जा सकती है। क्षमा ही हमारे जीवन का संरक्षण कर सकती है। क्रोध करना तो शराब पीने जैसा है। जैसे शराब पीने से क्षण भर शरीर में उत्साह आ जाता है, पर बाद में तो हड्डी-हड्डी चूर होने लगती है वैसे ही क्रोध में भी कुछ समय तक तो बस नजर आता है पर अन्त में तो वह मनुष्य की शक्ति का नाश ही करता है।

क्षमा स्वर्ग और मर्त्यलोक के बीच का पुल है। अगर हमने इस पुल को ही तोड़ दिया तो फिर हम आगे कैसे पहुँच सकेंगे ? अस्तु, यदि हमने इस क्षमा के पुल को बनाये रक्खा तो हम अमरता की भावना को सुरक्षित रख सकेंगे और अमर बन सकेंगे।

१६ अगस्त १९४८

२३

अमरता की पगडण्डियाँ—२

मनुष्य मे अमर होने की भावना रहती है, पर वह अमर होने के लिये आज जिन साधनो का अवलम्बन ले रहा है, वे सव नश्वर है। अमर होने के लिये तो साधन भी अमर ही होने चाहिये, तभी अमरता प्राप्त की जा सकती है। वेदो मे कहाहै —'असतो मा सद् गमय' असत् से सत् मे जाओ। सत्य अमरता दिलाने वाला है। अमरता प्राप्ति के जो हमने १० लक्षण वताये हैं उनमें सवसे पहला है खति यानी शान्ति। पृथ्वी को हम चाहे जितना मारें-पीटे, उस पर थूके और मल मूत्र का त्याग करें, पर वह सभी सहन कर लेती है। इसी तरह विवेकी पुरुष को भी चाहे जितने बाह्य-परिषह दिये जायें, वह उन पर क्रोध नही करता है, सब पर सहिष्णुता रखता है। पाप-हिंसा आदि अधर्म मे सच्चा बल नही होता है, सच्चा वल होता है अहिंसा और सत्य मे। पाप या हिंसा तो नश्वर हैं, एक न एक दिन नष्ट हो जाने वाले हैं। लेकिन जव इन वस्तुओ को सामने से भी ऐसा ही बल मिल जाता है तो ये कुछ देर तक टिकी रह जाती हैं। जैसे कि एक मानव के हृदय मे द्वेष-भावना आई और सामने वाले पुरुष की भी द्वेष-भावना उसे मिली तो ऐसी हालत मे वह कुछ समय तक टिकी रह सकेगी, अन्यथा नष्ट हो

गई होती। अतः सामने का बल मिलने पर ही वह टिक सकती है। हम अनुभव से भी इस सच्चाई को देखते हैं। किसी क्रोध करने वाले आदमी के सामने यदि हम क्षमा धारण करलें तो उसका क्रोध नष्ट हो जाता है। लेकिन जब उन्हें क्रोध के सामने क्रोध या हिंसा के सामने हिंसा का बल प्राप्त हो जाता है तो वे कुछ समय के लिए बने रह जाते हैं, पर अन्ततः तो मिटते ही हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन की टीका में कहा है—एक बार कृष्ण महाराज बलदेव सत्यक और दारुक के साथ जंगल में घूमने गये थे। घूमते-घूमते वे बहुत दूर निकल गये और वहां उन्हें रात हो गई। वापिस घर आने का मौका नहीं था अतः चारों ने सोचा कि आज की रात इसी जंगल में किसी पेड़ के नीचे बिताई जाय। हम में से बारी-बारी से एक आदमी जगता रहे और शेष सोते रहें। यह तय कर वे एक पेड़ के नीचे आ बैठे। सबसे पहले दारुक जगा और पहरा देने लगा। जब दारुक को छोड़कर तीनों सो गये तो इतने में एक पिशाच उसके सामने आया और बोला—भाई, मुझे बड़ी जोरों की भूख लगी है अतः मुझे इन तीनों आदमियों को खा लेने दे। दारुक ने कहा—यह कैसे हो सकता है ? मैं इनकी रक्षा के लिये खड़ा हुआ हूं अतः मेरे देखते हुए तू इन्हें कैसे खा सकता है ? तू खाना ही चाहता है तो पहले मुझे परास्त कर और फिर इनको खा। इस पर पिशाच लड़ने को तैयार हो गया। पिशाच और दारुक दोनों आपस में भिड़ गये और दोनों की गुत्थम-गुत्था होने लगी। जैसे-जैसे दारुक का रोष बढ़ता जाता था वैसे-वैसे पिशाच का बल भी बढ़ता गया। दारुक पिशाच को परास्त नहीं कर सका और उसका समय

पूरा हो गया। अब सत्यक की वारी थी। वह उठा, तो थका हुआ दारुक चुपचाप सो गया। कुछ देर वाद पिशाच फिर आया और उसने सत्यक से भी वही वात कही। सत्यक ने कहा—मेरे रहते हुए तू इनको नही खा सकता है। पहले मुझे हरा और फिर इनको खा। सत्यक भी पिशाच से लडा, पर पिशाच को परास्त नही कर सका। यह भी दारुक की तरह लोहूलुहान हो गया आखिरकार जव वलदेव की वारी आई तो वह भी थक कर सो गया। वलदेव भी पिशाच से लडा तो उसकी स्थिति भी दारुक और सत्यक जैसी ही हुई। वह भी थक कर चकनाचूर हो गया, पर पिशाच को परास्त नही कर सका। अब कृष्ण की वारी थी। जव वे पहरा देने के लिये उठे तो पिशाच ने उनसे भी यही वात कही। दोनो का युद्ध शुरू हुआ। कृष्ण शान्त खडे हो गये। पिशाच का जैसे-जैसे वल वढता गया वैसे-वैसे कृष्ण शान्ति से उसे कहते रहे—शावाश तू वडा वीर है! तेरी माता धन्य है, जिसने ऐसा वीर पुत्र पैदा किया! इस तरह जैसे-जैसे कृष्ण शान्त रहते गये वैसे-वैसे पिशाच का वल भी निर्वल होता गया और वह इतना निर्बल हो गया, कि कृष्ण ने उसे पकड कर अपनी जेव मे भर लिया।

बन्धुओ! यह एक रूपक है। क्रोध ही पिशाच है और नाशवान् है। जव तक उसे सामने से वल मिलता है तब तक वह टिकता है लेकिन जब उसे सामने से वल नही मिलता है तो वह निर्वल हो जाता है। कृष्ण के सामने वह पिशाच हार खा जाता है। सवेरे जब सब उठे तो तीनो के शरीर लाल-लाल हो रहे थे। जब कृष्ण ने उनसे पूछा तो उन्होने

कहा कि हम रास्ते में एक पिशाच से लड़े थे और उसी का यह परिणाम है कि हमारा शरीर खून से लथ-पथ लाल-लाल हो गया है। तब कृष्ण ने उनसे कहा—भाई, पिशाच भयंकर नहीं होता है। यदि हम उसे कम महत्व दें तो वह तत्क्षण निर्बल हो जाता है। इसके विपरीत यदि हम जैसे-जैसे उस पर रोष करें, वैसे-वैसे वह भयंकर होता जाता है। तुमने उस पर रोष किया था इसलिये तुम उसे अपने वश में नहीं कर सके। देखो मैंने उस पर तनिक भी रोष नहीं किया तो वह मेरे सामने इतना निर्बल हो गया कि मैंने उसे अपनी जेब में भर लिया है। अब वह मेरा दास बन गया है।

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि क्रोधी के सामने क्रोध नहीं करना चाहिये। वह तो क्षमा से ही वश में किया जा सकता है। धूल उड़ती हो और कोई उस पर पानी न डालकर धूल ही डाले तो क्या वह दब सकती है? उसी तरह अगर हम क्रोध पर भी क्षमा का पानी नहीं डालेंगे तो वह भी दबने का नहीं है। अतः क्षमा यह अमरता प्राप्त करने का पहला मर्म है इसे अपने जीवन में अवश्य स्थान देना चाहिये।

मनुष्य अपने कर्मानुसार उसी योनि में पैदा होता है जहाँ वह अपनी प्रकृति का पूरा-पूरा उपयोग कर सकता है। सर्प बिच्छू, सिंह आदि की प्रकृति ऐसी ही है अगर हमारे में क्रोध की प्रकृति अधिक होगी तो उससे सर्प या बिच्छू की योनि ही प्राप्त होगी। यदि लोभ की वृत्ति ज्यादा होगी तो उससे चींटी की योनि ही प्राप्त होगी। माया की वृत्ति होगी तो उससे मनुष्य को शृगाल या लोमड़ी की योनि ही प्राप्त

होगी । अत ऐसी प्रकृतियो को अगर हम वश मे नही करेंगे तो ऐसी प्रकृतियाँ जहाँ रहती है वहाँ ही हमे जन्म लेना पडेगा और अकाल मृत्यु का मामना भी करना पडेगा । माप को देखकर क्या कोई उसे जीवित रखना चाहता है या स्वतत्र फिरने देना चाहता है, अत अगर आज हमे विवेक ज्ञान मिला है तो हमें ऐसी प्रकृतियो पर कावू पा लेना चाहिये । और इमीलिये क्षमा धर्म की मर्व प्रथम आवश्यकता वताई है, जो कि अमरता का प्रथम सिंह द्वार है ।

दूसरा धर्म है मुत्ति–निर्लोभवृत्ति -अपरिग्रहवृत्ति या अस-ग्रह वृत्ति ।

पश्चिम का वादशाह पायरम एक वार युद्ध करने जा रहा था, तव उससे एक तत्त्ववेत्ता ने पूछा–महाराज, आप कहाँ जा रहे हैं ? वादशाह ने उत्तर दिया—मैं इटली को जीतने के लिये जा रहा हू । तत्त्ववेत्ता ने अपने प्रश्न को वढाते हुए कहा–इटली को जीत कर क्या करोगे ? वादशाह ने कहा—फिर अफ्रीका जीतू गा । तत्त्ववेता ने फिर पूछा—तव क्या करोगे ? वादशाह ने कहा–तव आराम करूँगा । तत्त्ववेत्ता ने कहा–तो आप अभी मे आराम क्यो नही करते हैं ? क्या युद्ध करने के वाद ही आराम कर सकेंगे ? वन्धुओ ! हमारी भी आज ऐसी ही स्थिति हो रही है मनुष्य आज पैमा वटोरने मे लगा हुआ है और फिर उससे आराम करने की वात सोच रहा है । लेकिन विचारने की वात तो यह है, कि क्या वह इमसे आराम पाता भी है ? आप सच मानिये, उसका आराम तो एक तरह रह जाता है, पर वह पैमे मे ही उलझ जाता है । आज वम्वई मे ट्राम मोटर और

माड़िया दौड़ती है पर कहीं आराम भी है ? सब तरफ भाग-दौड़ ही मची हुई है आराम नाम लेने को भी नहीं है।

मनुष्य पैसे मे सुख और आराम समझता है पर सच यह है कि पैसा आराम और सुख को लूट लेता है। अत आराम पाने के लिये तो निर्लोभवृत्ति को ही अपनाना चाहिये। यही निर्लोभवृत्ति यानी 'मुक्ति' अमरता का दूसरा द्वार कहा गया है।

ईस्वी सन् १३१३ में पढरपुर में एक बहुत गरीब पुरुष रहता था। वह बड़ा निर्लोभी था। इसे सब लोग रांका कह कर पुकारते थे। उसकी पत्नी का नाम था बाका। एक दिन नामदेव भक्त ने भगवान् से कहा—भगवन् ! रांका और बाका आपके बड़े भक्त है। बेचारे रोज-रोज मजूरी करके अपना पेट पालते है। उनको क्यों नहीं आप कुछ दे देते है ? भगवान् ने कहा—नामदेव ! वे कुछ लेना नहीं चाहते है। उन्हें तो मजूरी करके पेट भरना ही पसन्द है। तुम अगर यह देखना चाहो तो कल इसके पीछे-पीछे जगल मे जाना और वहाँ देखना। दूसरे दिन रांका और बाका लकड़ी काटने के लिये जगल मे निकले। नामदेव पहले से ही जंगल में जाकर एक पेड़ के पीछे छिप गया। रांका और बाका आ रहे थे अचानक मार्ग में एक थैली पर रांका का पैर लग गया और उसमें से खन-खन की आवाज हुई। वह उसे सोने या चांदी की थैली समझ कर धूल से ढकने लगा ताकि उसकी पत्नी की नजर उस पर नहीं पड़े। जब वह इस पर मिट्टी डालने लगा तो उसकी पत्नी ने कहा—यह क्या कर रहे हो ? रांका ने कहा—यह सोने की मोहरों की थैली मालूम होती है इस पर अगर धूल नहीं डालूँ

तो इसे देख कर तेरा मन दु खित होगा, अत मै इसे धूल से ढँक रहा हूँ। बाका ने कहा—यह तो धूल ही है। धूल पर धूल डालने से क्या लाभ है ? बधुओ ? सोना और हीरा धूल ही तो हैं। आप इसे भले ही सोना और हीरा कहे, परन्तु वस्तुत हैं तो वे धूल ही।

आज सारी दुनियाँ इस चमकती हुई धूल के पीछे अपना अमूल्य जिन्दगी बरबाद कर रही है। यह कैसी अज्ञानता है ? मनुष्य को ज़रूरत के मुताबिक सग्रह वृत्ति रखना भले ही आवश्यक हो, पर उसके पीछे पडकर अपनी अमूल्य जिन्दगी बरबाद कर देना कहाँ की बुद्धिमानी है ? अत मनुष्य को अमरता पाने के लिये उसका दूसरा सोपान-मुत्ति, यानी निर्लोभ वृत्ति अवश्य अपनानी चाहिये।

मानव सोना-चादी सग्रह करके भी क्या यह विचार करता है कि मैं यह क्यो कर रहा हूँ ? इसका अगर आप विचार करेंगे तो आपको यह सग्रहवृत्ति बिल्कुल निस्सार प्रतीत होगी। जिस धन के लिये मनुष्य एडी से सिर तक का पसीना बहाता है और इकट्ठा करता है, वही धन कभी-कभी उसकी मृत्यु का कारण बन जाता है। ऐसा समझ कर ही कपिल केवली ने कहा है—

कसिण पि जो इम लोय पडिपुन्न दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न सतुस्से इइ, दुप्पूरए इमे आया।

किसी मनुष्य को यह सारी पृथ्वी भी दे दी जाय, फिर भी उसकी आत्मा तृप्त नही हो सकती। उसकी आत्मा तो निर्लोभ वृत्ति से ही शान्त (तृप्त) हो सकती है। अत ऐसा समझ कर मनुष्य को निर्लोभ वृत्ति—जो कि अमरता की दूसरी

सीखी है—अपनानी चाहिये और जीवन में शान्ति स्थापित कर अमरता प्राप्त करनी चाहिये ।

१४ अगस्त १९४८

२४

अमरता की पगडंडियां—३

अमरता का तीसरा मत्र है सरलता, जिसे दूसरे शब्दो मे 'आर्जव' कहा है। उत्तराध्ययन मे जब भगवान् महावीर से यह पूछा गया कि भगवान्! धर्म स्थिर कहाँ होता है? तब भगवान् महावीर ने कहा है—

'सोही उज्जु य भूअस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ'

अर्थात्—सरल हृदय में धर्म स्थिर होता है। कृष्ण वशी बजाते थे तो लोग अपना भान भूल जाते थे। ऐसा क्या था उस वशी मे? जिससे वे कृष्ण को भी भूल जाते थे और वशी को ही याद रखते थे? आज भी वशी बजती हो तो हमारा ध्यान झट उस तरफ लग जाता है। बताइए, ऐसा क्यो होता है? इसका कारण यह है कि बशी सिर से पैर तक पोली होती है—सरल होती है। अगर वह पोली न हो और उसमे कचरा भरा हुआ हो तो क्या उसमे से सुन्दर स्वर निकल सकेगा? त्रिकाल मे भी नही निकल सकता है। हमारा शास्त्र भी यही कहता है, कि जिसका हृदय सरल बना हुआ है। उसमें से ही धर्म का मधुर सगीत प्रादुर्भूत हो सकता है—निकल सकता है। इसीलिये मनुष्य को आर्जव यानी ऋजुभूत सरल बनने के लिये कहा गया है। ईशु खिस्त ने भी कहा है—

'तुम छोटे बालक जैसे बनोगे तभी तुम्हें ईश्वर मिलेगा। इसका अर्थ भी यही है कि मनुष्य को सरल बनना चाहिये। अंग्रेजी में एक जगह और भी कहा है—'यह गगन में जो जितने छोटे ग्रह हैं वे उतने ही अधिक सूर्य के पास हैं। जैसे छोटे-छोटे ग्रह सूर्य के पास हैं वैसे ही बालक भी ईश्वर के ज्यादा निकट होते हैं। एक शत्रु का बालक भी क्यों न हो पर उसके प्रति भी हमारे हृदय में प्रेम ही पैदा होगा। बालक की निर्दोषता और सरलता ही प्र म का कारण होती है।

मानव में सरलता हो तो उसका हृदय आनन्दित और प्रफुल्लित रहता है। यही नम्रता का तीसरा सिद्धान्त है।

निष्कपट भाव से यह मतलब नहीं समझना चाहिये कि किसी की गुप्त बात भी प्रकट करदी जाय लेकिन किसी के अहित के लिये कोई बात छिपी हुई नहीं रखनी यही समझना चाहिये।

नम्रता की चौथी पगडंडी है मार्दव-मृदुता यानी मद का अभाव। मद-अहंकार का जिससे मर्दन किया जाता है वही मार्दव है और उसका दूसरा नाम विनय है। विनय धर्म का मूल है और उसके बिना ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। बिना ज्ञान के धर्म कहाँ? धर्म के बिना चारित्र नहीं और चारित्र के अभाव में मोक्ष कैसे हो सकता है? अतः परम्परा से मोक्ष का कारण विनय ही है।

कुए में घड़ा डालें पर घड़ा नीचे जाकर नमे नहीं-झुके नहीं तो क्या उसमें पानी भरा जा सकेगा? नमे बिना जैसे उसमें पानी नहीं भरा जा सकता है वैसे ही ज्ञानी पुरुषों के पास ज्ञान तो होता है पर हमारे में नम्रता न हो तो हम कुछ

भी ज्ञान प्राप्त नही कर सकेंगे। एक विद्वान् ने कहा है—

'तुम खाली होकर जाओगे तो गुरू को भी खाली कर सकोगे।

सौक्रेटीज ने भी कहा है—

'जो मानव यह कहे कि मै कुछ नही जानता हूँ, समझ लो वही ज्ञानी है। जो अपने ज्ञान का अभिमान रखता है वह मूर्ख है।'

इस तरह का विनय जिसमे होता है, वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अभिमान से जो भी कार्य किया जाता है वह व्यर्थ होता है। सेवा करने वाला या ज्ञानी अभिमान करे तो उसका फल निरर्थक हो जाता है।

एक वार नारदजी किसी जगल मे फिर रहे थे, वहाँ उन्होने एक तपस्वी को देखा। तपस्वी ने नारदजी से नमस्कार किया और पूछा—आप कहाँ जा रहे हैं? उत्तर दिया ब्रह्म-लोक मे। तपस्वी ने कहा—आप ज़रा ब्रह्माजी से पूँछते आना कि मुझे मुक्ति कव मिलेगी? नारदजी ब्रह्मलोक पहुचे और उस तपस्वी का सवाल ब्रह्माजी से कहा—ब्रह्माजी ने चौपडो की तरफ इशारा करते हुए कहा—ये चौपडे पडे हुए है, इनमे देख लो। जहाँ उसका नाम होगा वहाँ उसकी मुक्ति के वारे मे भी लिखा हुआ होगा। नारदजी ने सारे चौपडे छान डाले, पर कही भी उस तपस्वी का नाम उन्हे नजर नही आया। तव ब्रह्माजी ने कहा—वह तपस्या तो करता है, पर उसका अहकार अभी नष्ट नही हुआ है, अत उसे मोक्ष नही हो सकता। नारदजी लौटकर पुन उसी जङ्गल मे आये तो तपस्वी ने उनसे पूँछा—क्या आपने मेरा नाम देखा? नारदजी

ने कहा—भाई, मैंने ब्रह्माजी के सारे चौपड़े छान डाले पर कहीं तुम्हारा नाम नजर नहीं आया। तपस्वी ने कहा—ब्रह्माजी के सभी चौपड़ झूठे हैं। क्या मेरे जैसे तपस्वी का नाम भी उनमें नहीं है? इसका कारण भी क्या आपने पूछा? नारदजी ने उसे उत्तर देते हुए कहा—ब्रह्माजी ने कहा था कि वह तपस्या करता है पर उसका अहंकार अभी गया नहीं हुआ है अतः उसे मुक्ति नहीं मिल सकती है। तपस्वी ने कहा सच है नारदजी मैं अहंकार तो करता ही हूँ अतः यह नहीं करना चाहिये। इतने में ही एक विमान आकाश से नीचे उतरा और तपस्वी के पास आकर खड़ा हो गया। नारदजी ने पूछा—यह विमान क्यों आया है? तब विमान चालक देव ने कहा—इन तपस्वी को स्वर्ग में ले जाने के लिये। नारदजी ने आश्चर्य से कहा—अभी तो मैं ब्रह्माजी से मिलकर आया हूँ और उनके सभी चौपड़ देखकर आया हूँ कहीं भी इनका नाम नहीं था और अब विमान आ गया है यह कैसा अंधेर है ब्रह्माजी के राज्य में भी? लेकिन जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि अब यह तपस्वी अहंकार रहित हो गया है तो उनके आश्चर्य का भी पार नहीं रहा। कहने का मतलब इस कथा से इतना ही है कि अहंकार रहित होकर ही जब हम तप करेंगे तभी वह फलदायी हो सकेगा।

बाहुबली ने भी घोर तप किया और यहाँ तक कि उनके शरीर पर बेल (लताएँ) चढ़ने लग गई पर फिर भी वे सिद्धि लाभ से वंचित ही रहे थे। क्या आप जानते हैं उसका कारण क्या था? वे इतना घोर तप करते हुए भी अहंकार को नहीं छोड़ सके थे। उनके मन में यह मद भरा हुआ था कि मैं बड़ा

होकर अपने छोटे भाइयो को (जो कि दीक्षा मे बडे थे) नमस्कार कैसे करू ? अत वे सिद्धि-लाभ केवल ज्ञान नही प्राप्त कर सके थे। लेकिन जब उनकी दोनो बहिने–ब्राह्मी और सुन्दरी उन्हे समझाती हैं और कहती हैं कि भाई, हाथी पर से नीचे उतरो, अहकार रूपी हाथी पर बैठे-बैठे तुम्हे सिद्धि कैसे मिल सकेगी ? तब उन्हे खयाल आता है कि मै तो अहकार रूपी हाथी पर बैठा हुआ हू। इससे मेरा कल्याण कैसे हो सकेगा ? यह सोच कर जैसे ही वह अभिमान को छोडते हैं और अपना कदम आगे बढाते हैं, वैसे ही उनका हृदय अलौकिक प्रकाश से जगमगा उठता है। उन्हे केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। पहले तपस्वी ने जैसे ही मद का त्याग किया, वैसे ही विमान स्वर्ग से उसको लेने के लिये आया और बाहुबली ने जैसे ही मद को त्यागा और मृदुता धारण कर आगे कदम बढाया वैसे ही उन्होने कैवल्य प्राप्त किया। यह दोनो उदाहरण हमे यह स्पष्ट बताते हैं, कि विनय के बिना कोई फल नही मिल सकता है। विनय ही सबका मूल है। इसका होना जीवन मे अत्यावश्यक है।

मृदुता का दूसरा अर्थ भी होता है और वह यह कि मानव अपने दोषो के प्रति तो कठोर रहे, पर दूसरो के प्रति बडा उदार बना रहे। लेकिन हमारी आज की स्थिति बिल्कुल विपरीत हो गई है। हम आज दूसरो के दोषो को तो कठोर निगाह से देखते हैं, पर अपने दोषो के प्रति ध्यान भी नही देते। लेकिन जब हम अपनी इस भूल को सुधार कर अपने दोषो के प्रति कठोर बनेगे और दूसरो के प्रति उदार नम्र होगे, तभी हम मनुष्यत्व प्रा

भी बनाने को उत्सुक रहेंगे।

मनुष्य का हृदय जब ऐसा हो जाय कि वह दूसरे के पर माणु जैसे गुण को भी महान् पर्वत जैसे समझे और अपने परमाणु जैसे दोष को भी पर्वत जैसा माने तभी मृदुता या सौम्यता उसमें आ सकती है। लेकिन आज हमारी स्थिति बिल्कुल इससे विपरीत है। बाइबिल में एक जगह कहा है—

तुम दूसरों के दोषों को क्यों देखते हो? पहले अपने ही दोषों को देखो।

आज हम अपना मुँह नहीं देख सकते हैं पर दूसरे के सिर पर लगी हुई काली बिन्दी हम देख लेते हैं। लेकिन जब हमें अपने जीवन में मृदुता का संचार करना है तो हमें ऐसी दृष्टि छोड़ देनी चाहिये। क्योंकि दुनिया का यह नियम है कि अगर मनुष्य दूसरों के दोषों पर ही अपनी नजर रखता है तो उसके जीवन में भी वे दोष आये बिना नहीं रहेंगे। अतः अगर मनुष्य को अपने हृदय में कचरा नहीं भरना हो तो उसे गुणों की तरफ ही नजर रखनी चाहिये। गाँधीजी अपनी छोटी-सी भूल के लिये भी कठोर दण्ड लेते थे पर दूसरों की भूलों को वे सरलता से निपटा देते थे। इस प्रकार जब मानव भी दुर्गुणों का समूह न बन कर सद्‌गुणों का समूह बनेगा तभी वह अपना कल्याण कर सकेगा।

१६ अगस्त १९४८

२५

अमरता की पगडरिडयाँ—४

लघुता अमरता का पाचवा साधन है। इसके बिना ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती है और ज्ञान के अभाव में चारित्र और मोक्ष भी नही प्राप्त किये जा सकने। मनुष्य, जिसके पास भी ज्ञान प्राप्त करने जाय, वहा लघुता नही अपनावे तो कभी भी ज्ञान प्राप्त नही कर सकता है। स्वामी रामकृष्ण ने कहा है—'जीवात्मा माया के जाल से बँधा हुआ है, अत वह शिव-रूप नही हो सकता है।' माया-जाल से छूटने के केवल दो ही मार्ग हैं। पहला यह कि मनुष्य इतना सूक्ष्म हो जाय कि वह माया के जाल में अटके ही नही, वह माया जाल के छिद्रो में से भी निकल जाय। ऐसी लघुता इसी लाघव गुण से आती है। माया के पाश से बचने का दूसरा उपाय यह है कि मनुष्य अपना आत्म-भाव इतना विकसित कर ले, कि वह माया के पाश से बँध नही सके। लाघवता का गुण ऐसा ही चमत्कारिक है। वह एक तरफ मनुष्य को ऐसा छोटा बना देता है, कि वह-जाल के छिद्रो में से भी निकल सके और दूसरी तरफ यह मानव को इतना विशाल बना देती है, कि माया-पाश की डोरी उसे बाँध भी न सके। हम तीर्थंकरो के लिये जो यह कहते हैं, कि वे किसी को अपना

सिर नहीं झुकाते हैं इसका रहस्य भी तो यही है कि वे अहं कार को त्याग कर अपना आत्म-भाव इतना विकसित कर लेते हैं कि पृथ्वी के समस्त जीवों के प्रति उनकी करुणा भावना रहती है। यही मानवता का पाँचवा मंत्र है।

छठा मंत्र है सत्य। सत्य के बारे में क्या कहा जाय? सत्य ही जीवन का पाया है। जो सत्य बोलता है वही ब्राह्मण है। एक शूद्र भी अगर सत्य बोलता है तो वह ब्राह्मण है। और जो ब्राह्मण होकर भी झूठ बोलता है तो वह शूद्र है। पुराने *समय की बात है—महर्षि गौतम अपने आश्रम में ब्रह्मचारियों* को वेदाभ्यास कराया करते थे। उस समय आज की तरह कालेज और यूनीवर्सिटियाँ नहीं थी। उस समय तो तापसों के आश्रम ही जो कि जंगलों में हुआ करते थे यूनिवर्सिटियाँ थी। आज का हाल तो यह है कि गाँवों के लोगों को भी शहरों में आना पड़ता है और शहरी जीवन बनाना पड़ता है। लेकिन पुराने जमाने में शहरी मानव भी जंगल में जाता था वैसा ही स्वाभाविक जीवन भी बिताता था।

आज मनुष्य भाषण सुन कर चला जाता है और उसे ५-७ रोज तक ही याद रख सकता है। लेकिन जो मनुष्य देख कर संस्कार ग्रहण करता है वह अधिक समय तक बना रहता है। पुराने समय में तपस्वियों के आश्रम में भी ऐसा ही जीवन बहता था कि जिससे मुख्यतः में ही मानव का जीवन त्याग मय हो जाता था। गौतम मुनि के आश्रम में भी ऐसे छात्र पढ़ते थे। एक दिन वे वट वृक्ष के नीचे बैठे हुए लड़कों को पढ़ा रहे थे इतने में एक ८ वर्ष का बालक गौतम के पास आया और बोला—महाराज मुझे भी ब्रह्म-ज्ञान

दीजिये। गौतम मुनि ने बडे प्रेम से पूछा—बेटा, तेरी जाति (गोत्र) क्या है ? क्या तुम ब्राह्मण हो ? लडके का नाम था सत्यकाम। उसने कहा—महाराज, मुझे अपनी जाति का तो पता नही है, मै अभी अपनी मा से पूछ कर आपको कहता हूँ। लडका दौडा हुआ अपनी मा के पास गया और बोला—मा गुरूजी ने मेरी जाति पूछी है, बता, मेरा गोत्र क्या है मा ? माता ने आसू बहाते हुए कहा—बेटा ! तू मेरे विधवा होने के बाद जन्मा है। अत तू अपने गुरूजी से यह कहना कि मेरी माता का नाम 'जाबाला' है और मै उसके विधवा होने के बाद (अमर्यादित कामचार से) पैदा हुआ हूँ।'

सत्यकाम ने यही बात साफ-साफ शब्दो मे गौतम मुनि से जाकर कह दी। उसकी बात को सुन कर सब लडके हँसने लगे। लेकिन गौतम मुनि ने कहा—'ब्रह्मज्ञान का सच्चा अधिकारी आज मुझे मिल गया है। मैं सत्यकाम को आज ब्रह्मज्ञान का उपदेश दू गा।' गुरूजी की बात को सुन कर सब लडके आश्चर्य मे पड गये। सब एक दूसरे से काना-फू सी करने लगे कि यह कैसी बात गुरूजी ने कही है। जिसके पिता का भी पता नही, भला वह कैसे ब्रह्मज्ञान का अधिकारी हो सकता है ? दूसरे ने कहा—हमे तो छह-छह मास हो गये, पर अब भी ब्रह्मज्ञान का उपदेश नही मिला, और इस सत्यकाम को, जो कि अपने को विधवा-पुत्र कहता है, आज ही उपदेश मिल रहा है। यह कैसी विचित्र बात है ? गौतम मुनि ने कुछ देर रुक कर कहा—लडको ! जो सच बोलता है वही ब्राह्मण है और वही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी भी है। भले ही कोई जाति से शूद्र हो, पर सत्य बोलता हो तो वह शूद्र होते हुए

भी ब्राह्मण ही है। यही सत्य ग्रमरता का छठा मंत्र है जिसको धारण करने पर मनुष्य ग्रमर बन सकता है।

ग्रमरता का सातवां साधन है संयम। ग्राज का वैज्ञानिक युग वासना तृप्ति में ही जीवन की सार्थकता समझता है। लेकिन इस सिद्धान्तानुसरण से जीवन कैसा सारभूत हो जाता है? यह एक विचारणीय सवाल है। ग्राज तो विवाह का भी कन्ट्राक्ट होने लग गया है। चार-छह मास में ही ऐसे विवाह टूट जाते हैं। लेकिन प्राचीन जमाने में ऐसी बात नहीं थी।

ग्रमेरिका में ग्राजकल ऐसा कफ्र्यू चालू हुआ है कि कोई भी युवक या युवती रात के १ बजे के बाद बड़े ग्रादमियों को साथ में रखे बिना बाहिर नहीं निकल सकते हैं ग्राप जान सकते हैं कि यह नियम ग्रसयम वृत्ति को दूर करने के लिये ही लगाया गया है।

पाश्चात्य संस्कृति चार पुरुषार्थ में से ग्रर्थ ग्रौर काम को ही मुख्य समझती है जब कि प्राच्य संस्कृति धर्म ग्रौर मोक्ष को प्रधान समझती है। इसीलिये पाश्चात्य देश ग्रर्थ प्रधान ग्रौर प्राच्य देश धर्म प्रधान कहे जाते हैं। ग्राज ग्राप भले ही हिन्द के किसी ग्रामीण मनुष्य से पूछें, वह भी दो चार ऐसी नई धार्मिक बातें सुना देगा जैसी कि ग्रापने पहले नहीं सुनी होंगी। इसका कारण अगर ग्राप सोचेंगे तो ग्रापको यह प्रतीत होगा कि हमारे यहाँ धर्म साधन है ग्रौर मोक्ष साध्य। लेकिन पाश्चात्य देशों में ग्रर्थ साधन है ग्रौर साध्य है काम। इसलिये जहाँ हमारे यहाँ कई धर्म-शास्त्र लिखे गये वहाँ पाश्चात्य देशों में इनके बजाय कई ग्रर्थ शास्त्र लिखे गये हैं।

क्योकि वहाँ अर्थ की ही प्रधानता मानी गई है। इस तरह हम देखते है कि दोनो की सस्कृति विल्कुल भिन्न-भिन्न है। हमारी सस्कृति जहाँ सयम का महत्त्व सिखाती है, वहाँ पाश्चात्य सस्कृति सयम का महत्व नही वताती, वह तो योग के वजाय भोग मे प्रवृत्त होना सिखाती है।

आज वैज्ञानिक आविष्कारो के वल से हम २४ घटो मे ही पूर्व से पश्चिम मे चले जाते हैं। अत आज पाश्चात्य मुल्को के ये सस्कार भी हमारे दिलो मे घर करते जारहे हैं। गुण भी आये है, पर वहुत थोडे, जिन्हे कि गिन कर वताया जा सकता है। पर दोषो का तो कोई ठिकाना ही नही है। पाश्चात्य देशो के इस चर्म-रोग ने हमारा जीवन भी अशान्त वना दिया है। इसलिये आज हमारा जीवन भी धीरे-धीरे काम और अर्थ प्रधान होता जा रहा हैं और विपरीत मार्ग पर गति कर रहा है। अत आवश्यकता है उसे सयम वना कर सीधे मार्ग पर चलाने की। और यह तभी हो सकता है जव कि हमारा जीवन सयम प्रधान हो। यही सयम हमारा सातवाँ सोपान है जिस पर चलकर मनुष्य अमरता के द्वार खटखटा सकता है—अमर वन सकता है।

१७ अगस्त, १९४८

२६

अमरता की पगडण्डियाँ—५

पुराने जमाने के तपस्वियों में बहुत कठोर तप का प्रचलन था। वे गरम गरम रेत पर सो जाते थे पंचाग्नि का सेवन करते थे ठण्ड सहन करते थे और इस प्रकार उग्र काम-क्लेश किया जाता था। उस समय तप की यही व्याख्या थी। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय ऐसा ही तप किया जाता था।

तप अमरता का आठवां साधन है। लेकिन पुराने समय मे जो तप किया जाता था वह कोरा बाह्य तप था। इसलिए भगवान् महावीर और बुद्ध ने आन्तरिक तप पर जोर दिया था हमारे शास्त्रों मे तप के दो भेद किये हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। बाह्यतप-अनशन उणोदरी आदि है। लेकिन ये तप जब आन्तरिक तप की पुष्टि करते हैं, तभी वे बाह्य तप कहे जाते है। एक दिन मैंने कहा था कि उपवास करने की प्रवृत्ति भी भिन्न-भिन्न होती है। किसी को सेवा-कार्य ज्यादा रहता है फलत भोजन करने की फुरसत नहीं मिली तो उसने उपवास कर लिया। अथवा भोजन करते समय भूखे को भोजन देकर उपवास कर ले तो ये उपवास हमारे भाव

कल के उपवासो मे ज्यादा महत्त्वशील है। शास्त्र-स्वाध्याय मे रत होकर उपवास कर लेना या सेवा करते हुए उपवास कर लेना अधिक महत्त्वपूर्ण है। और ऐसे उपवास ही अन्तर तप के साधक होते हैं। कई लोग शरीर-शुद्धि के लिए भी उपवास करते है, पर वे तप मे नही गिने जा सकते है। क्यो कि वे शरीर-सुख के लिए किये जाते है। कुछ लोग प्रतिष्ठा के लिए भी उपवास करते है। मै अट्ठाई करूँ—इससे मेरी वाहवाही होगी। क्या यह तप कहा जा सकता है? तप तो यह है कि सेवा करते-करते भोजन नही करना, भूखे को देख कर अपना भोजन दे देना और उपवास कर लेना, और यही सच्ची तपस्या भी है। केवल वाहवाही के लिये आडम्बर करके जो लम्बे उपवास करते है और पत्रिकाएँ छपा कर जाहिर करते हैं उनमे सच्चे तप का अश मात्र भी नही होता। वे सच्चे तप नही होते है। बुद्धिमान तो कहते है, कि ऐसे तप कुतप है। ऐसे ही शरीर के लिए किये गये उपवास भी तप नही हैं परोपकार के लिये किये गये उपवास ही खरे उपवास है और वही सच्ची तपस्या भी है। आयविल के बारे मे भी मैंने कहा था कि हम पाँच पक्वान्न बनाकर खा रहे हो और पडौसी सूखी रोटी खा रहा हो तो उसकी रोटी खुद खा लेवे और उसे पक्वान्न दे दे तो यह कितना अच्छा आयविल होगा? वस्तुत यदि आप ऐसा करेंगे तो आपको बडा आनन्द आवेगा। भगवान् महावीर ने ऐसे ही तप का निर्देश किया है। विना इसके अन्तरङ्ग शुद्धि नही हो सकती है। लेकिन आज बाह्य आडम्बर अधिक फैल गया है और उसीको तप समझ लिया गया है, जो कि दरअसल मे ना समझी ही है।

बाह्य तप का दूसरा भेद है उणोदरी मानी अपने भोजन में से कुछ हिस्सा दूसरे को देदेना उणोदरी है। प्राय कई लोग उपवास करते हैं तो वे उपवास में ही यह सोचने लगते हैं कि कल पारणे में क्या खावेंगे ? ऐसा नहीं सोचकर 'रस-परित्याग' करना भी तप कहा गया है। फिर काया क्लेश या वृत्ति संक्षेप तप आता है। वृत्ति संक्षेप मानी अपनी साधन-सामग्री को कम करना। फिर अन्तर तप आते हैं जिनमें प्रायश्चित का सबसे पहला स्थान है क्योंकि जब तक भूतकाल की भूलों का त्याग नहीं किया जायगा तब तक नई शुद्धि कैसे हो सकेगी ? इसीलिये प्रायश्चित को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। दंड और प्रायश्चित दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। दंड अनिच्छा से लिया जाता है पर प्रायश्चित स्वेच्छा से ग्रहण किया जाता है। दंड से शुद्धि नहीं होती है पर प्रायश्चित से शुद्धि होती है। क्योंकि वह स्वेच्छा से लिया जाता है। इसके बाद दूसरा नम्बर है विनय का अर्थात् अभिमान का त्याग करना। जैसे शरीर में वायु भर जाती है तो संनिपात हो जाती है वैसे ही आत्मा में जब अभिमान का संनिपात भर जाता है तो वह संयम-क्षेत्र में गति नहीं कर सकता है। इसीलिये विनय तप कहा गया है।

तीसरा तप है वैयावृत्य यानी सेवा। इसके लिये उत्तराध्ययन में कहा है—सेवा करने से इस आत्मा को क्या लाभ होता है ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा है—'सेवा करने से तीर्थंकर नाम कर्म बँधता है। दूसरे किसी भी प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने तीर्थंकर बनने का नहीं कहा है पर सेवा करने से तीर्थंकर बनता है यह कहा। तीर्थंकर बनने के लिए सेवा एक साधन है। हमारे शास्त्रों में नन्दीसेण मुनि का

एक उदाहरण आता है, वे वडे सेवाभावी मूनि थे। इन्द्र ने भी उनके सेवा-भाव की प्रशसा की थी। तव एक देव उनकी परीक्षा लेने के लिये यहाँ आया और वह मुनि का रूप वना कर एक जगल मे सो गया। नदीसेण मुनि ने जव उसे देखा तो वे उसे उठा कर ले जाते है। देव उल्टी करता है, टट्टी-पेशाव करता है, पर उसकी दुर्गन्ध से न घवरा कर वे सेवा-कार्य मे स्थिर रहे थे। पुराणो मे भी एक कथा आती है—एक मनुष्य ने चलते-चलते मार्ग मे एक देव-दूत को देखा, जिसके हाथ मे एक रजिस्टर था और वह उसमे कुछ लिखता भी जा रहा था। आदमी ने उससे पूछा—तुम रजिस्टर मे क्या लिख रहे हो ? देवदूत ने जवाव दिया—मै भगवान् के भक्तो का नाम लिख रहा हूँ। आदमी ने सोचा—मैं तो कभी मन्दिर मे गया नही और न कभी पुराण या गीता का पाठ ही किया है, अत भगवान् के भक्तो में मेरा नाम कैसे आ सकेगा ? उसने देवदूत से पूछा—क्या तुम ऐसे पुरुष का नाम नही लिखते हो जो दूसरे मनुष्य की सेवा करता हो ? लेकिन देव-दूत ने कोई जवाव नही दिया। वह पुरुष कुछ दूर जाकर वापिस आया और वोला—लाओ, अपना रजिस्टर तो हमे देखने दो। जब उसने देवदूत का रजिस्टर देखा तो सवसे पहले उसका ही नाम लिखा हुआ था। यह देखकर उसके आश्चर्य का पार न रहा। उसने पूछा—मे कभी मन्दिर मे गया नही, न गीता पढी, न पुराण ही पढा, फिर मेरा नाम क्यो ? कही तुम भूल तो नहीं गये हो ? देवदूत ने कहा—भाई, जो मनुष्य की सेवा करता है वही भगवान् का सवसे प्रिय भक्त है। कहने का मतलव यह है कि सेवा करने से

ईश्वर भी प्रसन्न होता है।

मार्ग में चलते हुए अगर किसी को हीरे का हार मिलता हो तो क्या कोई उसे फेंक देता है जैसे उसे कोई नहीं फेंकता इसी तरह मार्ग में चलते चलते अगर कोई दुःखी प्राणी मिले तो उसकी सेवा का मौका भी नहीं गँवाना चाहिये। पड़ौस में अगर कोई बीमार हो तो उसकी दवा दारू नहीं भूलना चाहिये लेकिन आज तो हमारे घर की दीवार के पास दूसरे घर में कौन बीमार है इसका भी ख्याल नहीं रहता है तो दूसरों की हम क्या सेवा कर सकते है? कम से कम अपने पड़ौसियों की सेवा का लाभ तो हर एक मनुष्य को लेना ही चाहिये। कई मजदूर जब नौकरी पर जाते है और घर में उनकी माँ या भाई बीमार हो तो पीछे से उनकी क्या दशा होती होगी? क्या कोई पानी पिलाने वाला भी उनके पास होता है? कलकत्ता में सतीश बाबू नामक एक कैमिस्ट थे। उन्होंने गरीबों की करुणा-जनक हालत देख कर हरिजनों का एक आश्रम खोला और वहाँ यह काम करना शुरू किया कि अगर कोई बहिन बीमार हो तो उसके बदले खुद जाकर उसका काम करना और उसकी आवक चालू रखना जिससे उसे अन्य मुसीबतों का सामना नहीं करना पड़े। इस आश्रम में जितने भी आदमी रहते थे वे सब ऐसे ही काम करते थे। दुपहर के समय वे व हरिजन वास में जाते और उनके बच्चों को शिक्षा देते थे। बारबार चक्कर लगाते थे और इस प्रकार उनकी मानसिक उन्नति करते थे। ऐसी सेवा का तप ही आभ्यन्तर तप है और यही श्रेष्ठ तप भी है।

आभ्यन्तरिक तप के बिना जो बाह्य तप किया जाता है

उसका कोई मूल्य नही होता है। आन्तरिक तप को पुष्ट करने वाले वाह्य तप ही सार्थक होते है, दूसरे नही अत ऐसे तप को अगर हम अपने जीवन मे स्थान देगे तो हम अपना जीवन पावन कर मकेगे।

१८ अगस्त २६४८

२७

रक्षाबन्धन

आज हिन्दुओं का पर्व-दिवस है। यह पर्व दो तीन नाम से पुकारा जाता है—श्रावणी नारियल पूर्णिमा और रक्षा-बन्धन। हमारी सम्वत्सरि तो आज से २ रोज बाद आने वाली है पर आज का पर्व ब्राह्मणों की सम्वत्सरि है। जैसे सम्वत्सरि महापर्व हमारा सर्वोच्च पर्व है वैसे ही ब्राह्मणों का भी यह महापर्व है इसके बाद विजयादशमी आती है जिस दिन क्षत्रियों को अपनी आत्मशुद्धि करनी पड़ती है। उसके बाद वैश्यों का पर्व दीवाली आती है और फिर शूद्रों का त्यौहार होली रूप में आता है। इस तरह चारों वर्णों के अपने-अपने महापर्व आते हैं।

आ ब्राह्मणों का पर्व है। इसे श्रावणी भी कहते हैं। आज चोपाटी पर लोगो की कतारें लगी हुई होंगी जो गङ्गा को कर अपने पापो की आलोचना करेंगे। इससे २ रोज पहले वे ब्राह्मण शुद्ध हो जायेंगे। वे आज समुद्र में स्नान करेंगे पर क्या इनके समुद्र में या नदी में स्नान करने से इनका सारे साल का पाप धुल जायगा? समुद्र में या नदी के पानी में ये आज ही नही रोज-रोज डुबकी क्यों नही लगावे पर इससे उनका पाप नही धुलने का। पाप तो तभी धुल सकेगा

जब कि वे समुद्र मे नही, विवेक के पानी मे डुबकी लगावेगे। इनको सबसे पहले पाप की आलोचना करने के लिये अपने कुटुम्ब से शुरु आत करनी होगी। आज के इस पर्व पर हर एक आदमी को यह विचारना है कि हम पहले अपने कुटुम्ब का सुधार करे। जिस पर्व मे या जिस धर्म मे मनुष्य की सेवा का विधान न हो तो वे पर्व और वे धार्मिक क्रिया-कलाप निस्सार होते है। मनुष्य की सेवा करना ईश्वर की सेवा करना है और वह सभी मानते भी है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने भी गीतांजलि' की ११ वी कविता मे जो लिखा है उसे रसियन लोगो ने बहुत पसन्द किया है। उसमे कहा है--

एक भक्त मन्दिर जाता है और मन्दिर के चारो तरफ के दरवाजे बन्द कर ध्यान करने लगता है। लेकिन जब किसी ज्ञानी पुरुष को यह ज्ञात हुआ तो वह उससे कहता है—इन दरवाज़ो को बन्द कर तुम किसका ध्यान कर रहे हो ? आखे खोलो और देखो—परमात्मा यहा कहा है ?

तो फिर परमात्मा कहा है ? तेरा परमात्मा वहा है जहाँ मजदूर सडक बना रहा है, यहाँ किसान खेत जोत रहा है, उन दु खियो के पास तेरा परमात्मा है। तुझे यदि अपना परमात्मा चाहिए तो उन दु खियो की सेवा कर।'

सचमुच परमात्मा दु खी प्राणियो मे ही मिलता है। ईशु ख्रिस्त ने भी अपने गिरि-प्रवचन मे कहा है—ईसाई मत मे एक न्याय-दिवस माना गया है। उसी को लक्ष्य कर ईशु ने कहा—"भाइयो! उस दिन परमात्मा सत्कर्म और दुष्कर्म करने वालो के दो भाग करेगे। सत्कर्म करने वालो से कहेगे— भाइयो! जब मे दु खी था तुमने मेरी सेवा की थी, जब मे

भूखा और प्यासा था तब तुमने मुझे अन्न और पानी दिया था। इसलिए मैं तुम्हें सद्गति देता हूँ। इस पर लोगों ने परमात्मा से पूछा—तुम कब दुःखी थे? तुम कब भूखे और प्यासे थे? और कब हमने तुम्हारी सेवा की थी? ईश्वर ने कहा जिस भूखे मनुष्य को तुमने भोजन दिया और पानी पिलाया वह उसे नहीं मुझे दिया और पिलाया है। जिस दुःखी मनुष्य की तुमने सेवा की वह उसकी नहीं मेरी सेवा की है। अतः मैं तुम्हें सद्गति देता हूँ। अब दूसरे आदमियों से ईश्वर ने कहा—तुमने मुझे भोजन नहीं दिया न पानी पिलाया और न सेवा ही की अतः मैं तुम्हें दुर्गति देता हूँ। इन लोगों ने भी उसी तरह ईश्वर से पूछा—भगवन्! हमने कब तुम्हारी अवहेलना की? ईश्वर ने कहा—जब एक भूखा आदमी तुम्हारे पास आया तो तुमने उसे भोजन नहीं दिया और न पानी ही पिलाया यह तुमने उसकी नहीं मेरी ही अवहेलना की है। अतः मैं तुम्हें दुर्गति देता हूँ।

बन्धुओ! आज निराश्रितों का प्रश्न भी कितना गंभीर प्रश्न हो गया है। उनको आश्रय नहीं देना परमात्मा को जगह नहीं देना है। अतः अगर हम उन्हें आश्रय नहीं देंगे तो याद रखिये हमको मनुष्य जन्म से हाथ धोना पड़ेगा। और भविष्य में हमें मनुष्य जन्म नहीं मिलेगा। ईसु ने कहा—परमात्मा उन दुष्कर्मियों को अन्त में दुर्गति देता है। हमारा सिद्धान्त भी क्या यह नहीं कहता? वह भी तो यही कहता है कि 'सत्कर्म करने पर सद्गति मिलती है और दुष्कर्म करने पर दुर्गति।

मनुष्य का प्रधान धर्म सेवा है जो कि हममें होना ही

चाहिये । लेकिन आज हमारा मूल्याकन विल्कुल विपरीत मार्ग पर जा रहा है । जिस चीज को मुख्य समझना चाहिये उसे हम गौण समझने लग गये हैं और गौण को प्रधानता दे रहे है । महात्माजी ने कई वार यह कहा था कि 'वडा वनना सरल है, पर भला होना कठिन है ।' एक योद्धा युद्ध मे सैकडो पुरुषो का खून कर सकता है, पर एक भी दु खी पुरुष का आँसू पोछना वडा कठिन है । आँसू पोछना वडे आदमी का लक्षण है, लेकिन यह वडा कठिन काम है मनुष्य मे जब यह गुण होता है तभी वह वडा बन सकता है । लेकिन आज हम इन गुणो की दृष्टि से नही, पैसे की दृष्टि से वडा और छोटा मानने लगे हैं । गुणो की कमी-वेशी कोई नही देखते हैं । एक लक्षाधिपति के पास भले ही लाखो की सम्पत्ति हो, पर उसका हृदय विशाल न हो, तो वह वडा नही वन सकता है । जव तक हृदय विशाल नही होता है तव तक कोई भला नहीं वन सकता है । पैसो से तो मनुष्य का हृदय दब जाता है, अत पैसो से किसी का वडप्पन नही आका जा सकता है । मनुष्य का जीवन मन्त्र तो यह होना चाहिये कि वह भला वने, वडा बनने की फिक्र नही करे । हमारा जीवन ऐसा होना चाहिये कि हमे देखकर दूसरे आदमी खुश हो और आशीर्वाद दें । अन्धे हमे अपनी आखे समझें और लॅंगडो के लिये हम उनके पैर सिद्ध हो । तभी हम सद्धर्मी कहे जा सकते हैं । हमारे जीवन में अगर यह वात न हो तो सम्वत्सरि को इनकी आलोचना करना व्यर्थ है ।

मैंने पहले कहा था कि आज ब्राह्मणो की सम्वत्सरि है । आज वे अपने पापो की आलोचना करेंगे । पर यदि वे अन्तर जीवन में अपनी शुद्धि नही करेंगे तो उनकी यह आलोचना

अपण होगी। माज के अपना यज्ञोपवीत (जनेऊ) भी बद लये। पुराने समय में जनेऊ बदलने का मतलब हृदय का शुद्ध करना समझा जाता था और उसका यह स्थूल चिह्न समझा जाता था। परन्तु जनेऊ पहनने वाला माज इस बात को भूल गया है। जनेऊ में तीन तार होते हैं जिनका मतलब होता है कि तुम अपने माता पिता ऋषि-गुरु और देव के ऋण से मुक्त बनो। जनेऊ के तीन तारों का यही संकेत है। लेकिन ऋण से मुक्त कैसे हों? क्या उनको देशाटन कराने से या अच्छा-अच्छा खिलाने-पिलाने से उनके ऋण से उऋण हो सकते हैं? नहीं इससे ऋण मुक्त नहीं हो सकते हैं सन्मार्ग पर स्थिर होकर जो अपने माता-पिता को भी सन्मार्ग पर अग्रसर करें तो वह इस ऋण से मुक्त हो सकता है। गुरु ऋण से मुक्त होने का तरीका बड़ा आसान है। जो सद्ज्ञान हमें गुरु कृपा से मिला है उसे बराबर बनाये रख कर उसका पान दूसरों को भी कराते रहना गुरु ऋण से मुक्त होना है। तीसरा ऋण मनुष्य पर देव का है देव याने देने वाला। जैसे कि सूर्य देव वरुणदेव अग्निदेव आदि सब देव हैं क्योंकि ये सब अपना-अपना काम करते हैं। वायु श्वासोच्छ्वास देती है सूर्य प्रकाश देता है और वरुण पानी देता है अतः ये देव हैं। देव ऋण का मतलब यही है कि जो वस्तुएं हमारी सेवा करें उनकी भी हमें बदले में कुछ देते रहना चाहिये।

ब्राह्मण जब संन्यासी होता है तो वह जनेऊ का भी त्याग कर देता है। जनेऊ के तीन तारों के त्याग से वह क्रमशः लोकैषणा पुत्रैषणा और वित्तैषणा का त्याग करता है। आज

का पर्व मनुष्य को यही सन्देश देता है। अगर इस प्रकार मनुष्य करेगा तो वह अपने इस पर्व को सफल कर सकेगा।

इस पर्व का दूसरा नाम नारियल पूर्णिमा भी है, जिसका भी बडा महत्त्व है।

एक साधु से किसी ने पूछा–ईशु ख्रिस्त को जब फाँसी पर लटकाया गया था तब क्या उसे दुख नही हुआ था? साधु ने कहा– उसे तनिक भी दुख नही हुआ था। आदमी ने कहा—यह कैसे हो सकता है? क्या उसे तनिक भी दुख नही हुआ? साधु ने उसे एक कच्चा नारियल दिखाते हुए कहा– यह कच्चा नारियल है। इसे अगर फोडू तो क्या इसकी गिरी (नारियल का भीतरी भाग) अलग हो सकेगी? नही वह तो काचली के साथ ही रहेगी। लेकिन यदि सूखा नारियल फोडूगा तो क्या उसकी गिरी अलग नही होगी? क्यो नही- अवश्य अलग होगी। इसी प्रकार जिसने शरीर और आत्मा को अलग-अलग समझ लिया है। उसके लिये दुख क्या चीज है? वह उसे समझता ही नही है। ईशुने आत्मा को जुदा समझ लिया था, इसलिये उसे फांसी के तख्ते पर भी तनिक भी दुख नही हुआ। आज की नारियल पूर्णिमा का भी ऐसा ही महत्त्व है, पर इसे कौन सुनता है? ऐसा आचरण करने के लिये आज कौन तैयार है। किसे इतनी फुर्सत है कि जो कुछ सुने और कहे उसका आचरण भी करे।

तीसरा नाम है रक्षा-बन्धन, राजपूत राजाओ का जब एक दूसरे से कलह भाव होता था तो एक राजा की स्त्री दूसरे राजा को राखी भेजती थी। इससे उनका क्लेश मिट जाता था और भाई-भाई का सबध स्थापित हो जाता था। आज

आपका भी किसी से द्वेष-भाव हो तो आप तो अपनी पत्नी को या पुत्री को राखी देकर भेजें और उस द्वेष का अन्त करें। यही रक्षा-बन्धन का महत्त्व है। अगर यह कार्य आज से ही शुरू कर देंगे तो सम्वत्सरि की आलोचना बड़ी सरल और लाभप्रद हो जायगी।

बहिन भाई के राखी बाँधती है। आज मैं भी आप सब भाइयों को 'जिनवाणी' की राखी बाँधती हूँ। लेकिन बदले मे आप मुझे कुछ देंगे भी ? देना ही चाहिये। बहिन राखी बाँधे तो भाई को कुछ देना ही चाहिये। मैं आपसे दो चीजें माँगती हूँ—पहली यह कि पर्युषणों के दिनों मे शान्ति रखना—व्याख्यान शान्ति से श्रवण करना। और दूसरी बात है—चर्बी के वस्त्रों का त्याग करना। कहिये क्या आप मुझे यह देंगे ? आप में से कितने इसके लिये तैयार हैं? हमारा जैन धर्म तो खादी का ही प्रतिपादन करता है। इसके लिये भी अगर आप खादी का प्रयोग नहीं कर सकें तो यह कितनी शर्मनीय बात होगी ? जो भाई यह प्रतिज्ञा करते हैं कि हम पर्युषण में चर्बी के वस्त्र नहीं धारण करेंगे उन्हें ध्यान रखना होगा कि वे मील के कपड़े पहन कर स्थानक में न आवें। मेरी यह छोटी-सी मांग है। पर देखना यह है कि आप सब मेरी इस छोटी-सी मांग को पूरी करेंगे या नहीं ?

आज का रक्षा-बन्धन रक्षा माँगता है। आप आज के जीवों की तुमसे रक्षा करनी है। बड़ी-बड़ी मीलों में जो हिंसा होती है उसको ८ दिन के लिये अटकाइये। अटका न सकें तो आप उसमें भागीदार तो मत बनिये। यह कोई बड़ी मांग नहीं है। अगर आप सचमुच आज रक्षा-बन्धन मना रहे हैं तो इस

प्राणियो की रक्षा करने के लिए कटिबद्ध हो जाइये। इस हिसा का त्याग कर दीजिये। चर्बी के कपडो मे स्थावर काय के जीवो की तो हिसा है ही, पर पशुओ की और मानवो की भी हिंसा है। चर्बी के लिये पशुओ का सहार होता ही है, पर मील-उद्योग से बेकार मानवो की, जो कि भूख से व्याकुल होकर मर जाते हैं, उनकी हिंसा भी होती है। इस प्रकार चारो तरफ से चरबी वाले कपडे पहनने वाले को दोष लगते है। उनको आप क्या ८ दिनो के लिये भी नही छोड सकते। शास्त्रो मे लिखा है कि जहा हिंसा की वृत्ति हो वहाँ शास्त्र नही पढा जा सकता है। आपके वस्त्रो मे तो हिसा समाई हुई है, तब, क्या मै आपको शास्त्र सुनाऊँ या नही।

आप खादी का प्रचार कीजिये और ऐसा नियम बनाइये कि मील के कपडे पहनने वाले उपाश्रय मे नही आ सके। मै तो अभी आप पर अधिक दबाव डालना नही चाहती, केवल आठ रोज़ के लिये ही यह चाहती हूँ कि आप सब पर्यूषण के दिनो मे अपनी वस्त्र-शुद्धि कर आत्म-शुद्धि करे। अगर आपने ऐसा किया तो आप अपने जीवन की शुद्धि कर सकेगे और चिर शान्ति प्राप्त कर सकेंगे।

१६ अगस्त, १६४८

२८

पन्द्रह अगस्त

आज का दिन आजादी का दिवस है। आज से एक वर्ष पूर्व हिन्दुस्तान ने विदेशी राजकीय बन्धन तोड़ कर स्वतन्त्रता पाई थी। आज जगह-जगह स्वातन्त्र्य दिवस मनाया जायगा। लेकिन इस स्वातन्त्र्य दिवस मनाने का अर्थ क्या है? इसका मतलब भी किसी ने जगाया है? आज हम स्वाधीन हैं पर हमारी स्वाधीनता हिन्द के मानव से हिसाब मांगती है कि तुमने इस एक वर्ष में क्या-क्या प्रगति की है? क्या नवीन सुधार किये हैं? आज का आजादी दिवस अपना यही हिसाब मांगता है। वह कहता है तुम्हें राजकीय स्वतन्त्रता तो मिली पर सार्वदेशीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये तुमने क्या किया?

राजकीय स्वतन्त्रता तो एकदेशीय है, पर सार्वदेशीय स्वतन्त्रता कुछ और ही है। हमें राजकीय आजादी तो मिल गई है लेकिन पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये हमें सामाजिक धार्मिक और विराग-सम्बन्धी आजादी अपेक्षित थी। इस दिशा में हमने कहां तक प्रगति की है? यही हिसाब आज का दिन हमसे मांगता है।

सच्ची आजादी क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जाय?

यह हम अभी समझे नही है। हमे अभी पूर्ण आजादी पाने के लिये अपनी वुद्धि, मन और इन्द्रियो को स्वतत्र करना है।

हमारी वुद्धि आज भ्रम से भरी हुई है। सौराष्ट्र मे फैले हुए हैजे के लिये आज हरिजनो को दोषी ठहराया जा रहा है। यह वुद्धि-भ्रम नही तो और क्या है ? यह वुद्धि जव तक भ्रम मे पडी रहेगी तव तक स्वतत्रता आई, यह कैसे कहा जा सकेगा ? आज आपके माता-पिता देवताओ के फेर मे पडे हुए हैं। अत ऐसी स्थिति में हमारी वुद्धि स्वतत्र है, यह कैसे कहा जा सकता है ? हमारा हृदय तो कठोर वना हुआ है। इसको जव तक निर्मल और दयालु नही वनावें तब तक कौन कह सकता है, कि हम आजाद हैं। हमारा मन अनेक तरह के लोभलालच से और क्षुद्र स्वार्थ से भरा हुआ है। जब तक हम इन दुष्कर्मों से मुक्त नही हो जायें तव तक हमने मुक्ति पाई है, यह नही कहा जा सकता।

आज ऊच-नीच का कितना भेद-भाव समझा जा रहा है। इसी भावना के कारण हमारे राष्ट्रपिता गाँधीजी का खून हुआ है। आज से २५०० वर्ष पूर्व इसी जाँत-पात के विरुद्ध भगवान् महावीर ने क्रान्ति की थी। उन्होने कहा था–'चारित्रशील मनुष्य ही ऊ च वन सकता है, दूसरा नही।' आज से पच्चीससौ वर्ष पूर्व यह वात कही गई थी, पर आज तक उसके ऊपर क्या हमने अमल किया है ? भगवान् महावीर के समय तो व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे चार तरह की ही जाति थी। पर आज तो चार हजार जातियाँ हो गई हैं। जव चार जातियो के लिये भी उस समय भगवान् महावीर ने क्रान्ति की थी, तो आज, अगर हम उनके भक्त हैं, तो क्या उससे भी

प्रतिक भक्ति नहीं करनी चाहिये ?

भारत को आजादी मिली तब जिन्ना साहब ने पाकिस्तान माँगा। इस पर हमें रोष उत्पन्न हुआ था। लेकिन आज हमने जो भिन्न-भिन्न जातियों के चार हजार पाकिस्तान बना रखे हैं क्या उन पर भी कभी हमें रोष आया है ? ये पाकिस्तान तो जिन्ना साहब के पाकिस्तान से भी ज्यादा भयंकर है लेकिन इसके प्रति कब किसे रोष आता है ? ये सब मन के विकार ही हैं जिन्होंने आज मनुष्य को मनुष्य से इस बुरी तरह अलग कर दिया है। एक किस्सा मुझे याद आता है—

बंगाल में त्रिपुरा जिले के एक गाँव में एक बार हैजा फैला जिससे उस गाँव में रहने वाले केवल दस बीस हिन्दुओं को छोड़कर सब मर गये। एक मुसलमान का केवल ६ माह का एक बच्चा जीवित बचा था। उस बच्चे को देख कर एक हिन्दू स्त्री का प्रेम जाग उठा। आज हम स्त्रियों को अबला कह कर पुकारते हैं पर सचमुच वे अबला नहीं सबला हैं। पाशविक बल भले ही इनमें कम हो पर दैवी बल का तो ये खजाना होती हैं। उस हिन्दू स्त्री को उस बच्चे पर दया आई और उसने उसका लालन-पालन किया। कुछ अर्से बाद किसी के यहाँ लग्न प्रसंग का मौका आया। उस समय उस स्त्री से कहा गया कि तूने एक मुसलमान का पालन किया है अतः तुझे हमारे जग में आने का कोई अधिकार नहीं है। अन्त में उस गाँव के हिन्दुओं ने मिलकर उस स्त्री को ही नहीं बल्कि उसने जहाँ-जहाँ भी भोजन किया था उन सबको भी जाति बाहर कर दिया। मनुष्य समाज में रहने का आदी होता है अतः उन्होंने बहुत कहा—सुना भी पर उन्हें जाति

मे कोई स्थान नही दिया गया। तव विवश हो वे सव मुसल-
मान हो गये।

वन्धुओ! अभी जो नोआखाली मे हत्याकाण्ड हुआ था, क्या उसमें ये मुसलमान वने हुए हिन्दू भाई नही रहे होगे? अगर हम उन्हे अपने मे समा लेते तो क्या वे मुसलमान हो सकते थे? ऊँच-नीच की भावना से ही वहाँ हत्याकाण्ड हुआ था। अत हमें सम्प्रदाय के भेदो को तोडकर सत्य को अपनाना है। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये ही मुख्य चीज़ हैं, साम्प्रदायिक भेद तो गौण है, अत उन्हे दूर कर जव हम एक ही मानव जाति कायम करेगे, तभी सच्ची स्वतन्त्रता पाई, कहा जा सकेगी।

आज स्वतन्त्र शब्द का प्रयोग भी वढ गया है लेकिन सच वात तो यह है कि आज स्वतन्त्रता के वजाय स्वच्छन्दता वढती जा रही है। एक अँग्रेज लेखक ने कहा है—स्वतन्त्रता दो तरह की होती है–एक सच्ची स्वतन्त्रता और दूसरी खोटी स्वतत्रता मनुष्य जव अपनी इच्छानुसार जो चाहे, करे, तो यह खोटी स्वतन्त्रता है। आप दूसरे का शोषण कर पैसा इकट्ठा करो और उसे स्वतन्त्रता कहो तो यह स्वतन्त्रता नही, स्वच्छन्दता है। सच्ची स्वतन्त्रता तो यह है, कि जव मानव अपना कर्त्तव्य करता हो और वीच मे उसे कोई रोकना चाहे तो वह रुके नही और अपना कर्त्तव्य करता जाय। यही सच्ची स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता मे सयम न हो तो वह शोभित नही होती है। दोनो में दोनो का समावेश होना ही चाहिये। स्वतन्त्रता में जव तक सयम न हो तव तक खोटी स्वतन्त्रता ही पल्ले पडने की है। कई मनुष्य सयम की मखौल करते हैं। लेकिन वे ज़रा कुदरत

की तरफ भी तो देखें। झाड़ ज़मीन के साथ बँधा हुआ होता है। अगर वह झाड़ यह कहे कि मैं तो आकाश में रहूँ मुझे ज़मीन के साथ बंधना नहीं चाहिए तो उसका परिणाम क्या होगा? वह मर जायगा। जब तक वह ज़मीन के साथ बंधा हुआ है तब तक वह जीवित भी है। अतः यह बन्धन ही उसके विकास का कारण है। नदी यह कि मैं दो किनारों में बंधी हुई नहीं रहूँगी तो क्या वह अपना पानी स्वच्छ रख सकेगी और महासागर से मिल सकती? इसी तरह हमारी स्वतन्त्रता भी अगर संयम से नहीं बंधी होगी तो वह भी नदी के पानी की तरह गन्दी हो जायगी।

सितार के तारों से मधुर संगीत निकलता है लेकिन वे ही तार यदि ज़मीन पर पड़े हों और हम उन पर अपनी अंगुलियाँ चलाएं तो क्या उनमें से संगीत निकलेगा? लेकिन वे ही तार यदि किसी खूँटी से बंधे हुए हों और फिर हम उन पर अंगुलियाँ चलाएं तो उसमें से कैसा बढ़िया संगीत ध्वनित होगा। स्वतन्त्रता का भी यही हाल होता है। जब वह संयम से बंधी हुई होगी तो बस मानिये उसमें से भी बड़ा मीठा मीठा मधुर संगीत निकलेगा।

हमारे शास्त्रों में कछुए का दृष्टान्त आता है। उसमें संयम का आदर्श बताया गया है। जब वह अपने विकास का अवसर देखता है तो अपने अवयवों को बाहर निकालता है और जैसे ही संकट का समय देखता है वैसे ही वह अपनी इन्द्रियों को संकुचित कर लेता है। इसी प्रकार मनुष्य को भी विकास का समय देखकर ही अपनी मति-विधि करनी चाहिये अन्यथा अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना चाहिये।

आज स्वतन्त्रता शब्द का खूब प्रयोग हो रहा है। लेकिन उसके अर्थ का आज विस्मरण हो गया है। स्व यानी अपना तन्त्र यानी नियत्रण अर्थात् अपना नियन्त्रण होना स्वतन्त्रता अपने पर दूसरो का नियत्रण हो गया हो तो यह परतन्त्रता है। अब देखना यह है कि आज हमारे पर हमारा ही नियत्रण है या वासना का ? अगर वासना का नियन्त्रण है तो हम स्वतन्त्र कैसे कहे जा सकेगे ? अत स्वतन्त्र बनने के लिये पहले हमे अपनी वासना पर नियत्रण करना होगा। तभी हम स्वतन्त्र कहे जा सकेंगे।

आज हमें स्वतन्त्र हुए एक वर्ष हो गया है, पर उसमे हमने किया क्या ? एक सद्गृहस्थ हमे मिले थे। उन्होंने कहा हिन्द आज़ाद हो गया है। लेकिन मैंने कहा—हम कहाँ आज़ाद हुए हैं ? जहाँ तक हम आज़ाद नही हो वहाँ तक क्या हम स्वतन्त्र है ? यह सच मानिये कि सयम न हो तब तक हमारी स्वतन्त्रता सच्ची स्वतन्त्रता नही है।

भाप (स्टीम) जब अनियन्त्रित होती है तो उसका कोई मूल्य नही होता है। लेकिन जब वही एक लोहे की नली मे बध जाती है तो बडे-बडे जहाज़ और स्टीमर चला देती है। इसी तरह हमारी आत्मा की शक्ति भी जब सयम मे बध जाती है तो वह भी सबल हो उठती है। इस समय की सामाजिक और व्यक्तिगत दोनो दृष्टि से ज़रूरत होती है। सामाजिक जीवन मे जो आज सघर्ष दिखाई दे रहा है, वह सयम के अभाव से ही तो हो रहा है। एक लकडी का छोटा-सा पुल हो और उस पर दानो तरफ से दो भेडे निकलती हो तो कहिये क्या हाल होगा ? अगर वे अपने शरीर को सकुचित

कर लगी तो दोनों पार हो जायेंगी अन्यथा नतीजा यह होगा कि वे दोनों ही नीचे गिर जायेंगी। आज सामाजिक जीवन मे भी हमें ऐसे संयम की आवश्यकता है। जब यह होगा तभी सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है।

महात्माजी ने जब सर्वप्रथम अंग्रेजों के साथ लड़ाई शुरू की थी उस समय उनके पास केवल ११ आदमी ही थे। अंग्रेजों के पास जहाँ करोड़ों मानव थे वहाँ गांधीजी के पास सिर्फ ११ आदमी थे फिर भी क्या कारण था कि गांधीजी उनके सामने मोर्चा लेते रहे? आप जानते हैं उनके पास चारित्र का एक ऐसा बल था जिसके सामने इतनी बड़ी अंग्रेजी सल्तनत भी परास्त हो गई। आज के पांच हजार वर्ष के इतिहास में क्या कोई ऐसा उदाहरण भी है कि किसी देश ने बिना लड़े ही स्वतन्त्रता पाई हो? हिन्द ने आज बिना खूनी लड़ाई के स्वतन्त्रता पाई है पर इसके मूल में अहिंसा और संयम की शक्ति रही हुई थी। उसी के बल पर गांधीजी ने आज हिन्द को आजादी दिलाई है। ऐसी संयम पूर्ण स्वतन्त्रता ही सच्ची स्वतन्त्रता है।

आज स्वतन्त्रता के साथ कई स्वातन्त्र्य बोले जाते हैं। जैसे वाणी-स्वातन्त्र्य मुद्रा-स्वातन्त्र्य आचार-स्वातन्त्र्य विचार-स्वातन्त्र्य मत-स्वातन्त्र्य आदि। लेकिन सच बात यह है कि स्वातन्त्र्य कोई ऐसी सस्ती चीज नहीं है कि वह हर किसी को मिल जाय। वैज्ञानिक संस्कृति जहाँ यह कहती है कि स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है वहाँ धार्मिक संस्कृति यह कहती है कि मानव बना हुआ है उसे योग्यता बिना स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती है। जैसे मनुष्य का क्या

भ्रमण-स्वातन्त्र्य दिया जा सकता है ? अगर देंगे तो फल यह होगा, कि वह कुए में गिर कर मर जायगा। इसी तरह लडाई करने वाला वाक्-स्वातन्त्र्य चाहे और दुराचारी आचार-स्वातन्त्र्य चाहे तो क्या उसे दिया जा सकेगा ? अत वैज्ञानिक संस्कृति ने जो यह स्वतन्त्रता पाने का हक दिया है, वस्तुत यह हक नहीं है, अधिकारी होने पर ही वह प्राप्त की जा सकती है। स्वतन्त्र तो एक ईश्वर ही है। मनुष्य तो बंधा हुआ है और उसे स्वतन्त्र होने के लिये संयम और अहिंसा का पालन करना ही पडता है। जब हममें निर्भयता, प्रेम आदि अमरता के ईश्वरीय गुण आयेंगे तभी हम स्वतन्त्र बन सकते हैं।

हिन्दुस्तान अध्यात्म प्रधान देश है। हर एक शास्त्र ने कहा है, कि आत्मा अमर है। लेकिन क्या हिन्द में एक भी ऐसा बच्चा है जो मृत्यु से भयभीत न होता हो ? दूसरे देशों के मुकाबले भी हम मृत्यु से अधिक डरते हैं। दूसरे देशों वाले तो अपने राष्ट्र के लिये अपनी जान कुर्बान कर जाते हैं, पर क्या आप इसके लिये तैयार होंगे ? अगर इतनी हिम्मत आप में नहीं है तो फिर आप स्वतन्त्र कैसे कहे जा सकेंगे।

सन् १९०५ में जब जापान और रूस का युद्ध हुआ था तब ५० जापानियों की टुकडी को २५० रूसियों ने एक जंगल में घेर लिया। उनमें से ४८ जापानी तो लडते-लडते मर गये, पर २ जापानी, जिनका नाम था—ओक और युत्स, बच निकले। आगे चल कर ओक भी बच नहीं सका, उसे रूसियों ने कैद कर लिया। लेकिन इससे पूर्व उसने अपने दूसरे साथी युत्स को एक रसियन झंडा देते हुए कहा—भाई, मेरी जिन्दगी का अब कुछ ठिकाना नहीं है। जीना या मरना अब भगवान्

के बस की बात है। लेकिन यह झंडा तुम मेरी पत्नी का ले जाकर देना और कहना कि यह ओक ने तुम्हारे लिये भेजा है। रूस्म सामना भागता अपने सेनापति के पास आया और बोला—साहब ओक तो शत्रुओं के चंगुल में फंस गया है पर उसने मुझे यह रशियन ध्वज अपनी पत्नी के पास पहुँचा देने को कहा है। सेनापति ओक की वीरता से परिचित था। उसने वह ध्वज सरकारी सजधज के साथ उसकी पत्नी के पास पहुँचाया। उधर ओक कद कर लिया और रूसी सेनापति के समक्ष खड़ा किया गया। आप जानते हैं, लड़ाई में सिवाय हठ के और क्या रहता है? अभी जर्मनी के युद्ध में रूस ने स्पष्ट कहा था कि 'जब तक तुमका जर्मनों के प्रति हठ न होगा तब तक तुम जर्मन को नहीं जीत सकोगे। रूस के सेनापति ने जब ओक के हाथ में जापानी ध्वज देखा तो कहा—अब तुम हमारे वश में हो गये हो अतः अपना झंडा छोड़ दो। ओक ने कहा—यह झंडा मेरे राष्ट्र का है इसे मैं अपने जीते जी नहीं छोड़ सकता हूं। रूस के सेनापति ने उसे तोप के सम्मुख उड़ाये जाने का भय बताया पर ओक अपनी बात पर अड़ा रहा। आखिरकार वह तोप के सामने खड़ा किया जाता है और धाम से उड़ा दिया जाता है। ओक का झंडा आकाश में उड़ता है और सेनापति के सिर पर गिरता है। ओक की इस बहादुरी पर शत्रु भी चकित हो गये थे। उसने तोप के सामने उड़ जाना कबूल किया पर अपने देश के झंडे का अपमान नहीं होने दिया।

बन्धुओ! हमें भी अपनी स्वाधीनता इसी तरह कायम रखनी है। मनुष्य को अपने देश की खातिर बलिदान हो

जाना चाहिये, पर अपनी स्वाधीनता बराबर कायम रखनी चाहिये। स्वतन्त्रता कोई जन्म सिद्ध अधिकार नही, वह तो मिलने पर भोगने की वस्तु है। स्वतन्त्र तो ईश्वर ही है। अत जब तक हम पूर्ण स्वतन्त्र नही बन सकेगे। सच्ची स्वतन्त्रता अगर कही है तो वह दया मे है, उद्योगशील कर्मेन्द्रियो मे है, अहिसा मे है और सयम मे है। आज से आगामी १५ अगस्त को भी यह हिसाब लिया जायगा, कि आपने पूर्ण स्वतन्त्रता पाने के लिये क्या किया ? अगर इसका परिणाम शून्य ही रहा तो आप इन झडो को फहरा कर भी क्या कर सकते है ?

हमारे राष्ट्रीय ध्वज मे तीन रग है, जो सामाजिक क्षेत्र मे—शौर्य, वीरता और प्रेम का सन्देश देते है और वे ही धार्मिक क्षेत्र मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र का सन्देश देते हैं। इनका यह सन्देश सुनकर जब आप अपने जीवन को स्वतन्त्र बनावेंगे तभी आप स्वतन्त्र कहे जा सकेंगे और तभी आपका आजादी दिवस-मानना और झडा फहराना भी सार्थक कहा जा सकेगा।

१५ अगस्त, १६४८

२६

अमरता की पगडंडियाँ—६

अमरता के अमर साधनों में 'त्याग' चौथा साधन है। कोई यह चाहे कि मैं मर्त्य साधनों से अमर बनूँ तो यह असंभव है। अमर बनने के लिये तो अमर साधन ही होने चाहिये। उन अमर साधनों में त्याग चौथा साधन है। पूर्ण त्याग होना तो कठिन है पर इसके अभाव में अल्प त्याग यानी दान किया जा सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र के नव अध्ययन में नमि राजर्षि से इन्द्र कहता है—"तुम घर रहकर भी गौओं का दान दो तो त्याग-धर्म का पालन कर सकते हो फिर संन्यास लेने से क्या लाभ ? इसका उत्तर देते हुए नमि राजर्षि ने कहा है—

> जो सहस्सं सहस्साणं मासे-मासे गवं दए।
> तस्सावि संजमो सेओ अदिन्तस्स वि किंचणं।

प्रति मास दस-दस लाख गायों का दान देने पर भी त्याग करना ज्यादा प्रशंसनीय है।

आज का दान तो ऐसा हो गया है, कि कई पापों को करने पर कुछ दान दे देना दान बन गया है। जो कि सचमुच दान नहीं है। सर्वस्व त्याग करना तो बड़ा महत्व रखता है पर जो ऐसा न कर सके उसके लिए दान का मार्ग बताया है।

इससे हम त्याग धर्म की पूर्णता धीरे-धीरे प्राप्त कर सकते है। दान के महत्व को समझने मे आज भूल की जा रही है। आप अपने घर मे यदि कुर्सी, टेबिल न रखकर चटाई पर बैठे तो क्या आपका काम नही चल सकता है ? ऐसे-ऐसे फिजूल खर्च न कर वह धन गरीवो को दे देना ही दान है। और सर्वश्रेष्ठ दान तो यह है, कि अपनी पूर्ति योग्य वस्तु रख कर ही सब कुछ अनाथो को दे दे।

भगवान् बुद्ध के एक शिष्य ने दूसरे शिष्य अनाथपिंड से कहा—'तुम श्रावस्ती जाओ और भगवान् बुद्ध को भिक्षा देने के लिए जनता से कहो।' अनाथपिंड श्रावस्ती जाकर कहता है और लोग भगवान् बुद्ध का नाम सुनकर मान देते है। कोई सोना देता है, कोई मोती देता है, कोई हीरा देते है इस तरह सब देते है। पर सब व्यर्थ का देते थे, जो कि उसे चाहिये नही था। अन्त मे वह एक जङ्गल में जाता है और वहाँ भी यही कहता है, कि तुम भगवान् बुद्ध के लिए दान दो। इतने मे उसे एक आवाज सुनाई दी। अनाथपिंड, ठहरो, मेरी यह छोटीसी भेंट भगवान् बुद्ध को दे देना। यह कहते हुए एक बुढिया अपने शरीर पर से एक कपडा उतार कर दे देती है। भिक्षु वह कपडा लेकर सिर पर रखता है और नाचता हुआ कहता है—दुनियाँ मे अब भी दातार रहते हैं।' इस तरह सर्वस्व का दान ही पूर्ण दान होता है। एक करोडपति पचास हजार रुपया दे दे, पर कोई गरीव अपनी दो पाई मे से एक पाई का दान करदे तो इसका दान उस करोडपति के दान से भी आगे वढ जाता है। क्योकि दान का महत्व ही यह है कि कम से कम रखकर ज्यादा दे देना। दान सम्पत्ति का मोह छोडने

पर ही दिया जा सकता है। घड़े पड़ पर सारी नदी का पानी डाल दो पर वह भर नहीं जायगा। धन-सम्पत्ति की मकान वृद्धि भी ऐसी है कि वह कभी प्राप्त होने वाली नहीं है। सन्तोष के सिवाय वह कभी शान्त नहीं हो सकती है। एक प्रख्यात वक्ता ने कहा है—

"मैं सामाजिक सम्पत्ति सुपारी जैसी है।

सुपारी काटने के लिये कइयों के कपड़े फटे हैं सुपारी ने कइयों के दांत तोड़े हैं पर उसने कभी किसी का पेट भी भरा है ? सम्पत्ति भी वैसी ही वस्तु है उससे कोई तृप्त नहीं होता है। भगवान् महावीर ने लोभ विजय का महत्व कोई कम नहीं बताया है। उत्तराध्ययन में तृष्णा को लता कहा है जिसमें मनुष्य बंध जाता है। मन त्याग जो कि मोक्ष साधन है उसको प्राप्त करने के लिये तृष्णा का त्याग करना चाहिये और दान देना चाहिये।

दसवां साधन है ब्रह्मचर्य। इसका अर्थ है ब्रह्म अर्थात् परमात्म भाव में चर्य अर्थात् विचरना और उसमें रहना ब्रह्मचर्य है। हम स्थानक वासी कहे जाते हैं पर इसका मन तब क्या भाव जानते हैं ? स्थानक में रहना स्थानकवासी है तो क्या पत्थर ? नहीं चैतन्य में रहना स्थानकवासी का अर्थ है। यही अर्थ ब्रह्मचर्य का भी है। आत्मा में स्थिर रहे वह ब्रह्मचर्य है। लोभ में जाना क्रोध में जाना आदि व्यभिचार है। जैसे एक सती अपने घर में रहती है और समय पर प्राण भी दे देती है पर ब्रह्मचर्य का पालन करती है वैसे ही हमें भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।

एक आदमी ने एक साधु से कहा—मुझे क्रोध बहुत आता है

इसका क्या करूँ ? मुनि ने कहा—तुम अपने पास अफीम की एक डिब्बी रक्खो। जैसे एक पतिव्रता मर जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये जब तुम्हे भी क्रोध आवे तो अफीम खाकर मर जाओ। यह उपदेश मुनि का बड़ा मननीय है। प्रत्येक मनुष्य को ब्रह्मचर्य के लिये ऐसा आत्म-गौरव जरूर रखना चाहिये। आत्मा मे रहना ब्रह्मचर्य है और इससे दूसरी भावना मे जाना व्यभिचार है। औरव्यभिचार मे जाने मे पहले अफीम की गोली खा लेना क्या बुरा है ? अत लोभादि विकारो से बच कर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।

ये उक्त दस साधन अमरता के अमर साधन हैं। अगर हम इन दस साधनो को अपनावेंगे तो हमे अमर बनने के लिये दूसरी जगह नही जाना पडेगा। हम स्वत अमर हो जायेगे।

१

पर्युषण

शुभ भाइयो और बहिनो !

जिसका हम कई दिनों से इन्तजार कर रहे थे और तैयारी कर रहे थे वह हमारा पवित्र पर्युषण-पर्व आज आ गया है । हमारे देश में जैसे आजकल खादी-सप्ताह, राष्ट्रीय-सप्ताह आदि चलते हैं वैसे ही हमारा यह धार्मिक सप्ताह कई वर्षों से चला आरहा है । यह पर्व हमारा लोकोत्तर पर्व है । दीवाली आती है तो हम अपने रुपये-पैसों की गिनती करते है और यह देखते हैं कि इस वर्ष की आमद कितनी रही ? लेकिन पर्युषण पर्व में रुपये-पैसो के बजाय गुणों की गिनती करनी पड़ती है । यह वह परीक्षा का समय है जब हमें यह देखना पड़ता है कि हमने इस एक वर्ष मे कितने गुणों को अपनाया ? बारह महीनो के दिनो में हमने अपने जीवन में धर्म को कहां तक उतारा है । इसी की जाँच करने के लिए प्रतिवर्ष यह पर्युषण पर्व आता है ।

आज का दिन पर्युषण का पहला दिवस है जिसे 'अट्ठाई धर पर्व' कहा जाता है । यह पर्व हमें सम्वत्सरि की याद दिला देता है । धर का अर्थ है—पकड़ना—और मराठी में तो धर का सीधा अर्थ ही पकड़ना होता है । तो अट्ठाई धर का अर्थ है—

सम्वत्सरि को पकड, यानी सम्वत्सरि को याद रख, जो कि आठ दिन बाद ही आने वाली है। 'महीने के घर' ने तो हमे यह कहा कि आज से ठीक एक मास बाद सम्वत्सरि आने वाली है, अत अगर तुमने आज से ही उसकी तैयारी न की हो तो 'पन्दर के घर' ज़रूर कर लेना। परन्तु यदि तुम उस दिन भी भूल गये हो तो यह तीसरा 'अट्ठाई का घर' आया है, अब तो उसके लिए पूर्ण तैयार हो जाओ। यही आज का घर हमसे अपील करता है।

पर्व जो होते हैं, वे किसी न किसी कारण को लेकर पैदा होते है। जितने भी पर्व हमारे यहाँ मनाये जाते हैं उन्हे हम दो तरह के भेदो मे विभक्त कर सकते हैं—लौकिक और लोकोत्तर। जिन्हे मानुषी और दैवी पर्व के नाम से भी पुकार सकते हैं। दीवाली लौकिक पर्व है। वह मनुष्य की वाह्य शुद्धि करने आती है, पर पर्यूषण-पर्व आन्तरिक शुद्धि करने के लिए आता है। पर्वो के आरम्भ का इतिहास यदि हम विचारे तो हमे यह स्पष्ट ज्ञात होगा, कि हर एक लौकिक पर्व तीन कारणो से पैदा हुए हैं और होते है। कई पर्व भय से, कई लालच से और कई विस्मय से प्रारम्भ हुए हैं। नागपचमी और शीतला जैसे पर्व भय से उत्पन्न हुए है। नागपचमी को अगर नाग की पूजा नही की तो नाग काट जायगा और शीतला की पूजा नही की तो मानव वीमार हो जायगा—इसी भय से आज ये पर्व मनाये जाते है। लालच से पैदा होने वाले पर्वो मे मगला-गौरी और लक्ष्मी-पूजन आदि मुख्य हैं। कई पर्व विस्मय से भी पैदा होते हैं। जिनमे समुद्र-पूजा, सूर्य-पूजा, चन्द्र-पूजा, अग्नि-पूजा आदि मुख्य हैं। मनुष्य ने जव पहले ही पहले समुद्र देखा तो

उसे देखकर विस्मय हुआ और तभी से वह उसकी पूजा करने लग गया। इस प्रकार उक्त तीन कारणों से लौकिक पर्वों की शुरुआत होती है। लेकिन लोकोत्तर पर्वों की शुरुआत ऐसी नहीं होती है। वे किन्हीं दूसरे कारणों को लेकर आते हैं।

सब धर्मों में लौकिक और लोकोत्तर दोनों तरह के पर्व हैं। मुसलमानों में रमजान का पर्व लोकोत्तर पर्व है। इन दिनों में वे कोई बुरा काम नहीं करते हैं। ईसाइयों में 'क्रिस मस' के दिन लोकोत्तर पर्व है। इसी तरह हिन्दू धर्म में भी है। लेकिन जैन धर्म की इन सबसे अपनी अलग ही विशेषता है। उसके जितने भी पर्व हैं सब लोकोत्तर पर्व ही हैं। लौकिक पर्वों का वहाँ नामोनिशान भी नहीं है। लोकोत्तर पर्व जो होते है वे आत्म-शुद्धि के लिये ही होते हैं। हमारा पर्यु षण पर्व भी लोकोत्तर पर्व है। अतः यह हमें सन्देश देता है कि तुम अपनी आत्म-साधना करो। पर्यु षण का अर्थ भी पर्यु पासना यानी देवाधिदेव की उपासना करना ही होता है। लेकिन आज हमारे सामने देवाधिदेव अरिहन्त या सिद्ध तो हैं नहीं तब फिर हम उपासना भी करें तो किसकी? यह एक सवाल हमारे सामने खड़ा होता है। आप जानते होंगे कि देवाधिदेव जो होते हैं वे तीन गढ़ के भीतर विराजते हैं—यानी उनके चारों तरफ तीन गढ़ होते हैं। इसी तरह हमारे देवाधिदेव भी तीन गढ़ के भीतर विराजमान हैं। मन वचन और काया के तीन गढ़ को लाँघकर जब हम भीतर प्रवेश करेंगे तभी हम आत्मदेव के दर्शन कर सकेंगे। आत्मदेव और देवाधिदेव में आप कोई अन्तर न समझें, आत्मदेव ही देवाधिदेव बनता है। अतः हमें इसी आत्मदेव

की उपासना करनी चाहिए। लेकिन आत्मदेव की उपासना हो कैसे ? यह हमे समझ लेना जरूरी है। आत्मा की उपासना मन, वचन और काया को स्थिर रखकर की जा सकती है। मन को शुद्ध रक्खे—यानी मन मे ऐसा दृढ निश्चय करले कि सम्वत्सरि तक कोई भी बुरा विचार हृदय मे नही आवे। बुरे विचार आव भी तो उन्हे सद्विचारो से दूर कर देना चाहिये। ईर्ष्या का भाव आया तो तत्क्षण उसे प्रमोद-भाव से दूरकर देना चाहिये। क्रोध आवे तो गजसुकमाल जैसे क्षमावीर को याद करना चाहिये, जिसने कि जलते हुए अगारे अपने सिर पर सहन किये, पर रखने वाले के प्रति तिल भर भी क्रोध नही किया। उसे याद रखते हुए मनुष्य को यह विचार करना चाहिये, कि गजसुकमाल को तो अग्नि से जलाया गया था, पर मुझे तो कोई अग्नि से नही जला रहा है। फिर मैं क्यो किसी पर नाहक क्रोध करूँ ? इस प्रकार सोच कर मनुष्य को अपना क्रोध दबा देना चाहिये। यदि अहकार की भावना उत्पन्न हो तो तत्क्षण बाहुबली का स्मरण करना चाहिये और यह याद रखना चाहिये कि सम्पत्ति असार वस्तु है, एक न एक दिन नाश होगी ही। तब मैं इसका अहकार क्यो करूँ ? ज्ञान भी हो तो यह सोच कर कि केवल ज्ञान के सामने मेरा यह ज्ञान नगण्य है, अहकार नही करना चाहिये। लोभ का विचार आवे तो यह सोचना चाहिये कि आशा और तृष्णा का अन्त नही है। मैं जिस वस्तु का लोभ कर रहा हू, वह अन्त तक मेरे साथ आने वाली नही हैं, तब मै क्यो उसके पीछे-पीछे फिरूँ ? ऐसे निर्मल विचारो से सर्व, प्रथम मन को पवित्र रखना चाहिये। ऊँच नीच के भेद-भावो

का जब हमारे हृदय में विचार उत्पन्न हों तो उस समय हम यह विचार कि मेरा जैसा कोई भी दूसरा नीच इस जगत् मे नही है फिर मै दूसरों को नीच क्यों कहूं ? क्यों समझू ? इस प्रकार कोई भी बुरी वृत्ति मन में उत्पन्न हो तो उसे तत्क्षण दूर कर देनी चाहिये ।

मन वचन और काया के इन तीन गढ़ों में से सर्व प्रथम मन के दरवाजों को खोलना चाहिये और आगे बढ़ कर आत्मदेव के दर्शन करना चाहिये । मन के दरवाजों पर जो कुविचारो के ताले लगे हुए हैं उन्हें सद्‌विचारों की चाबियों से खोलना चाहिये और उसे शुद्ध रखना चाहिये । तभी हम अपने आत्मदेव का दर्शन कर सकेंगे ।

मन के ऊपर लोभ और अनुदार वृत्ति के ताले लगे हुए है जो कि सद्‌गुणो से और मन की उदारता से खोल कर फेंके जा सकते है । मनुष्य में उदारता सब से पहले होनी चाहिये । जिस मनुष्य में उदारता की मनोवृत्ति नहीं होती है और जो जड वस्तुओ से भी अपना मोह नहीं हटा सकता वह कुछ भी नहीं कर सकता । इसलिये उदारता को अपना कर सद्‌गुणों को अपनाना चाहिये और उससे मन के ऊपर लगे हुए तालो को खोल कर फेंक देना चाहिये । इस प्रकार मन का गढ पार कर जैसे ही मनुष्य आगे बढ़ता है तो उस वचन का दूसरा गढ मिलता है । इस गढ़ मे प्रवेश करने के पूर्व मनुष्य को अपनी वाणी शुद्ध कर लेनी चाहिये । आज से ही हम यह तय कर लें कि सम्वत्सरि तक हम किसी को अप्रिय वचन क्रोधपूर्ण वचन सावद्यकारी वचन नहीं कहेंगे । हमारी वाणी सत्य हितकारी और मृदु होनी चाहिये । ताकि

सुनने वाले हमारी बातें सुनें और हमारी तरफ बरबस आकर्षित हो जायँ। इस तरह हम वचन का गढ पार कर काया के गढ मे पहुँच सकते हैं, जो कि तीसरा गढ है। और इसे पार कर आत्मदेव के दर्शन किये जा सकते है। काया के ताले खोलने के लिये काया से शुभ काम लेना चाहिये। कान से शास्त्र-श्रवण आँख से अच्छा देखना और हाथ-पाँव से धार्मिक काम करना या असहायो की मदद करना चाहिये। कोई हमारे सामने निन्दा करे, पर हम अपने कानो से वह निन्दा नही सुनें। उससे तो शास्त्र श्रवण या असहाय गरीबो की बाते ही सुननी चाहिये। ऐसा करने से ही काया के कपाट पर लगे हुए ताले खुल सकते है।

तीन बन्दरो का एक जापानी चित्र आपमे से बहुतसो ने देखा होगा। उस चित्र में एक बन्दर ने अपने दोनो कानो को अपने हाथो से बन्द कर रक्खे है, दूसरे ने अपनी आँखे बन्द कर रक्खी हैं और तीसरे ने अपना मुँह बन्द कर रक्खा है। इस चित्र का बडा रहस्य है—कान पर हाथ रखने से वह बन्दर हमे यह कहता है कि हम कान से किसी की बुराई न सुने। आँखो पर हाथ रखने वाला बन्दर कहता है, कि आँखो से तुम किसी का बुरा मत देखो। तीसरा बन्दर मुँह पर हाथ रख कर हमे कहता है कि तुम किसी की निन्दा मत करो।

बन्धुओ! हमारा पर्युषण पर्व यही कहने के लिये आया है, और आठ दिनो के लिये ऐसा करना कोई कठिन काम नही है। इन आठ दिनो मे हमे सिर्फ इतना ही ध्यान रखने का है, कि मन में बुरे विचार न आवें, वाणी मे कठोरता न हो और आचरण में बुराई न आवे। इस प्रकार अगर हम मन,

वचन और काया इन तीनों गढ़ों को पार कर आगे पहुँचेंगे तो अवश्य ही आत्मदेव के दर्शन कर सकेंगे। आत्मदेव के अगर आप सचमुच दर्शन करना चाहते हैं तो इसके लिये यह एक ही मार्ग है। आप अपने मन वचन और काया के ऊपर लगे हुए प्रमुख विकारों के तालों को सद्गुणों की चाबियों से खोल डालिए और फिर आत्मदेव को निहारिये। इसी में हमारे पर्युषण पर्व की सफलता है।

दूसरी बात जो हमें खयाल में रखनी है उसे मैंने पहले भी एक बार कहा था कि कृष्ण-पक्ष में से शुक्ल-पक्ष में आने के लिये हमें अपने आचरण की शुद्धि कर लेनी होगी। अब आज मैं फिर आपसे यह कहता हूं कि अगर आप अधिक समय तक अपनी चित्त-वृत्ति शान्त न रख सकें तो कम से कम इन आठ दिनों में तो किसी तरह का 'ब्लेक-मार्केट' स्वयं न करें और न ऐसा करने में किसी को सहयोग ही दें! सरकारी कानून-कायदों का उल्लंघन करना भी जुर्म है अतः आप धर्म की बात तो दूर जाने दीजिये पहले सरकारी आज्ञा का तो पालन कीजिये। आप इस तरह का कोई काम न करें जिससे कि कानून-भंग का जुर्म बनता हो। भले ही आप के घर में 'धान' नहीं हो और आपको उपवास करना पड़ता हो तो करलें पर 'ब्लेक' का नाज लाकर नहीं खायें। जब आपकी ऐसी दृढ़ भावना होगी तभी आपका ये पर्युषण पर्व सफल कहे जा सकेंगे। ठाणा जिले के बोरड़ी गाँव का एक किस्सा है—एक जैन साहूकार वहाँ रहता था और अब भी शायद वह वहाँ रहता होगा। ब्याज का वह धन्धा करता था। उसी गाँव में एक तांगे वाला भी रहता था। जो रोज

ताँगा चलाता था, पर उससे उसका निर्वाह नही होता था। अत विवश होकर वह रात मे कसाई का धन्धा भी करता था। ताँगे वाला इस धन्धे से खुश नही था, पर गुज़ारा करने के लिये उसे मजबूरन वह काम करना ही पडता था। कोई दूसरा चारा उसके पास नही था। उसने सेठ से दो सौ रुपये उधार ले रक्खे थे, पर ब्याज के पैसे भी मुश्किल से चुका पाता था। ऐसी हालत मे पूरी रकम कैसे चुका सकता था ? एक दिन वह कुछ रुपये लेकर सेठ के पास गया और बोला—"सेठजी, मेरे पास अभी पूरे रुपये जमा कराने को नही है, अत मेहरवानी कर कुछ दिन और मोहलत दीजिये, मैं बहुत जल्दी आपके रुपये जमा करा दूँगा।" सेठजी ने कहा—"अगर तुम अब मेरे रुपये जमा नही कराते हो तो मै तुम्हारे ऊपर मुकदमा दायर करूँगा। और तुम्हारी सब जायदाद नीलाम करा कर अपने रुपये वसूल करूँगा।" ताँगे वाले ने कहा—"सेठजी, मेरे पास केवल अपने वाप-दादो का एक घर ही शेष रहा है। क्या आप उसे भी ले लेगे ! गरीव पर दया करिये ? मै आपके रुपये धीरे-धीरे चुका दूँगा।" सेठ ने कहा—"यहाँ कौन सी दया होती है ? दया तो उपासरे मे की जाती है। जव कभी मैं जाता हूँ कवूतरो और गायो के लिये रुपया भर आता हू यहा लेन-देन में दया कैसी ?"

वन्धुओ ! आप उपाश्रय मे तो रुपये दान-दया के खातिर लिखा दे, पर व्यवहार मे दया का वरताव न करें तो क्या यह दया कही जा सकेगी ? वेचारा ताँगे वाला निराश होकर अपने घर लौटा। उसकी स्त्री वडी सुशील थी। उसने जव अपने पति की चिन्ता का कारण जाना तो कहा—"हम वकरो

की गरदन पर छुरी चलाना नहीं चाहते हैं पर यह सेठ हमारी गरदन पर छुरी चलाकर हमें भी छुरी चलाने के लिये विवश कर रहा है। तांगे वाले की स्त्री ने कहा—"अब हमें इस काम से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। अगर इस काम में कुछ रुपये और लगा दिए जावें तो इस धन्धे से हम अपना गुजारा कर सकेंगे और सेठ के रुपये भी चुका सकेंगे। आप सेठ के पास जाकर सौ रुपये और ब्याज पर ले आइये और यह कहियेगा कि हम ब्याज के सिवाय रोज रोज एक रुपया आपको जमा कराते रहेंगे और इस प्रकार धीरे-धीरे सारी रकम चुका देंगे। तांगेवाला सेठ की दुकान पर गया। पर्युषण के दिन थे। सेठानी उपवास कर घर में बैठी थी। तांगेवाले ने जब सेठजी से आकर अपनी बात कही तो सेठ जी सौ रुपये देने को तैयार हो गये। वे रुपये लेने घर के भीतर गए तो सेठानी को उदास देखकर पूछा—'क्या उपवास कुछ कठिन लग रहा है?' सेठानी ने कहा—मुझे उपवास तो कठिन नहीं लगता है पर तुम्हारी यह कसाईवृत्ति मेरे हृदय को चोट पहुँचा रही है। सेठ ने कहा—यह तो हमारा रोज का धन्धा है। सेठानी ने कहा—कसाई को रुपये देना और बकरे कटवाना क्या यह अपना धंधा है? सेठ ने कहा—'तू समझती नहीं है। धर्म तो उपाश्रय और मन्दिर में करने का है यहाँ भी धर्म आ जाय तो फिर पेट कैसे भरे?' सेठानी ने बहुत कहा-सुना पर सेठजी नहीं माने। वे रुपया लेकर बाहिर आये और बही में नाम लिखाने लगे। इतने में सेठानी घर से उठकर बाहिर आई और सेठजी से कहा—अभी पर्युषण के दिन हैं। इन दिनों में तो हमको ऐसा काम

नही करना चाहिये। अगर आप अब भी नही मानेंगे तो मै अपना उपवास चालू रखूँगी। पारणा नही करूँगी।" प्यारी वहिनो ! अगर आप भी इस तरह का व्रत ले लें तो क्या आज के ये चोर-वाजार टिक सकते हैं ? कौन ऐसा मूर्ख और लोभी होगा, जो अपनी पत्नी की हत्या करके भी चोर-वाजार करना चाहेगा ? सेठानी ने जव अपना निश्चय सेठजी से कहा तो वे विचार में पड गये। एक तरफ उनके ३०० रुपये थे और दूसरी तरफ थी उनकी पत्नी। इसी दुविधा मे कुछ देर रहे, पर आखिर सेठ ने अपनी पत्नी से कहा--'तो अव मुझे क्या करना चाहिये ?' सेठानी ने कहा--'पहले के दोसौ रुपये आप इसको माफ कर दीजिये और इन सौ रुपयो की सहायता देकर इसकी कसाई वृत्ति दूर करिये। इन रुपयो से यह अपना तागा चलाये और गुजारा करे।' सेठ ने वैसा ही किया। तागेवाला वडा खुश हुआ। उसकी पत्नी भी वडी खुश हुई। गाव वालो ने सेठजी और तागेवाले की वडी तारीफ की। तागे वाले ने अपनी कसाई-वृत्ति छोड कर अपना तागा चलाना आरभ किया और अपना गुजारा करने लगा। सुनते हैं, वह आज भी वोरडी मे अपना तागा चलाता है और सुख से जिन्दगी के दिन गुजार रहा है। लोग उसके तागे मे बैठ कर आने-जाने मे खुशी समझते हैं।

वन्धुओ ! हमे भी आज ऐसा ही सफल पर्युषण वनाना है। हम भी अगर एक आदमी का जीवन सुधार दें तो समझ लीजिये कि हमने अपना पर्युषण पर्व सफल कर दिया है। लेकिन पहले हममे ऐसा ज्ञान होना चाहिये, भावनाएँ होनी चाहिएँ, जीवन में सुसस्कार होने चाहिएँ तभी हम अपने

पथ पण को और अपने जीवन को सफल कर सकते हैं। मेरी बहिनों में अजब शक्ति भरी हुई है पर आज वे केवल भोग की पुतली समझ ली गई है। अगर वे अपने वास्तविक रूप में आजायें तो भूली हुई दुनिया को सन्मार्ग पर ला सकती है। मदालसा सती का नाम आप जानते होंगे वह एक राजा की महारानी थी। लेकिन उसने अपने पुत्रों में ऐसे संस्कार डाले कि वे सब त्यागी महात्मा बने। नैपोलियन सदा यह कहा करता था कि मुझे बहादुर बनाने वाली मेरी माता ही थी। अतः मूल बात ज्ञान की है—सुसंस्कार की है। अगर हमारी बहिनें सुसंस्कारी होंगी तो वे अवश्य अपने कुटुम्ब को और अपने वंश को भी सुसंस्कारित कर सकेगी। बोरठी की संस्कारित सेठानी ने सेठ को सुधार दिया था वैसे ही हमारी बहिने भी सुसंस्कारित हो अपने पतियों को सन्मार्ग पर चलने को प्रेरित करे और बालकों में सुसंस्कार डालें तो पथ पण की सफल साधना समझी जा सकती है।

अन्धे मनुष्य को कोई आंख दे दे तो वह कितना खुश होगा! क्या उसकी खुशी की भी कोई सीमा होगी? जब चर्म चक्षु जैसी बाह्यवस्तु के मिलने पर भी इतनी खुशी होती है तो भाव चक्षु जैसी आन्तरिक ज्योति के प्राप्त होने पर कितनी खुशी होनी चाहिये? द्रव्य-चक्षु हों या न हों पर भाव चक्षु के बिना तो मानव का जीवन इंच मात्र भी आगे नहीं बढ़ता है। अतः भाव चक्षु की तो उससे भी ज्यादा जरूरत है। इसी लिये अन्धे से अज्ञानी का दुःख ज्यादा कहा गया है। अन्धे का दुःख तो इस जीवन का ही होता है पर अज्ञानी का दुःख तो जन्म जन्मान्तरों तक का होता है। प्रकाश बिना जैसे

अन्धेरा दूर नही किया जा सकता है, वैसे ही ज्ञान के बिना अज्ञान का अन्धेरा दूर नही किया जा सकता है। ज्ञान न होने से ही अनेक कष्ट सहने पडते हैं। अत आज्ञानी को ज्ञान देना और अधार्मिक को धर्म का बोध कराना, वह अन्धे को आखे देने से ऊचा उठ जाता है। ज्ञान बचपन से ही देना चाहिये। तभी वे सस्कार दृढ हो सकते हैं। रानी मदालसा एक राजा की महारानी थी, पर थी बडी समझदार। उसने अपने पुत्रो मे ऐसे सस्कार डाले थे कि वे भोगी नही, त्यागी बने, कायर नही, वीर बने।

वालक उत्पन्न होता है तो आज की हमारी माताएँ कैसा हालरिया गाती हैं ? लेकिन सती मदालसा ने हालरिया से भी अपने बच्चो मे त्याग और वीरता के भाव भरे थे। इस प्रकार उसने एक नही, अपने सात पुत्रो का जीवन त्यागमय वना दिया था। सातो ही पुत्र बडे होकर जगल मे चले गये थे और त्यागी महात्मा बन गये थे। रानी के जब आठवाँ वालक पैदा हुआ तो राजा ने सोचा—अगर यह भी त्यागी बन जायगा तो मेरा राज्य कौन सँभालेगा ? अत उसने अपने इस पुत्र को मदालसा से लेकर लालन-पालन के लिये धायो को सौंप दिया। यह लडका सातो लडको की तरह त्यागी तो नही बना, पर फिर भी गर्भ के सस्कारो का असर तो उस पर पडा ही। रानी विवश थी। उससे उसका पुत्र ले लिया गया था और धाय्यो को सौप दिया गया था। अत उसे इस बात का दुख ही रहा कि वह अपने इस पुत्र को भी सातो की तरह त्यागी नही बना सकी। अन्त मे रानी ने मरते समय अपने इस पुत्र को बुलाया और एक कागज देते

हुए कहा—"पुत्र ! इस कागज को तू तावीज में रख कर अपनी भुजा पर बांधे रहना और कभी संकट के समय उसे खोल कर पढ़ लेना। उस समय तुझे यह शान्ति प्रदान करेगा। पुत्र ने अपनी माता के कथनानुसार उसे अपने हाथ पर बांध लिया। कुछ दिनों बाद राजा भी मर गया और यही पुत्र राज-काज चलाने लगा। कई दिनों बाद एक आदमी आया और राजा से बोला—'महाराज ! आपके सातों भाई आपका यह राज्य छीनने के लिये आ रहे हैं। अतः या तो आप अपना यह राज्य उन्हें दे दें या युद्ध के लिये तैयार रहें। सातों भाई अपने छोटे भाई की परीक्षा लेना चाहते थे और यह देखना चाहते थे कि वह भी हमारी तरह सस्कारित है या नहीं ? अतः उन्होंने ही अपना एक आदमी राजा के पास भेजा था। राजा उसकी बात सुनकर विचारों में पड़ गया। उसके मन में तरह-तरह के विचार आने लगे और वह घबड़ा-सा गया। इतने में उसका ध्यान अपनी भुजा पर बँधे हुए मदालिये (यन्त्र) की तरफ गया जिसमें उसकी माता का लिखा हुआ एक पत्र बन्द था। उसने उसे खोला और पढ़ा तो उसमें लिखा था—"पुत्र ! तू राजाओं का भी राजा है। यह राज्य जिसका तू मालिक है नश्वर है। तेरी आत्मा अविनाशी है। तू डरना नहीं और यह याद रखना कि यह राज्य तेरा नहीं है। तेरा राज्य तो इससे भी कई गुना विशाल है और तू उसी राज्य का मालिक है। ऐसे प्रेरक पत्र को पढ़ कर वह उस आदमी से कहने लगा—'भाई तुम मेरे भाइयों से जाकर कहो कि वे खुशी से मेरा राज्य ले लें। यह मेरा राज्य थोड़े ही है ! मेरा राज्य तो

मेरे ही हाथ मे है, उस पर कौन अधिकार जमा सकता है ? तुम जल्दी जाओ और उनसे कहो कि आपका भाई आपका इन्तजार कर रहा है। आप शीघ्र चलिये और पिता का राज्य सम्हालिये ।"

जब इस आदमी ने राजा का यह सन्देश उन सातो भाइयो से कहा तो वे भी यह भली भाँति समझ गये कि इसका जीवन भी हमारी तरह ही सस्कारित है। सातो भाई तो बचपन से ही राज्य-सुख को छोड कर त्यागी बन गये थे। इन्हे अब राज्य से क्या मतलब था। वे तो केवल अपने भाई की परीक्षा लेने आये थे। अत वहाँ से लौट गये। लेकिन राजा का जीवन तब से साधु-जीवन हो गया। अब उसे अपना और पराया स्पष्ट ज्ञात होने लगा।

बन्धुओ, इससे आप यह समझ सकेंगे, कि ऐसा ज्ञान उन्हे अपनी माता मदालसा से मिला था। अगर आज भी हमारी माताएँ ऐसी सस्कारित हो तो क्या वे सारे समाज को नही सुधार सकती ? अन्धेरा तो हमेशा प्रकाश से ही दूर किया जा सकता है। अत जब तक हमारी माताएँ अज्ञानान्धकार मे रहेगी और उनका जीवन सस्कारित नही होगा तब तक समाज का उद्धार कैसे हो सकेगा ! अत समाज की काया-पलट करने के लिये आप सर्व प्रथम अपनी बहिनो को सस्कारित कीजिये, अपनी बहिनो को ज्ञान दीजिये। अगर आप सचमुच अपने पर्युषण पर्व की आराधना करना चाहते हैं और तीन गढ के भीतर बैठे हुए आत्मदेव के दर्शन करना चाहते है तो इसके लिये आपको अहर्निश ज्ञान का दीपक प्रज्ज्वलित रखना होगा। क्योकि ज्ञान के प्रकाश से ही

अज्ञान का अन्धकार दूर हो सकता है। इसलिये अज्ञान को दूर करने के लिये ज्ञान का दीपक जलाना ही होगा। इसके साथ-साथ आपको उदारता की अगरबत्ती भी जलानी होगी। और चारों तरफ सुवास फैलानी होगी। इस तरह अगर हम ज्ञान का दीपक जलाकर और उदारता रूपी अगरबत्ती की सुगन्धि फैला कर आत्मदेव की साधना करेंगे तो हम अवश्य उसके दर्शन कर सकेंगे और सम्वत्सरि पर्व को भी सफल कर सकेंगे। प्रति वर्ष की भांति यह सम्वत्सरि भी आपकी ऐसी ही नहीं चली जाय इसका ध्यान रखते हुए आप उसके लिये अपनी पूरी-पूरी तैयारी रक्खेंगे तो आप अपने इस पर्व की साधना सफल कर सकेंगे।

३१

सम्यग्-दर्शन—१

जिस हद तक मनुष्य मुक्ति को चाहता है—पसद करता है, उस हद तक वह उसके मार्ग पर नही चलता–चलना नही चाहता। अगर इन्सान उल्टे उपायो का सहारा न ले और सीधे उपायो का आधार लेकर चले तो वह मुक्त बन सकता है—स्वतन्त्रता को पा सकता है। शास्त्रकारो ने सम्यग्-दर्शन-सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र ये तीन मुक्ति के मार्ग बताये हैं। अविकारी आत्मा का स्वरूप ऐसा ही होता है। आत्मा कोई दिखाई जाने वाली चीज़ नही है, कि हाथ में पकड कर या शीशे में बन्द कर दिखाई जा सके। वह तो गुणो का समूह है–ज्ञान, दर्शन और चारित्र का समूह ही आत्मा है। और वह जब अपनी असली स्थिति मे प्रतिष्ठित हो जाता है, तब उसे मुक्तात्मा मान लिया जाता है। इस तरह साधक, साध्य और साधन इन तीनो का एक स्वरूप होना मुक्ति है।

'ज्ञान' से पहले शास्त्रकारो ने दर्शन का उल्लेख किया है। आत्मा में ज्ञान तो होता है, पर जब तक सम्यग् दर्शन न हो तब तक वह ज्ञान प्रशस्त नही होता है। वैसे तो निगोद में भी ज्ञान होता है, पर वह सम्यग् दर्शन के अभाव मे झूँठा होता है अत सम्यग् दर्शन को सबसे पहला स्थान दिया गया है।

सम्यग् दर्शन के प्रभाव से सत्याग्रही दुराग्रही हो जाते हैं और सम्यक्त्वी मिथ्यात्वी कहे जाते हैं ।

कई मनुष्य यह कहते रहते हैं कि परमतावलम्बी शास्त्र नहीं पढ़ने चाहिये गीता कुरान और बाईबिल नहीं पढ़ने चाहिये । इससे हमारी समकित चली जाती है । लेकिन मैं कहती हूँ क्या हमारी समकित इतनी कमजोर चीज है जो ऐसी मामूली हवा में भी उड़ जाया करती है ? अगर सचमुच ऐसे उड़ती रहती हो तो फिर सिनेमा देखने से क्यों नहीं उड़ जाती है ? भोले मनुष्यों की इन बातों में कोई तथ्य नहीं है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य जो होते हैं, वे चाहे जिस मार्ग पर चले जाय वायु के प्रबल झोकों में और तूफानों के चक्कर में भी क्यों न फँस जायें पर अपना गन्तव्य मार्ग नहीं भूलते हैं । वे गीता कुरान और बाईबिल पढ़कर भी अपने उच्च विचारों पर अविग रहते हैं ।

सम्यग् दृष्टि का सीधा सा मतलब है—'सीधी दृष्टि वाला । सम्यग् दृष्टि हो जाने के बाद मनुष्य के आचरण में भेद हो जाता है । और यह आचरण-भेद ही आचार कहा जाता है। यह आचार आठ तरह का होता है, जिसे हम दर्शनाचार कहते हैं । जिसमें ये दर्शनाचार हों वही अपने को सम्यग् दृष्टि कह सकता है दूसरा नहीं । आइये अब हम यह देखें कि दर्शनाचार के ये आठ आचार हमारे में भी है या नहीं ? अगर हैं तो वस्तुतः हम सम्यग् दृष्टि हैं अन्यथा समझ लीजिये हम उसका दम मात्र करते हैं वास्तविक सीधापन (सम्यग् दृष्टिता) हमारे में नहीं ।

दर्शनाचार के आठ आचारों में से सबसे पहला आचार

है निश्शकता। यानी अहिंसा और सत्य मे दृढ विश्वास। सम्यग् दृष्टि जो होता है वह अहिंसा मे ही दृढ विश्वास रखता है, उसे हिंसा मे विश्वास ही नही होता है।

हिन्द को स्वराज मिला तो उल्कापात हुआ, और सभी मनुष्य एक समग्र यह समझने लग गये कि मुसलमान तो आफत हैं, उन्हे तो मारना ही चाहिये। पर जिनमे निश्शकता थी, सम्यग् दृष्टि थी, उनके दिलो में ऐसी शका नही आई। उन्होने तो तब भी यही कहा कि 'तुम मुसलमानो से प्रेम करो, वे अब भी समझ जावेंगे।' बन्धुओ! सम्यग् दृष्टि का यही पहला पगला है, लेकिन तनिक अपने सीने पर तो हाथ रख कर कहिये कि क्या आप इसके पालने वाले हैं? अगर नही है तो आप सम्यग् दृष्टि कैसे कहे जा सकते हैं?

दूसरी बात है—नि.काक्षता—किसी वस्तु की कामना नही होना। उसको कर्तव्य और नियति पर विश्वास होता है। वह नाहक किसी चीज़ का सग्रह नही करता है। वह अपरिग्रही होता है। लेकिन जो परिग्रही हो और इसके लिये नाना पापो का सेवन करता हो तो वह नि काक्षी कैसे कहा जा सकता है? अत यह सम्यग् दृष्टि का दूसरा लक्षण है।

तीसरा लक्षण है—निर्विचिकित्सा—घृणा की भावना नही रखना। मनुष्य रोगी हो, पर उससे घृणा न करते हुए उसके गुणो को ग्रहण करना, सद्गुणोपासना है। स्वस्थ और स्वच्छ रहना आवश्यक है, पर यह कोई नियम नही है, कि रोगी सद्गुणी न हो, अत बिना किसी विषम भाव के गुण ग्रहण करना तीसरा दर्शनाचार है।

चौथा लक्षण—अमूढ दृष्टि—विवेक का होना। सम्यग्

दृष्टि में कभी भी मूढ़ वृत्ति नहीं होती है। वह हर एक काम को विवेक की दो आंखो से देखता है। एक आंख से वह अपने हृदय की भावनाओं को देखता है और दूसरी से उसका भविष्य। मैं अमुक काम करता हूँ इसका मेरे अन्तर में क्या भाव है और भविष्य में क्या परिणाम होगा? ऐसा सोचना अमूढ़ दृष्टि है जो कि दर्शनाचार का चौथा भेद है। लेकिन आज हमारी दृष्टि तो इतनी मूढ़ हो गई है कि हम भविष्य का विचार तो करते ही नहीं हैं। मील का कपड़ा पहनते हैं, पर उसका फल क्या आवेगा यह नहीं सोचते हैं। ग्रामोद्योग की सभी वस्तुएँ अल्पारम्भी होती हैं और मील की सभी वस्तुएँ महारम्भी अतः ऐसा सोच कर उपयोग करना अमूढ़ दृष्टि है। अमूढ़ दृष्टि उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से विचार करता है पर मूढ़ दृष्टि की दोनों दृष्टियां बन्द रहती है। विचारिये हमारे में ये लक्षण है या नहीं? अगर नहीं है तो हम सम्यग् दृष्टि का दावा कैसे कर सकते हैं।

पाचवा भेद है—उपबृहन—अपने गुणों को छिपाना। मानव दूसरों के सद्‌गुणों की प्रशंसा करे, पर अपने गुणों को प्रकट न करे, यह उपबृहन नामक दर्शनाचार है। लेकिन आज का हाल तो यह है कि कोई पाच रुपये का भी दान देता है तो वह सबसे पहले देखता है कि दान-दाताओं की लिस्ट में मेरा नाम कहाँ आया है? ऐसा विचार करने वाले सम्यग् दृष्टि नहीं कहे जा सकते हैं। भले ही कोई हमारी कौम में न जन्मा हो पर ऐसे आचार पालता हो तो वह सम्यग् दृष्टि ही कहा जायगा और इस तरह एक मुसलमान भी शुद्ध दर्शनाचार का पालन करते हुए सम्यग् दृष्टि बन सकता है।

छठा लक्षण है–स्थितिकरण–अहिंसा, सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह आदि से गिरते हुए प्राणियो को स्थिर करना—स्थितिकरण नामक दर्शनाचार है।

सातवाँ भेद वात्सल्य है। मारी दुनियाँ को अपना कुटुम्ब समझकर उमकी सेवा मे अपनी जिन्दगी अर्पण कर देना वात्सल्य है। भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की एक कथा है, उसमे उन्हे वोधिसत्व का नाम दिया जाता है। पूर्व जन्म मे भगवान् बुद्ध का जीव मगध के एक गाँव मे पैदा हुआ था। मघा नक्षत्र मे जन्म लेने से उनका नाम मघा रक्खा गया था। 'पूत के पग पालने मे' इस उक्ति के अनुसार मघा की आकृति वडी भव्य थी, अत उसे देखकर भविष्य-वक्ताओ ने कहा कि यह वालक वडा सेवा भावी होगा। सचमुच मघा जव १२ साल का हुआ तो वह वडी सेवा करने वाला वना। वह अपने घर की और वाहिर की शुद्धि करने लगा और धीरे-धीरे सारे गाँव की सफाई करने लगा कई लोग उसकी सफाई की हुई जगह पर कचरा डाल देते थे और उसे तग करते थे, लेकिन मघा उन्हे फिर से साफ कर देता था। इस काम से उस गाँव के दो जवान युवक उसकी तरफ आकर्षित हुए और उन्होने भी यह कार्य करने के लिये मघा से कहा। मघा ने कहा—भाई, यह कार्य कठिन है, इसे तुम छोटा न समझो। जो कोई कुछ कहे, उसे चुपचाप सुनते हुए अगर काम करने की शक्ति तुम्हारे में हो तो आओ, अन्यथा अपने घर बैठे रहना ही ठीक है। उन जवानो ने अपनी तैयारी दिखाई तो मघा ने उन्हे दीक्षित कर लिया। इस तरह उस गाँव में उसके ३२ शिष्य हो गये। अव वे भी सफाई के साथ-साथ शराबियो

को समझा-बुझा कर उनसे शराब पीना बन्द कराते—बदचलन आदमियों को सुधारते लड़ाई-झगड़ा मिटाते और इस तरह वे आन्तरिक शुद्धि भी करने लगे जिससे सबके प्रिय-पात्र बन गये। सारा गाँव उन्हें चाहने लगा पर शराब बेचने वालों बदचलन स्त्रियों और राजकर्मचारियों की नजरों में वे कांटे से चुभने लगे। क्योंकि मघा के कार्यों से इन लोगों के धन्धे बन्द होते जा रहे थे। अतः एक दिन राजकर्मचारियों ने मघा की शिकायत राजा से की और उसके विरुद्ध उल्टी-सीधी बातें कहकर राजा को अपना बना लिया। राजा शराब के नशे में मस्त था अतः उसने जैसा सुना सही माना और हुक्म दिया—जो लुटेरे गाँव के लोगों को त्रास देते हैं उन्हें पकड़वा कर मार डालना चाहिए। उसने मघा के पकड़ने के लिए पुलिस भेजी पर मघा को जब यह पता चला तो वह स्वयं अपने साथियों सहित राजा के सामने आ खड़ा हुआ। राजा को आश्चर्य हुआ कि ये कैसे लुटेरे हैं जो स्वतः मरने के लिये आ गये ? उसने पुलिस को हुक्म दिया इन सबको जमीन पर सुलाकर हाथी से कुचलवा दो। राजकर्मचारी यह सुनकर बड़े प्रसन्न हुए पर कुदरत जिसको जीवित रखना चाहती है उसका बाल भी बाँका कौन कर सकता है ? उन सबको सुला दिया गया और हाथी छोड़ दिया गया। मघा ने अपने शिष्य खूब पक्के कर रखे थे। उसने कहा—आज हमारी आखिरी परीक्षा है अतः सम-भाव से जो कुछ हो सहन करना। मैं तुम सबसे आगे सोता हूँ अगर हाथी तुम्हें मारेगा तो मुझे भी मारेगा ही इसलिए विषम भाव मत लाना।

हाथी आया और मघा को सूँघने लगा। राजकर्मचारियों

ने तो समझा मघा का काम तमाम हो जायगा, पर हाथी जैसा आया वैसा ही उसे सूंघकर वापिस लौट गया। राजकर्मचारियो ने कहा—महाराज, ये लोग तो जादू-मन्त्र जानते हैं, अतः हाथी को भी भगा देते हैं। राजा के हुक्म से दूसरा हाथी छोड़ा गया, पर वह भी इसी तरह लौट चला। इस तरह जब तीसरा हाथी भी सूंघ कर लौट गया, तब राजा ने मघा को अपने पास बुलाया और पूछा—भाई, तुम्हे कौन सा मन्त्र याद है जिससे हाथी को भी भगा देते हो? मघा ने कहा—राजन्! मुझे एक ही मन्त्र याद है 'जो तुम्हे अच्छा लगे, वही दूसरे के लिये भी करो। राजा ने कहा— इसका साधन क्या है? मघा ने उत्तर दिया—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह इसके साधन हैं। इनके आराधन से यह मन्त्र सिद्ध हो जाता है।

राजा ने आश्चर्य से कहा—क्या तुम मेरे राज्य मे अपने इस मन्त्र का प्रयोग करते थे मघा ने कहा—हा राजन्, मैं इसी मन्त्र का प्रयोग करता था।

इतने मे प्रजाजन आये और बोले—महाराज! ये तो राज्यभक्त हैं, इन्होने जैसा कार्य किया है वैसा कार्य तो किसी राजा ने भी नही किया। राजा ने तत्क्षण दूसरा हुक्म दिया कि इन राज कर्मचारियो को भूमि पर सुलाओ और फिर हाथी को छोड दो।' लेकिन मघा ने कहा—राजन्! मैं आप से प्रार्थना करता हू, कि आप मेरे इन भाइयो को इस प्रकार न मारें। राजा मघाको अपना राज्य सौंपने लगता है, पर मघा राज्य लेने से इन्कार करता है। अन्त मे राजा उसे प्रधान बनाता है। धीरे-धीरे मघा के नाम से उस देश का

नाम ही मयष मशहूर हो जाता है । लेकिन यहाँ कहने का आशय केवल इतना ही है कि जन-सेवा में अपनी जिन्दगी की आहुति कर देना और उसी में अपार आनन्द मानना सम्यक् दृष्टि का अपना धर्म होता है जो की दर्शनाचार का सातवां लक्षण माना गया है ।

आठवां लक्षण है—प्रभावना । अपने धर्म के सिद्धान्तों का पालन करते हुए उसका प्रचार करना धर्म की प्रभावना है।

उक्त आठ भेद दर्शनाचार के हैं । अगर ये हमारे जीवन में है तो समझ लीजिये हमें कोई मिथ्या दृष्टि नहीं कह सकता है । यदि न हों तो फिर हमे उसका दम्भ भी नहीं करना चाहिये । सम्यग् दृष्टि आने पर मनुष्य को सम्यग् ज्ञान प्राप्त होता है और फिर चारित्र । इस क्रम से अगर मानव चले तो वह अपनी सच्ची आजादी मुक्ति को प्राप्त कर सकता है ।

३२

सम्यग्-दर्शन—२

प्राय देखा जाता है, कि जो लोग जैन-सिद्धांतों को केवल साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से ही देखते हैं वे उन सिद्धांतों की गहनता और उदारता का मजा नहीं ले सकते हैं। जैन धर्म के सिद्धांत कितने व्यापक तथा सारग्राही हैं, उसका अगर पता लगाना हो तो जैन धर्म के सिद्धांतों की दोनों बाजू (side) देखनी चाहिये। तभी उनकी गहनता का पता लगाया जा सकता है। महाराजश्री के व्याख्यानों की यह विशेषता है, कि वे अपने विषय की दोनों बाजू पकड़ कर चलते हैं। अगर कोई उन्हें गहरी दृष्टि से पढ़े तो वह उस उदारता का पान कर बैठेगा जो कि जैन धर्म की सर्वोत्तम विशेषता है। इस लेख को पढ़ते समय भी पाठकों का दृष्टि बिन्दु ऐसा ही होना चाहिये—सम्पादक

संसार में प्राणीमात्र आधि-व्याधि और उपाधि रूप इन त्रिविध ताप से पीड़ित है। हमारा यह पर्युषण पर्व इन त्रिविध तापों से मुक्त कर समाधि की ओर ले जाने के लिये आया है। आप सब समाधि की ओर जाने के लिये तैयार बैठे हैं, पर क्या आप जानते हैं, कि समाधि किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है? और इन त्रय तापों से किस प्रकार छुटकारा पाया जा सकता है? इस समाधि को प्राप्त करने के लिये तीन साधन बताये गये हैं—श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया। हमारा पर्युषण पर्व

समाधि के लिये यही तीन राज-मार्ग बताता है जिन्हें दूसरे शब्दों में दर्शन ज्ञान और चारित्र भी कहते हैं।

दुनिया के प्रत्येक समझदार मानव को उक्त तीनों सिद्धान्तों की जरूरत होती है। उसे सब से पहले श्रद्धा की आवश्यकता होती है। कोई मनुष्य बीमार हो तो उसे पहले श्रद्धा होनी चाहिये कि 'मैं बीमार हूँ।' इसके बाद उसे यह ज्ञान होना चाहिये कि इस बीमारी से मुक्त होने के उपाय क्या है ? और फिर उसे उन उपायों को क्रिया रूप में व्यवहार करना चाहिये। तभी वह स्वस्थ हो सकता है। इसी तरह अगर कोई गरीब मनुष्य अपनी गरीबी से मुक्त हो कर श्रीमन्ताई चाहे तो उसे भी इन तीनों बातों का आश्रय लेना ही होगा। सर्व प्रथम उसे यह विश्वास होना चाहिये कि 'मैं गरीब हूँ।' इसके बाद उसे उससे छूटने का उपाय सोचना चाहिये और तदनन्तर वे उपाय क्रिया में परिवर्तित करने चाहिये। तभी, वह गरीबी से मुक्ति पाकर श्रीमन्ताई अपना सकता है। इस प्रकार हरेक कार्य में इन तीनों की जरूरत तो रहती ही है। लेकिन समाधि प्राप्ति के लिये इन के पूर्व 'सम्यक' शब्द लगा होना चाहिये। जिसे कि हम सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व ही हमारी सिद्धि का पाया है। जैसे पाये के बिना कोई मकान तैयार नहीं किया जा सकता है वैसे ही सम्यक्त्व के बिना श्रावक या साधु कुछ भी नहीं बना सकता है। यहाँ तक कि मानव भी उसके बिना दानव कहा जाता है।

श्रद्धा दो तरह की होती है—सम्यक श्रद्धा और दूसरी है अंध श्रद्धा। दोनों कहलाती तो श्रद्धा ही है। पर पहली श्रद्धा विवेक पूर्ण होती है और दूसरी श्रद्धा अविवेक पूर्ण। दोनों ही

श्रद्धा, श्रद्धा कही जाती हैं पर दोनो मे गाय के दूध और खून जितना अन्तर होता है। गाय का दूध और खून प्राण्यंग संभूतत्व की दृष्टि से तो एक ही है। फिर भी उनमें अन्तर कितना होता है? ऐसा ही अन्तर श्रद्धा के दोनो भेदो मे भी समझ लेना चाहिये। कोयला और हीरा दोनो एक ही तत्त्व के बने हुए होते हैं, परन्तु जितना अन्तर इनमे होता है उतना ही भेद श्रद्धा के भेदो मे भी होता है। हमारे सम्यक् दर्शन मे दूध और हीरा जैसी श्रद्धा होनी चाहिये, न कि कोयला और खून जैसी। श्रद्धाशील मनुष्य को सच्चे देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा होनी चाहिये। फिर भले ही वे देव दूसरे धर्म के हो, पर वस्तुत वीतराग हो तो उन्हें अवश्य ही देव कहना चाहिये। जो पच महाव्रत का सम्यक् रूप से पालन करता हो और फिर वह चाहे जिस सम्प्रदाय का हो उसे गुरु ही समझना चाहिये। इसी तरह जो धर्म रागद्वेष कषाय से मुक्त कर मोक्ष में ले जाता हो तो उसे धर्म ही कहना चाहिये। फिर चाहे वह नाम से कोई भी धर्म क्यो न हो? लेकिन आज हमारा हाल यह है कि हम जैन कुल मे पैदा होने मात्र से ही सम्यक्त्वधारी कहलाते हैं, जो कि हमारी भ्रान्त धारणा है। सच बात तो यह है, कि जिसमे सम-सम्वेग-निर्वेद-अनुकम्पा और आस्ता ये पाच लक्षण हो वही जैन है और वही सम्यक्त्वी भी हैं। फिर चाहे वह मुसलमान हो, खिस्ती हो या और कोई हो, सिद्धान्तत जैन ही समझना चाहिये। तो आज हमे यह देखना है, कि क्या हमारे में ये पाच लक्षण है या नही ? अगर नही हैं तो यह समझ लेना चाहिये कि हम सम्यक्त्वी नही, मिथ्यात्वी हैं और मिथ्यात्वी की सभी क्रियाएँ निस्सार

होती हैं उनका कोई पन्थ नहीं होता है।

सम्यक्त्वी का सबसे पहला लक्षण है 'सम' यानी समभाव रखना। जो शत्रु और मित्र में समानता समझे वही समभावी कहा जा सकता है। आप श्रावक और हम साधु कहे जाते हैं। लेकिन क्या हमारे में समभाव है? अगर सचमुच हमारे में समभाव होता तो क्या आज एक सम्प्रदाय दूसरी सम्प्रदाय से इस तरह लड़ती-झगड़ती हुई नजर आती? तब फिर हम समभावी या सम्यक दृष्टि कैसे कहे जा सकते हैं?

सम्पूर्ण मानव समाज के हम सामान्यतः दो विभाग कर सकते हैं—पहला सारग्राही समाज और दूसरा भारवाही। सम्यकदृष्टि जो होता है वह कभी भी भारवाही नहीं होता है। वह तो तत्त्वदृष्टि वाला होता है। जहाँ कहीं भी वह अच्छाई देखता है तुरंत ग्रहण करने की भावना रखता है। ऐसा सद् भाव रखना ही सम' है। ऐसे भाव जब हमारे हृदय में हों तभी हम समभावी कहे जा सकते हैं।

सम्यक्त्व का दूसरा लक्षण है संवेग। सम्यक दिशा में गति करना संवेग है। हमारी ये इन्द्रियाँ विषय-कषाय की तरफ जाती हों तो उनको रोक कर आत्माभिमुख करना संवेग है।

तीसरा लक्षण है—निर्वेद—अपने हकसे अधिक वस्तु का उपभोग नहीं करना निर्वेद है। यानी जिस वस्तु को जितनी तादाद में हमें उपभोग करने का हक है उस वस्तु को उतनी ही मात्रा में भोगना और उसमें भी संयम करना निर्वेद है।

समकित्ती का चौथा लक्षण है अनुकम्पा। पीड़ितों को दुःखी देख कर हृदय का पिघल जाना अनुकम्पा है। क्या हमारा हृदय भी आज दुखियों को देख कर पिघल जाता है? अगर

सचमुच हमारा दिल पिघल जाता है तो हम दुखियो के दु ख दूर किये विना नही रह सकेंगे। अनुकम्पाशील मानव कभी किसी का दु ख देख ही नही सकता है। जब तक उसका दु ख दूर न हो तब तक उसे तृप्ति कैसे हो सकती है ? अत अनुकम्पाशील का अर्थ ही यही है, कि दूसरे की पीडा को दूर करना। जो दूसरो की पीडा को देखकर भी पिघले नही और उसे उस दु ख से उबारे नही तो वह अनुकम्पाशील कैसे कहा जा सकता है ?

महाराष्ट्र का एक दृष्टान्त है—पढरपुर नामक महाराष्ट्र के एक ज़िले मे मगलवेढा नामक एक गाँव है। उस गाँव मे दामाजी पथ नामक एक सज्जन पुरुष रहता था। वह किसी पीडित को देखता तो उसका दु ख दूर किये विना नही रहता था। उसका यह भी एक नियम था कि वह किसी अतिथि को भूखा नही जाने देता था। एक दिन वह एक अतिथि को अपने घर लाया और उसे भोजन कराने लगा। अतिथि ने जब अपने सामने भोजन की थाली देखी तो उसकी आँखो मे से अश्रुधारा बह चली। दामाजी पथ ने अतिथि को रोते हुए देखकर उससे पूछा—भाई, क्या तुमको मेरे घर पर कुछ तकलीफ मालूम होती है ? अतिथि ने कहा—नही। तो फिर दु ख क्यो कर रहे हो—पथ ने कहा। अतिथि ने कहा–भाई, मेरे गाँव में दुष्काल पडा हुआ है, मेरे बाल बच्चे वहाँ भूख से चिल्ला रहे होगे और मैं यहाँ भोजन कर रहा हूँ, यही सोचकर मेरी आँखे भर आई हैं। पथ ने कहा भाई, तुम इस बात का दु ख मत करो, पहले भोजन करलो और फिर मै तुम्हे कुछ अनाज भी दू गा जिसे तुम अपने घर ले जाना

भीर अपने बाल-बच्चों की भी दशा शान्त करेगा। इस प्रकार पंच ने उसे बड़े प्रेम से विदा किया। अतिथि ने घर आकर अपने गाँव वालों से कहा कि मंगलबेडा में दामाजी पंच नामक एक दयालु पुरुष रहता है। उसके पास अगर तुम जाओगे तो वह सब को नाज देगा। जिसे अनाज दे सका। यह सुनकर अब तो आदमियों के झुण्ड के झुण्ड पंच के घर पर आने लगे। उन सबको नाज देना पंच के बस की बात नहीं थी। उसके पास नाज के तो कई कोठे थे पर वे सभी सरकारी। अतः अब वह उलझन में पड़ गया। लेकिन तत्क्षण उसे विचार आया कि अन्न के सच्चे अधिकारी तो ये भूखे आदमी ही हैं। राजा का इन कोठों पर क्या हक है? हक है तो इन भूखे आदमियों का ही। अन्त में उसने यही निश्चय किया कि भले ही राजा मुझे दण्ड दे पर अभी तो मुझे इन कोठों को खोल देना चाहिये। पंच ने इन सरकारी नाज के कोठों को खोल कर लोगों से कहा—जिस किसी को जितना भी धान चाहिए वह इन कोठों में से ले जाय और अपना निर्वाह करे। लोगों की कतार-सी लग गई लेकिन नाज सबको दिया गया। यह बात जब राजा को मालूम हुई तो उसने अपने सिपाहियों को भेजा और दामाजी पंच को पकड़ लाने का हुक्म दिया। जब यह बात एक सवार श्रीमन्त को ज्ञात हुई तो वह तत्क्षण राजा के पास गया और कहा—राजन्! आप अपने कोठों के रुपये मुझसे ले लीजिए और दामाजी पंच को छोड़ दीजियेगा। राजा ने नाज के रुपये ले लिये और दामाजी पंच जिन्हें कि सिपाही पकड़ कर ला रहे थे मार्ग में ही छोड़ दिये गये। बन्धुओ! इसका सार इतना ही

है कि मानव मे जब इस तरह की अनुकम्पा हो तो वह दूसरे के दुख दूर किये बिना नही रह सकता है। मेघकुमार ने अपने हाथी के भव मे एक खरगोश की दया पाली थी। भगवान् शान्तिनाथ ने अपने मेघरथ राजा के भव मे एक कबूतर की रक्षा के लिए अपनी जान न्यौछावर कर दी थी। यह अनुकम्पा का ही तो प्रभाव था। क्योकि अनुकम्पा का मापदण्ड ही यही है कि दूसरो के दुखो को दूर करना। आइये, आज हम भी देखे कि हमारे हृदय मे इस तरह की अनुकम्पा है या नही ? अगर पीडितो को देख कर उनके दुखो को दूर किये बिना हमे चैन नही होता तो समझ लेना चाहिये, कि हमारे हृदय मे अनुकम्पा जीवित है, अन्यथा वह मरी हुई है, यह भी नही भूलना चाहिये। महात्माजी ने भी जब भारत मे सैकडों स्त्री-पुरुषो को भूख से बिलखते हुए देखा था तो उनका हृदय दहल उठा था। उन्हे नीद तक नही आती थी। अत वे भी अपना जीवन त्यागमय बना कर दुखियो की सेवा मे निकल पडे थे और अपनी सारी ज़िन्दगी ही उन्होंने इस काम मे खपा दी थी। ऐसी अनुकम्पा ही सम्यक्त्व का चौथा लक्षण है। यह जब हमारे मे होगी तभी हम सम्यक्त्वी कहे जा सकेंगे। सक्षेप में यही सम्यक्त्व का लक्षण है।

पाँचवाँ लक्षण है आस्था। अहिंसा और सत्य पर विश्वास रखना आस्था है। क्या आज हम इन पर श्रद्धा रखते हैं ? अगर वस्तुत इन पर श्रद्धा होती तो क्या हम आज हिंसा करते ? क्षमा हमारी ढाल है और उस पर हमको विश्वास होता तो क्या हम आज क्रोध करते होते ? हम

कहते तो अपने को आस्तिक हैं पर सचमुच हम आस्तिक कहलाने योग्य नहीं हैं। सच्चा आस्तिक कभी भी हिंसा की तरफ नहीं देखता है। सच्चा आस्तिक कभी भी असत्य नहीं बोलता है और न कभी परिग्रह का संचय ही करता है। लेकिन सच बात यह है कि आज हमको इन गुणों पर विश्वास नहीं रहा है। अगर विश्वास होता तो क्या आप की तिजोरियाँ आज इस तरह रुपये-पैसों से भरी हुई मिलती? सच्ची श्रद्धा अगर होती तो ऐसी सैकड़ों तिजोरियाँ न जाने कितने दीन अनाथों की भलाई के लिये खाली कर दी गई होती। आप माँगने वाले बाहर निकलते हैं पर सच्ची श्रद्धा अगर हमारे में होती तो हम माँगनेवाले मनुष्य की खोज करते फिरते और उनसे कहते—भाई मेहरबानी कर हमारा भी कुछ भार तो हलका करो। जो सच्ची श्रद्धा होती है वह अपने आप इस तरह फूट पड़ती है। किसी के रोके रुकती नहीं है। लेकिन आज हमारी श्रद्धा सच्ची श्रद्धा नहीं अन्ध श्रद्धा है—रूढ़ि श्रद्धा है। अतः जब तक हमारे में सच्ची श्रद्धा न हो तब तक हम सम्यक्त्वी कैसे कहे जा सकते हैं? जिसमें उपयुक्त पाँच गुण हों वही सम्यक्त्वी है और वही सम्यक दर्शन आत्मोत्थान का प्रथम सोपान है जिस पर चढ़ कर मानव ज्ञान और चारित्र की सफल साधना कर अपना जीवन सार्थक कर सकता है।

———

३३

सदाचार का प्रभाव

आज हमारे पर्युषण पर्व का तीसरा दिन है। सच्चारित्र को प्राप्त करने के लिये ही यह हमारा परम पवित्र पर्व है। यह बात हम सब जानते है, कि मनुष्य अपने सच्चारित्र से अपनी उन्नति करता है और दुश्चारित्र से अपनी अवनति। लेकिन इसके साथ-साथ यह भी जान लेना चाहिये, कि सच्चारित्र से केवल हम ही ऊचे नही चढते हैं, पर आसपास वालो को भी ऊचे चढाते है। और दुश्चारित्र से हमारा ही पतन नही होता है, पर हमारे साथ-साथ दूसरो का भी पतन होता है। सच्चारित्र अपने साथ जहां दूसरों को भी ऊपर उठाता है, वहाँ दुश्चारित्र अपने साथ दूसरों को भी नीचे गिराता है। रोगो मे जैसे कई रोग सक्रामक होते हैं वैसे ही आरोग्य भी सक्रामक होता है। नीरोगी भी जैसे रोगी वाता वरण मे आकर रोगी बन जाता है वैसे ही रोगी मानव भी स्वस्थ वातावरण मे आकर स्वस्थ बन सकता है, इसी तरह सच्चारित्र की भी चेपी है।

एक मनुष्य यदि दुश्चारित्र शील हो— चाय पीता हो, या बीडी-सिगार पीता हो, तो दूसरा मानव भी उसे देखकर वही काम करने की इच्छा करेगा। लेकिन यदि कोई मनुष्य

अपना घर में चाय नहीं पीता हो सिगार नहीं पीता हो तो उसके साथ-साथ उसके घर वाले भी तथा कथित व्यसन से दूर रह सकेंगे। इस तरह व्यसनी या दुश्चारित्रशील मानव जहाँ अपने साथ दूसरों का भी पतन करता है वहाँ निर्व्यसनी और सच्चारित्रवान् पुरुष अपने साथ दूसरों का भी भला करता है। उत्थान करता है।

दुनिया में सबसे ऊँची सेवा ही यह है कि हम अपना आदर्श जीवन बनावें और उसकी छाप दूसरों पर भी डाल। अधिक नहीं तो कम से कम इतना तो करना ही चाहिये कि जिससे हम सच्चारित्रवान् बनें।

अमेरिका में जब गुलामी प्रथा का चलन था तब वहाँ के प्रसिडेण्ट अब्राहिम लिंकन और कैप्टिन जोन ब्राउन ने इस प्रथा को दूर करने के लिये कई प्रयत्न किये थे। कैप्टिन ने इसके लिये एक संघ स्थापित किया और लोगों से कहा—मैं अपने इस संघ में कोलेरा प्लेग अथवा टी बी के बीमारों को सहर्ष स्थान दूँगा पर चारित्रहीन मानव के लिये मेरे संघ में कहीं भी स्थान नहीं होगा। जैसे एक सड़ा हुआ पान सारी टोकरी के पानों को बिगाड़ देता है वैसा ही एक चारित्र हीन मानव भी सारे संसार को खराब कर सकता है। आप कहेंगे कि बेचारे अकेले मानव की क्या हस्ती है जो सारी दुनियाँ को खराब कर सके? लेकिन अगर आप इस पर तनिक गौर करेंगे तो मेरी यह बात आसानी से समझ सकेंगे। हम यह तो प्रत्यक्ष में भी देखते हैं कि किसी तालाब में यदि एक छोटा सा कङ्कर भी डाला जाय तो उसका असर सारे तालाब में हो जाता है। इसी तरह मनुष्य के जे ईर्ष्या-द्वेष-के-अशुभ चर

मारणु भी धीरे-धीरे सारे विश्व मे फैल जाते है। इसलिये चारित्रहीन मानव केवल अपनी ही हानि नही करता, लेकिन अपने साथ-साथ सारे ससार की भी हानि करता है। ठीक इसके विपरीत सच्चारित्र का हाल है। भले ही एक मनुष्य एकान्त मे बैठा हुआ तप-जप करे, पर उसके सद्विचारो के परमाणु दुनिया के परमाणुओ से मिलकर सारी दुनिया का कल्याण कर सकते हैं। ऐसी अजब शक्ति इन परमाणुओ मे रही हुई है। शब्द एक मिनिट मे १४ लोक राजू मे फैल जाता है, यह हमारे जैन-शास्त्रो का स्पष्ट फरमान है। अब भी क्या आप परमाणुओ की शक्ति मे सन्देह रख सकेगे।

जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होती है वह उतनी ही बलवान् होती है। आज विश्व का नाश करने वाला 'अणु बम' है। अणु कितना सूक्ष्म होता है? अत यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि सूक्ष्म वस्तु सदा अधिक बलवान् होती है। आप जानते ही है' कि काच के एक बडे टुकडे से भी हीरे के एक छोटे से कण मे ज्यादा प्रकाश होता है। क्योकि वह उससे बहुत छोटा होता है। लेकिन विचार के परमाणु तो इनसे भी सूक्ष्म होते है, जिन्हे हम अपनी आखो से देख नही सकते हैं। अत ये तो इतने बलवान् होते है, कि इनकी शक्ति का कोई माप ही नही ले सकता है। जब आप धर्म-स्थानक मे आते हैं तो सुन्दर-सुन्दर भावो मे मस्त हो जाते है, पर स्थानक से निकल कर जब आप किसी सिनेमाघर मे जाते हैं तो आपके वे विचार वहाँ हवा हो जाते है और आप पर विलासी भावनाओ का असर छा जाता है। इसका कारण क्या? यही कि आपके धर्मस्थानको मे महापुरुषो के सद्विचारो के परमाणु फैले हुए है,

मत वे लिपट जाते हैं और आपको सद्विचारों में खींच ले जाते हैं। लेकिन सिनेमाघरों में तो विलास का ही वातावरण होता है अतः वहाँ जाने पर दुश्चरित्र के परमाणु आपके लिपटेंगे ही और आपको बुरे मार्ग पर घसीटेंगे ही। तो इससे आप यह स्पष्ट समझ गये होंगे कि सच्चारित्र और दुश्चरित्र पाप और पुण्य जैसी हैं—लिपटने वाले हैं। वे अपना तो हित-अहित करते ही हैं पर साथ-साथ दूसरों का भी हित-अहित करने से नहीं चूकते हैं।

भगवान् महावीर के दर्शनार्थ सुदर्शन सेठ जाता है। अर्जुन माली जो दिन गिन कर आदमियों की घात करता था मार्ग में तैयार खड़ा था। लेकिन सुदर्शन को देखकर उस पर कैसा असर हुआ? सुदर्शन की महावीर के प्रति जो भक्ति की उसकी छाप अर्जुन के हृदय पर पड़ी और उसका हृदय परिवर्तित हो गया। उसने कहा—भाई क्या तुम मुझे भी भगवान् के दर्शनार्थ ले चलोगे? बन्धुओ! यह सच्चारित्र का ही नहीं तो और किसका प्रभाव था? जम्बूकुमार और प्रभव का जीवन भी आप जानते हैं। जम्बूकुमार जब अपनी रानियों के साथ अपने महल में बात-चीत कर रहे थे तब प्रभव अपने ५ चोरों के साथ चोरी करने के लिये वहाँ आया था। लेकिन यह चोर भी वैराग्य के परमाणुओं के वशीभूत हो अन्त में चोर नामक प्रभव के बजाय साधु नामक प्रभव बन जाता है। बताइये इस चोर नामक प्रभव को साधु नामक प्रभव बनाने वाला कौन था? कहिये सच्चारित्र ने ही तो उसे साधु नामक प्रभव बनाया था न?

वाल्मीकि रामायण संस्कृत का एक आदर्श ग्रन्थ माना

जाता है। लेकिन उसका बनाने वाला एक लुटेरा था, जो लूट-खसोट कर अपने कुटुम्ब का पालन करता था और जगल मे रहता था। भाग्य से उसे एक दिन किसी साधु का सम्पर्क मिल गया और उस साधु ने उसे केवल दो ही शब्द बताये—राम! बस, इसके बल पर ही वह लुटेरा न रह कर महर्षि बन गया था और रामायण जैसे महान् ग्रथ की रचना कर सका था। इसलिये कहने का आशय इतना ही है, कि सच्चारित्रवान् अपना ही नही दूसरे का भी भला करता है।

विचारो की शक्ति असीम होती है। बड का बीज कितना छोटा होता है, पर उस छोटे से बीज मे भी कितने वृक्षो का सार रहता है। एक बीज बोने पर जैसे अनेक बीजो को तैयार किया जा सकता है वैसे ही हमारे सूक्ष्म विचारो मे भी ऐसी गूढ शक्ति समाई हुई है। पाप का एक छोटा-सा विचार भी जैसे सारे विश्व मे फैल जाता है, इसी तरह पुण्य की एक छोटी-सी चिनगारी भी पाप के गहन वन को जला कर खाक कर सकती है। जम्बूकुमार के छोटे-से वैराग्य-विचार ने प्रभव के पापो को जला दिया था। जिस प्रकार अधेरे मे एक छोटी-सी प्रकाश-किरण भी आ जाय तो वह दूर हो जाता है, उसी तरह पाप का समूह भी चाहे जितना सुदृढ या कठोर हो, पर सत्कर्म की एक छोटी-सी ज्ञान-राशि से वह दूर हो जाता है। प्राचीन समय का एक किस्सा है—

कौशल का राजा बडा दयालु था। वह रोज-रोज स्वय घूम-घूम कर प्रजा का निरीक्षण करता था और उसका दुःख-दर्द दूर करता था। उस देश की प्रजा तो उसे चाहती ही थी, पर दूसरे देशो की प्रजा भी उसे चाहती थी। एक बार काशी

मे एक उत्सव मनाया जा रहा था। उसे देख कर वहाँ के राजा ने अपने प्रधान से पूछा—शहर में आज यह क्या हो रहा है ? प्रधान ने कहा—आज कौशल नरेश की वर्ष गांठ है अतः सब लोग उत्सव मना रहे हैं। राजा ने ईर्षावश कहा—मेरे राज्य में कौशल राजा का उत्सव कैसे मनाया जा रहा है ? प्रधान ने कहा—राजन् ! वह राजा बड़ा दयालु और प्रजावत्सल है अतः सब लोग उसका जन्म महोत्सव मना रहे हैं। राजा का ईर्षा भाव बढ़ गया। मौका देख कर उसने कौशल नरेश पर चढ़ाई करदी। कौशल राजा को जब यह पता चला तो वह निर्दोष मनुष्यों की हिंसा रोकने के लिये और काशी नरेश की इच्छा-तृप्ति के लिये अपना राज-पाट छोड़ कर जंगल में चला गया। प्रजा मे हाहाकार मच गया। इधर काशी नरेश ने यह इनाम घोषित किया कि जो कोई भी कौशल राजा को जीवित पकड़ कर लावेगा उसे १। मन सोना दिया जायगा।

जंगल में एक भिखारी भटकता हुआ चला जा रहा था। सामने से एक आदमी आया और उससे पूछा—भाई कौशल का मार्ग किधर जाता है ? भिखारी ने कहा—तुम वहाँ क्यों जा रहे हो ? उस आदमी ने कहा—मुझ पर लोगों का बहुत कर्जा हो गया है। अब उसे चुकाने बिना दूसरा कोई छुटकारा नहीं है। अतः मैं कौशल नरेश के पास जा रहा हूँ। उनसे मैं रुपये मांगूगा और अपना कर्जा दूर करूँगा। भिखारी उस आदमी को लेकर काशी नरेश के सामने आया और बोला—राजन् ! मैं कौशल राजा को पकड़ लाया हूँ। राजा ने कहा—कहाँ है वह लाओ मेरे सामने मैं उसका सिर

उतारना चाहता हू। भिखारी ने कहा—राजन्! वह सिर आपके सामने है, पर उसे उतारने से पहले आप इस व्यापारी को १। मन सोना दे दीजियेगा।

बन्धुओ! उस व्यापारी की भलाई के लिये कौशल राजा ने अपना सिर भी काशी नरेश के सामने झुका दिया। उदारता की कैसी चरम स्थिति है यह? कौशल नरेश दूसरे की भलाई के खातिर अपना सिर देने को भी तैयार हो गया था, लेकिन आज हम अपने बढे हुए बालो का और बढे हुए नाखूनो का दान भी सहज भाव से नही दे सकते है। हमारी उदारता का क्या यह नग्न हास्य नही है? आज उपाश्रय और मानव-सहायता जैसे जनोपयोगी कार्यों के लिये भी आप से अपीलें की जाती है। लेकिन अगर आप वे बातें नही सुनते है और आवश्यकता से अधिक बढी हुई सम्पत्ति का दान नही करते हैं तो याद रखिये यह बढी हुई सम्पत्ति एक न एक दिन आपका सर्वनाश कर देगी। जिस तरह बढे हुए बालो और नाखूनो को काटा नही जाय तो वे एक दिन मनुष्य के सहारक बन जाते है। उसी तरह आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का दान न करना भी घातक सिद्ध होता है। अत समझदार मनुष्य को अधिक नही तो कम से कम आवश्यकता से अधिक बढी हुई सम्पत्ति का दान तो अवश्य करना ही चाहिये।

कौशल नरेश जब काशी राजा के सामने अपना सिर झुका कर खडा हो गया, तब सहसा काशी नरेश का भी हृदय पलट गया। उसमे ईर्षा के बजाय प्रेमाकुर पैदा हो गया। उसने कहा—तुम्हारा मस्तक मैं तलवार की धार पर

लेना नहीं चाहता। मैं तो इस युद्ध में तुम से परास्त हो गया हूँ। तो अपना यह राज्य और इसके साथ-साथ मैं अपना हृदय भी तुम्हें अर्पित करता हूँ। बन्धुओ! कौशल राजा का सिर जो अपनी तलवार की धार पर उतारना चाहता था वह उस मस्तक हृदय की धार पर अंकित कर लेता है। सद्गुण क्या नहीं कर सकता है? इस प्रकार एक का सद्गुण दूसरे को भी पावन कर देता है।

पानी बहता है निर्मल रहता है। बहती हुई नदी पवित्र रहती है। लेकिन तालाब का पानी बन्द रहता है तो सड़ जाता है। दुर्गन्ध मारने लगता है। इसी तरह बढ़ी हुई सम्पत्ति अगर दान में नहीं निकाली जाय तो वह भी सड़ जाती है—उससे भी दुर्गन्ध पैदा होने लग जाती है। लेकिन यदि वह निकलती रहे और धार्मिक कार्यों में खर्च होती रहे तो वह दुर्गन्ध नहीं देती है। धार्मिक क्रियाओं में दान देना मानों उनसे होने वाली धार्मिक क्रियाओं के शेयर होल्डर होने जैसा है। वे शुभ कार्य जब तक चले रहेंगे तब तक उसका लाभ दान-दाताओं के हिस्से में जमा होता रहेगा। मील के शेयर होल्डर होने पर तो उसमें हानि भी हो सकती है और लाभ भी हो तो केवल इसी जन्म में मिल सकता है। लेकिन धार्मिक क्रियाओं का शेयर होल्डर हो जाने से हानि तो कुछ होती ही नहीं है। लाभ ही लाभ अपने हिस्से में जमा होता रहता है और वह लाभ केवल इसी जन्म में ही नहीं जन्म-जन्मान्तर में भी लाभ पहुँचाता है। अतः अगर आप इस तरह शुभ कार्यों में दान देने का प्रयत्न करेंगे और यथाशक्ति देंगे तो आप अपना पर्युषण पर्व सफल कर सकेंगे।

३४

समन्वय

आज पर्युषण पर्व का चौथा दिन है। यह पर्व धर्म की साधना और आराधना करने के लिये है। सारे साल में धर्म की आराधना न की हो तो काम चल सकता है, पर इन आठ दिनों में तो करनी ही पड़ती है—बिना किये काम चल नहीं सकता है। हमारे शास्त्रकारों ने धर्म को मंगल कहा है—'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं' धर्म उत्कृष्ट मंगल है। मानव अगर अपना कल्याण चाहता है तो वह धर्म से ही कर सकता है। बिना धर्म के उसका कल्याण नहीं हो सकता है। लेकिन धर्म का स्वरूप समझे बिना हम अपना कल्याण नहीं कर सकते हैं। कई बार हम अमुक शास्त्रों को पढ़कर या सुन कर ही अपने को धर्मात्मा समझ लेते हैं, पर दरअसल में यह धर्मात्मापन नहीं है। धर्मात्मा की आड़ में धर्मात्मापन का मधुर उपहास्य है। आप जानते होंगे, कि चमड़ा जब नरम किया जाता है तभी वह उपयोगी बनता है। इसी तरह जब अपने हृदय को भी नरम किया जाए तो समझ लेना चाहिए कि हम अपने जीवन में किसी अंश में धर्म को उतार सके हैं। जब तक हमारे हृदय में क्रोध का धुआँ उठता हो और ईर्षा की आग जलती हो तब तक हम कैसे धर्मात्मा कहे जा सकते हैं?

धार्मिक क्रियाओं की कसौटी ही यह है कि जिनसे परिग्रह की मात्रा कम हो क्रोध ईर्षा आदि कम हों। ऐसे धर्म के सिद्धान्त हर देश और काल मे होते हैं पर उनके साधनों में युगानुसार परिवर्तन होता रहता है। अहिंसा सत्य क्षमा प्रेम ब्रह्मचर्य आदि सिद्धान्त एक से होते हैं पर उनके साधनों मे परिवर्तन होता रहता है। एक बालक हो और उसका ही एक कोट उसे बड़ा होने पर भी पहनाया जाय तो वह फिर उसके काम का नही रहता है। गरम कोट को जैसे कोई गरमी में नहीं पहनना चाहता है और इस तरह हर एक वस्तु अपने-अपने समय पर ही काम की होती है वैसे ही धर्म भी समयानुसार विविध साधनों में बदलता रहता है। तो फिर आज हमे यह देखना है कि आज के जमाने में कौनसा धर्म सर्वश्रेष्ठ है ? आज के जमाने का सर्वश्रेष्ठ धर्म अगर कोई है तो वह है समन्वय का। आज समाज में एक तरफ श्रम की दीवार खड़ी है तो दूसरी तरफ विलास की अट्टालिकाएँ झुक रही हैं। ऊँच-नीच धन-वान और गरीब का भेद-भाव आज दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है। गरीबी और अमीरी दोनों ही आज कराह रही है। श्रम कर-करके गरीबों का शरीर घिस गया है तो आराम ले-लेकर अमीरों का शरीर भी घिस गया है। इस तरह आज दोनों ही मृत्यु की शरण में पहुँच गये हैं। अतः आज जरूरत है कि श्रम करने वाले को कुछ आराम मिले और आराम करने वाले कुछ श्रम करें। ऐसा समन्वय ही आज का सर्व श्रेष्ठ धर्म है।

आज की दुनिया में आराम बेहद बढ़ गया है। राजे महाराजे आज अपने जूते भी अपने हाथ से नही पहनते है।

यहाँ तक की परावलविता आज हो गई है, कि हम हमारे कपडे भी अपने आप नही वना सकते हैं। महात्माजी ने जरूर ऐसे स्वावलम्वी मानव तैयार किये थे। पर वे हैं कितने ? वहुत कम। वहुत मे मानव तो मजदूरो के श्रम पर और किसानो के वल पर ही अपनी जिन्दगी वशर कर रहे हैं। अत समन्वय करने की आज नितान्त आवश्यकता है। एक कहावत है—

जहाँ काम, वहाँ राम नही।

लेकिन आज तो यह कहा जाना चाहिये कि—

जहाँ काम, वहाँ राम है।

पहली कहावत काम विकारो को लेकर कही गई है, पर दूसरी कहावत में श्रम को प्रधानता दी गई। युरोप की एक प्रसिद्ध लेखिका इलाविलर ने एक कविता लिखी है। वह मानव समुदाय के दो भाग करती है। वह राजा-प्रजा, विद्वान् मूर्ख, साधु-दुष्ट जैसे दो भाग नही करती है, लेकिन वह कहती है—दुनिया में एक ऐसा भाग है, जो अपने कधे पर दूसरे को वैठा कर ले जाता है और दूसरा ऐसा है कि वह दूसरे के कधे पर वैठ कर जाता है।

वन्धुओ, विचारिये, आज हमारी स्थिति कहाँ है। क्या हम दूसरो को अपने कन्धे पर वैठा कर ले जाते हैं या उसके कन्धे पर हम वैठ कर चलते हैं ? आज की स्थिति तो हमारी ऐसी हो गई है, कि अगर एक रोज भी घर मे घाटी न हो तो घर का सारा काम चौपट हो जाता है। अत आज का युग हमें पुकार-पुकार कर कहता है, कि मानव-मानव मे समन्वय-करलो, अन्यथा वना-वनाया खेल भी विगड जायगा। अत

आवश्यकता है आज हर एक सम्प्रदाय के साथ समन्वय करके अपने को संगठित बनाने की ज्ञान और कर्म का भी हमें आज समन्वय करना है। जो वर्ग बहुत पढ़ा लिखा है उसे आज आवश्यकता है कुछ क्रिया करने की और जो क्रिया शील हैं उन्हें आवश्यकता है कुछ ज्ञान प्राप्त करने की। इस प्रकार जब हम समन्वय कर विचार भेदों के आन्तरिक दोषों को निकाल बाहिर करेंगे तभी अपने धर्म को—जीवन को सफल कर सकेंगे।

३५

भगवान् महावीर

आज हमारे पर्युषण का पाचवा दिन है । हर पर्युषण के पाचवे रोज हम भगवान् महावीर का जन्म दिवस मनाते आ रहे हैं अत आज सारे भारत मे जहाँ-जहाँ हमारे पर्युषण मनाये जा रहे है, वहाँ-वहा भगवान् महावीर का जन्म दिवस मनाया जायगा । हम भी आज यही मनाने के लिये एकत्रित हुए हैं । सारे साल भर मे एक बार नही, दो बार नही, पर तीन बार हम इस तरह भगवान् महावीर को याद करते है और सार्वजनिक रूप से उनका गुणगान करते हैं । भगवान् महावीर का जन्म दिवस एक चैत्र शुक्ला तेरस को मनाया जाता है और दूसरा पर्युषण के पाँचवे रोज । तीसरा दिवाली के दिन भी मनाया जाता है जिस दिन महावीर निर्वाण पधारे थे । इस प्रकार तीन बार हम वर्ष भर मे उनकी स्तुति करते हैं । आज दूसरी बार हम उनका गुणगान कर रहे हैं । आज हमे उनके गुणो को याद करना है और उन्हे अपने जीवन मे उतारना है । यही महापुरुष की जयन्ती मनाने का लक्ष्य होता है ।

महापुरुषो का जीवन पहाड से गिरने हुए एक बडे जल-प्रवाह के समान होता है । जैसे वह जल-प्रवाह बडे-बडे पत्थरो

को चीर कर भी अपना रास्ता निकाल लेता है और अपने उस प्रवाह में से दुनियां को रोशनी-बिजली देता है वैसे ही महापुरुष का जीवन प्रवाह भी अज्ञान स्वार्थ अन्धकार के पहाड़ों को चीर कर प्रतिस्रोत होता है और जैसे पानी के प्रवाह से बिजली निकलती है वैसे ही महान् पुरुषों के उपदेशों से भी ज्ञान की किरणें निकलती हैं जो कि भूले भटके हुओं को मार्ग-दर्शन कराती हैं। भगवान् महावीर को हुए आज ढाई हजार वर्ष हो गये है पर उनके जीवन से जो तेज निकला वह आज भी हमें प्रकाशित कर रहा है।

भगवान् महावीर एक दिव्य कलाकार थे। वे एक राज पुरुष थे पर उन्होंने अपने राजकीय भोगों का भोगा नहीं तिनके की तरह फेंक दिया था और दीक्षा स्वीकार करली थी दीक्षा लेते ही उनके त्याग का प्रभाव सारे भारत में फैल गया था। क्योंकि भगवान् महावीर का मामा वैशाली का राजा चेटक था। वह बड़ा प्रभावशाली राजा था। जैसे आज प्रजा के राज्य होते हैं वैसे उस समय भी गणराज्य होते थे। भगवान् महावीर के समय में ७७ ७ गण राज्य थे। जिनका प्रमुख उनका मामा चेटक राजा था। चेटक राजा ने अपनी पुत्रियां जनपद के राजाओं को अर्थात् चेलणा राजगृही के राजा श्रेणिक को मृगावती कौशाम्बी के राजा शतानिक को धारिणी को चम्पापुरी के राजा दधिवाहन को शिवा अवन्ति के राजा चण्डप्रद्योत को प्रभावती वीत भय पाटण के राजा उदयन को ब्याही थीं अतः यह भी एक कारण था कि भगवान् महावीर का प्रभाव इन सब राज्यों पर पड़ा और चौरे-ओरे एक कोने से दूसरे कोने तक उनका असर पहुंचा।

उस समय का जमाना वडा खराव था। मानव समाज अपने विवेक को भूल वैठा था। जैसे एक चतुर शिल्पी साधारण से पत्थर पर भी ताजमहल जैसी सुन्दर कृति को अङ्कित कर देता है वैसे ही भगवान् महावीर भी एक दिव्य कलाकार थे और उन्होने भी विवेक शून्य मानवो के वीच मे एक तीर्थ की रचना की थी। इसी को लेकर वे तीर्थंकर भी कहलाये। उस समय के जमाने मे भगवान् महावीर ने जो कार्य किया, वह कितना कठिन था, यह उस समय के जमाने को देखकर ही जाना जा सकता है। उस समय क्षत्रिय लोग विलासी हो गये थे। वे विलास के लिये ही जीते थे और युद्धादि करते थे। श्रेणिक ने चेलणा के लिए युद्ध किया था। कौणिक ने राज्य पाने के लिए अपने पिता को कैदी वनाया था, हार और हाथी के लिए उसने अपने नाना चेटक से भयङ्कर युद्ध भी किया था, जिसमे एक करोड अस्सी लाख मानवो का सहार हुआ था। इस प्रकार उस समय के क्षत्रिय अपने धर्म को भूलकर अधर्म करने लग गये थे--विलास के ख़ातिर युद्ध करने लग गये थे। उनके विलासी जीवन की कोई सीमा नही रही थी। रहने के लिए उनके पास हर एक ऋतु के लिए अलग-अलग महल होते थे। लेकिन वे आये कहाँ से थे ? गरीवो के शोषण से ही तो ? अत यह देखकर भगवान् महावीर की आत्मा काँप उठी।

दूसरी तरफ ब्राह्मण धर्म का उपदेश देने वाले खुद ही धर्म भूल गये थे। ब्राह्मणो मे तो अलोलुप वृत्ति और निस्वार्थ वृत्ति होनी चाहिये पर उस समय के ब्राह्मण स्वार्थी और लोभी हो गये थे भगवान् महावीर ने देखा कि जिनके हाथ मे धर्म की

समाम है वे ही अब अपना काम भूल गये है तो दूसरो को कैसे वे धर्म पर चला सकते।

तीसरी तरफ वैश्य अपना मान भूल गये थे और वे भी साधारण जनता का शोषण करने में लगे हुए थे। चौथा वर्ण शूद्रों का था। उनकी दशा तो जानवरों से भी खराब हो गई थी। उनको छूना भी पाप समझा जाता था। समाज तीनो फिर्कों का उन पर भारी जुल्म था। जैसे पशुओं पर बोझ डाला जाता है वैसे ही उस समय शूद्रों पर प्रतिबन्धों का बोझ डाला हुआ था। वे जहाँ-तहाँ आ-जा नही सकते थे। यह देखकर भगवान् का दिल रो पड़ा।

एक बार भगवान् से एक आचार्य ने कहा—आप महापुरुष हैं अतः आपको इन मानवों का कल्याण करना चाहिये। अभी मेरे आश्रम के पास से एक हरिजन कुटुम्ब रोता हुआ जा रहा था जिसमे एक बुढ़िया स्त्री भी थी। उससे जब पूछा तो उसने कहा कि मेरा एक जवान लड़का अचानक किसी यज्ञ के निकट जा निकला तो उसे मार दिया गया है। दूसरी तरफ यज्ञों में पशुओं की बलि हो रही है यह भी भगवान् ने सुना। इस प्रकार उस समय खेती का परिमाण कम हो रहा था और मानव महाहंसी बनकर मांस भक्षी होता जा रहा था। अतः यह सब देखकर भगवान् ने सोचा कि अब धर्म की नैया डगमगा रही है। अगर अब भी इनको सच्चा धर्म नहीं बताया जायगा तो दुनिया का सत्यानाश हो जायगा।

तापस आदि जो धर्म के गुरु कहे जाते थे वे भी सब धर्म से विपरीत थे। इन सब परिस्थितियों को देख कर अगर

हम भगवान् महावीर के कार्य को देखेंगे तो उनका कार्य कितना कठिन प्रतीत होगा ? यह सब देख कर भगवान् ने अपने राज-मार्ग का त्याग किया और साधु बने । साधु बन कर उन्होने १२।। वर्ष तक घोर तप किया, जिसमे उन्होने चिन्तन-मनन आदि किया और इन पापो से दुनिया का उद्धार कैसे हो यह सोचा । १२।। वर्ष बाद, जब उनकी साधना सफल हुई और कैवल्य प्राप्त हुआ, तब ४२ वर्ष की उम्र मे उन्होने उपदेश देना शुरू किया । उन्होने जब यह सुना कि ११ ब्राह्मण पडितो के समक्ष पावापुरी मे एक बडा यज्ञ होने वाला है, जिसमे भयकर पशु-बलि की जायगी, तो वे यह सुनते ही वहाँ गये और उन ब्राह्मण पडितो को समझा-बुझा कर वह भयकर पाप होने से बचाया । उसी रोज उन्होने वेदान्त के उन ११ महा पडितो को अपना शिष्य बनाया । दूसरी तरफ उन्होने महान् राजाओ को भी अपने वश मे किया । उदयन जैसा राजा भगवान् महावीर का शिष्य बना । मेघ कुमार और जम्बूकुमार जैसे राजपुत्र उनके पास आकर बैठने लगे । तापस भी आये और सेठ श्रीमन्त भी आकर उनके सघ मे सम्मिलित होने लगे । तीसरी बाजू भगवान् महावीर के सघ में हरिजन भी आने लगे । उन्होने सब तरफ से तिरस्कृत हरिजनो को भी अपने यहाँ स्थान दिया और इस प्रकार सार्वदेशीय सघ की स्थापना उन्होने की । दूसरा तीर्थ उन्होने साध्वियो का स्थापित किया जिसमे चन्दनबाला नामक एक स्त्री को जो कि गुलाम तरीके बेची गई थी, उसे अपने साध्वी सघ की नायिका नियुक्त की । उस साध्वी सघ मे मृगावती जैसी कई रानियाँ भी थी । इस प्रकार भगवान्

महावीर ने ब्राह्मणों तापसों राजाओं राजपुत्रों रानियों, हरिजनों साधु और साध्वियों सबका अपने इन दोनों संघ में सम्मिलित कर लिया। तीसरा तीर्थ था श्रावक का जिसमें सेठ-साहूकार, राजा और साधारण जनसमुदाय था श्रेणिक और चण्डप्रद्योत जैसे राजा इस तीर्थ में प्रविष्ठ हुए थे। आनंद और कामदेव जैसे सेठ इसमें दाखिल हुए थे। और सकडाल जैसा कुम्हार भी इसमें आया था। चौथा तीर्थ श्राविकाओं का बनाया गया। जिसमें बड़ी-बड़ी रानियाँ सेठानियाँ और साधारण स्त्रियाँ भी थी। इस प्रकार भगवान् ने उस भयानक मानव-संसार से उस चार तीर्थों की स्थापना कर मार्ग निकाला और पत्थर जैसे जन-समाज को तीर्थ का रूप देकर देव तुल्य बनाया। आज भी भगवान् का यह तीर्थ चल रहा है पर आज उसमें कुछ सुधार करने की जरूरत है। आज हमें यह विचारना है कि हम भगवान् महावीर के तीर्थ में हैं। या नहीं ? हम तीर्थ रूप मानो पवित्र हैं या नहीं ? चारों तीर्थों को आज हमें इसी दृष्टि से देखना है।

लेकिन सच बात यह है कि आज भगवान् के इन चारों तीर्थों में गन्दगी पैठ गई है। साधु साधु नहीं रहे और श्रावक, श्रावक नहीं रहे हैं। भगवान् महावीर ने सर्व प्रथम उपदेश देते हुए कहा था–'मा हणो'—किसी की हिंसा मत करो। याद रखो अगर तुम किसी को दुःख दोगे तो तुम्हे भी दुःख उठाना पड़ेगा। तुम किसी को ठगोगे तो तुम्हें भी ठगाना पड़ेगा तुम किसी को मारोगे तो तुम्हें भी मरना पड़ेगा। यह था अहिंसा का सन्देश जो आज भी कितना उपयोगी है ? क्या हम आज इस सन्देश का पालन करते हैं ? अगर नहीं

करते हैं, तो फिर हमको भगवान् के तीर्थ मे रहने का क्या अधि-कार है ? दूसरा उपदेश देते हुए उन्होने कहा—यदि तुम परिग्रह इकट्ठा करोगे तो यह निश्चित है, कि तुम उसके लिये हिंसा भी करोगे । अत तुम पैसे को दूर रक्खो—दान मे दे दो । दान देने का उन्होने उपदेश ही नही दिया बल्कि दीक्षा लेने के पूर्व उन्होने १ वर्ष तक खुले हाथो से दान भी दिया था । यह था अपरिग्रह का दूसरा सन्देश । तीसरा सन्देश देते हुए उन्होने कहा तुम अपने दृष्टि कोण से ही किसी चीज़ को मत देखो पर दूसरे की दृष्टि से भी उस पर विचार करो । यह सन्देश था अनेकान्त का । भगवान् महावीर के इन तीन सन्देशो का अगर हम आज भी पालन करेगे तो हम अपना कल्याण कर सकेंगे ।

११

वीर-सन्देश

हमने कल भगवान् महावीर की जयन्ति मनाई थी—यानी कल हमने उनके जीवन पर विचार किया था। भगवान् ने अपने जीवन में क्या-क्या कहा और करने का आदेश दिया? यह आज भी विचारने का है। और दुनिया को समझना भी है। यह कार्य भगवान् के स्थापित किये हुए तीर्थ ही कर सकते हैं। लेकिन देखना यह है कि भगवान् ने जिस उद्देश्य से चार तीर्थों की स्थापना की थी और उनके जो कर्त्तव्य बताये थे वे तीर्थ अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं या नहीं? साधु साध्वी श्रावक और श्राविका अपना धर्म पालते हैं या नहीं? यही हमें आज देखना है।

साधु अपना घर-बार छोड़ कर निकलते हैं पर उनका सब से बड़ा धर्म है समाज की सेवा करना। आज वे अपने कर्त्तव्य को कहाँ तक बजा रहे हैं यह किसी से छिपा हुआ नहीं है। कहना तो यह चाहिये कि वे अपने धर्म को भूल कर आज समाज को विपरीत मार्ग पर ले जा रहे हैं। साधुओं को अपना कर्त्तव्य बजाने के लिये अपरिग्रह और अनेकान्त का उपदेश देना चाहिये। और इसके लिये ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये जिससे कि वे ऐसा उपदेश दे सकें। आज सचमुच

आवश्यकता यह है, कि हम श्राविकाओ को ज्ञान दे और उन्हे शिक्षित तथा सस्कारित बनावे। अगर वे सस्कारित और शिक्षित होगी तो निश्चित समझिये कि श्रावक और साधु भी ज्ञानी और सम्कारित हो सकेंगे। इस प्रकार इन चारो तीर्थों का मूल आधार श्राविकाओ पर रहा हुआ है। उनके उत्थान और पतन पर ही इनका उत्थान और पतन भी सभावित है।

आज दुनियाँ मे जो दुख नज़र आरहे है, वे इन तीन कारणो से ही हो रहे हैं—अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के अभाव से ही आज दुनियाँ आग मे जल रही हैं। आज दुनियाँ में हिंसा इतनी अधिक बढ गई है, कि मानव-मानव को खाने के लिये तैयार बैठा है। अत आज भी भगवान् महावीर की अहिंसा की पूरी-पूरी जरूरत है।

आज का मानव वडा परिग्रही बन गया है, और परिग्रह को लेकर ही आज दुनियाँ शैतानो का अखाडा बन गई है। अत जीवन के मूल में जो परिग्रह वृत्ति आज घुस गई है, उसे दूर करना चाहिये। इसीलिये भगवान् महावीर ने परिग्रह पर भी अहिंसा जैसा ही भार दिया है।

भगवान् महावीर का तीसरा सिद्धान्त था अनेकान्त-स्याद्वाद। इसमें नाना मत-मतान्तरो को घुला-मिलाकर एक कर दिया था। अनेकान्त शाब्दिक अर्थ भी यही होता है कि जहाँ अनेक धर्म सम्मिलित हो। इसका अर्थ था हर एक आपस मे मिलजुल कर रहे और लडे-झगडे नही। पर आज यह हाल है कि हम भगवान् महावीर के पुत्र ही जब एक नही हो सकते हैं तो सारी दुनियाँ के धर्मो का कैसे समन्वय कर सकते हैं ? भगवान् का आदेश तो यह था, कि मानव सम्प्र-

वादविवाद के भेदों को भूलकर एक-मेक होकर रहें । साधन भले ही जुदे-जुदे हों पर साध्य समान हो तो उनसे हमें ऐतराज नहीं होना चाहिए । बस मनुष्यों का एक कुटुम्ब अपनी-अपनी रुचि के अनुसार खान-पान करता है पर उससे जैसे मिश्री या गुरई का 'वाद' नहीं खड़ा हो जाता है उसी तरह कोई किसी भी साधन से सद्धर्म का आराधन करता हो उसे अपने में मिला लेना चाहिये । सच्चे अनेकान्ती का तो यही धर्म होता है । मानव की रुचि भिन्न-भिन्न हो सकती है और होती भी है पर उससे साध्य में अन्तर आजाता हो ऐसा कोई नियम नहीं है । एक जलेबी खाता हो और दूसरा गुलाबजामुन तो इससे उसके अलग-अलग 'वाद' नहीं चल पड़ते हैं । दोनों का साध्य तो क्षुधा-तृप्ति ही है । इसी तरह धर्म के मामलों में भी वतन नहीं देना चाहिये । लेकिन यह अवश्य याद रखना चाहिये कि असत्य से सत्य में आया जाय न कि असत्य में— अधर्म में न बढ़ने दिया जाय । आज तेरापंथी से स्थानकवासी या देहरावासी से तेरापंथी बनाने की जरूरत नहीं है । जरूरत है 'मेरा और तेरा' मिटाने की । जो लोग तेरापंथी या और कुछ बनाने का प्रयत्न करते हैं वे लोग भूल करते हैं । भले ही कोई क्रिश्ती भी क्यों न हो पर वह शुद्ध अहिंसा और प्रेम का पालन करता हो तो उसे जैन ही समझना चाहिये । बाहिर के 'लेबल' से हमें उतना मतलब नहीं होना चाहिये जितना कि भीतरी तत्त्व से । एक शीशी पर लेबल तो स्वर्ण भस्म का लगा हुआ हो पर भीतर राख भरी हो तो उससे क्या लाभ होने वाला है ? इसी तरह आपको तो अहिंसा और प्रेम की मात्रा देखनी चाहिये न कि कोरे ऊपरी लेबल को ही ।

क्योंकि कोरे लेवल से तो कोई लाभ होने वाला नहीं है, जब तक कि उसमे सार नही हो । अत आज इधर-उधर कुछ भी बनने बनाने की जरूरत नहीं है, ज़रूरत है अहिंसा और सत्य मे स्थित होने की ।

तुम अहिंसा का पालन करो, सत्य का पालन करो, प्रेम को धारण करो—यही भगवान् महावीर का आग्रह है और यही अनेकान्त भी है ।

आज से २५०० वर्ष पूर्व भगवान् ने यह उपदेश दिया था, पर आज भी वही उपदेश हमे अपने जीवन मे उतारना है और उसका सारी दुनिया मे प्रचार करना है । भगवान् महावीर को हुए २५०० वर्ष गुजर गये, पर आज भी उनकी सुगध इस पृथ्वी पर छाई हुई है और उनके सिद्धान्तो का असर बना हुआ है ।

विज्ञान का एक यह प्रसिद्ध नियम है कि—तारे मे से जो आज किरण निकलती है वह हज़ारो वर्षों पूर्व की होती है और जो आज टूट भी जाय तो उसकी किरण हज़ारो वर्षों बाद भी दिखाई पडती है । ठीक इसी तरह भगवान् महावीर को हुए आज सैंकडो-हज़ारो वर्ष हो जाने पर भी उनकी चमक दिखाई पड रही है । यह आज आज की दुनिया का अहोभाग्य है, कि इस दुनिया में भगवान् महावीर जैसे महापुरुष पैदा हुए थे, और हमारा तो उससे भी ज्यादा सौभाग्य है, कि हम तो उन्ही के धर्मानुयायी भी हैं । अत भगवान् का वह पवित्र उपदेश आज भी हमे अपने जीवन मे उतारना है । अगर पर्युषण के इन पवित्र दिनो मे भी हम उसे नही उतारेंगे तो फिर कब उतारेंगे ? आज तो हमने उनकी अहिंसा का सन्देश

भी नहीं अपनाया है। उन्होंने मानव को सब जीवों की हिंसा से बचने का आदेश दिया है पर आज हम अपने शरीर पर जो वस्त्राभूषण धारण करते हैं वे त्रस जीवों के घात से बने हुए होते हैं। तब फिर कैसे हम उनके अनुयायी कहे जा सकते हैं ? बहिनें मोती की चूड़ियाँ (बंगड़ियाँ) पहनती हैं पर यह नहीं जानतीं कि वे मोती मछलियों को चीरकर उनके पेट में से निकाले जाते हैं। ऐसी अवस्था में आप धार्मिक कैसे बन सकते हैं ? अतः अगर आप सचमुच भगवान् के अनुयायी कहलाना चाहते हैं तो उनके सिद्धान्तों को अपने जीवन में स्थान दीजिए और तदनुकूल सदाचरण कीजिए। जब आप ऐसा करेंगे तभी आप अपना जीवन सफल कर सकेंगे।

३७

सम्वत्सरि महापर्व

जिस दिन की हम प्रतिक्षा कर रहे थे वह पवित्र सम्व-त्सरि का पर्व आज आ गया है। आज के दिन की महत्ता के लिये ही पर्युपण पर्व मनाया जाता है। आज के रोज सभी लोग प्रतिक्रमण करके क्षमा याचना करेंगे। आज के पर्व को सम्वत्सरि पर्व कहे या क्षमा पर्व दोनो एक ही है। लेकिन आज इसको कैसे मनाना चाहिये, यह विचारना है।सस्कृत मे कहा है—'क्षमा वीरस्य भूपणम्' क्षमा वीरो का भूपण है अत हमको क्षमा देने मे पहले क्षमावीर बनना चहिये। दुनिया मे कई तरह के वीर होते हैं। जैसे कि धर्मवीर, दानवीर, युद्धवीर, बुद्धवीर, आदि-आदि। लेकिन देखना यह है कि हम कौन से वीर हैं? धर्मवीर वे कहे जाते है जो रात दिन मनु-ष्यो का मैल धोने मे लगे हुए रहते है। कषायो की मात्रा दूर करने में लगे हुए रहते है। क्या हमारा नाम भी ऐसे धर्म वीरो मे आता है? भगवान् महावीर प्रमुख ऐसे ही धर्मवीर हो गये हैं। उनके द्वारा ही प्ररूपित हुआ यह पर्व आज हमे धर्मवीर बनने का सन्देश देता है।

दूसरे वीर कर्मवीर होते हैं, अनासक्त होकर सेवाकार्य करते हैं। महात्मा गाँधी ऐसे ही वीर थे। हम भी ऐसे वीर

हो सकने तो क्षमा हमारा भूषण हो सकेगी।

तीसरे बुद्धवीर—ज्ञान की खोज कर जो अपने ज्ञान का उपयोग दुनिया मे करते है वे बुद्धवीर होते है। पर आज तो हमारे में साधारण बुद्धि भी नही है।

चौथे युद्धवीर—कई मनुष्य युद्धों में सारों पुरुषों का संहार कर देते है पर वे वीर नही राक्षस होते है—क्रूर होते है। जो अन्याय के सामने डटकर मुकाबला करता है और गरीबों पर होनेवाले अत्याचारों का मार्मिक आप से प्रतिकार करता है वही सच्चा युद्धवीर होता है। जिसे हम सत्याग्रही के रूप में पहिचानते है। क्या हम ऐसे युद्धवीर की गिनती में भी आ सकते है? अगर नही आसकते है तो क्षमा को कैसे हम अपना भूषण बना सकेंगे? इसके बाद ज्ञानवीर का नम्बर आता है। जिसमे ज्ञान की एक दिशा का पूर्ण प्रकाश पाया हो और उसे दुनिया को दिया हो वह ज्ञानवीर है। पर हम आज ऐसे वीर भी नहीं है। इसके बाद दानवीर का नम्बर आता है। दान वीर उसे कहते है जिसकी लक्ष्मी हॉस्पिटल और दवाखानों में फिरती रहती हो श्राविकाश्रम और अनाथा श्रमों में फिरती रहती हो। हमारी समाज मे जगडूशाह जैसे दानी महापुरुष हो गये है। जिन्होंने भयंकर दुष्काल के समय भी अपने माल से (धान) कोठों को खोल दिया था और दान वीर का भूषण धारण किया था। गुजरात मे खेमादेराणी भी ऐसा ही दान वीर हो गया है।

चांपानेर मे भाराशी मेहता नामक एक महाजन हो गया है। एक दिन वह बादशाह के दरबार में जा रहा था रास्ते मे उसे एक भाट मिला। उसने उसका स्वागत करते हुए कहा

--पहले शाह और फिर बादशाह । भागजी मेहता के साथ मे जो सामन्त था उसके दिल मे यह बात चुभ गई । उसने बादशाह से कहा--आपका भाट तो शाह की तारीफ करता है और आपका कुछ मान भी नही रखता है । आगे दिन यह कहता रहता है, कि पहले शाह और फिर बादशाह । बादशाह ने इसकी परीक्षा करनी चाही, पर इसका तत्काल कोई मौका नही मिला ।

कई दिनो बाद जब दुष्काल पड़ा, तब बादशाह ने शाह को बुलाया और कहा--तुम इस दुष्काल को दूर करो अन्यथा तुम्हारी यह शाह पदवी छीन ली जायगी । शाह ने एकमास का समय माँग कर सभी महाजनो को इकट्ठा किया और उन्हे बादशाह का हुक्म सुनाया । लोगो ने इसके लिए गाँव-गाँव फिर कर फंड करना शुरू किया । कुछ एक महाजन पाटन पहुंचे और वहां फंड करने लगे । पाटन के पास ही एक छोटा सा गाँव था जहाँ एक साधारण गृहस्थ रहता था । उसने जब सुना, कि मेरे गाँव के पास से महाजन जा रहे है तो उसने सोचा--मै उन्हे अपने घर लाऊँ और कुछ नाश्ता तो करवाऊँ । वह उनके पास गया और उनको अपने घर लाया । महाजनो ने कहा--अभी छः मास और दस दिन शेष है । इन दिनो के लिये भोजन की व्यवस्था करनी बाकी है अत आप भी अपनी कोई मिति (तिथि) लिखाइये । वह महाजन अपने पिता के पास गया और उनकी बात कही । पिता ने कहा--बेटा ! भाग्य से ही ऐसा मौका तेरे हाथ मे आया है । तू इस अनमोल अवसर को मत खो और इसका पूरा-पूरा लाभ ले । पुत्र ने आकर महाजनो से कहा--आइयो, आप

सारे गाम का भार मुझसे सीखिमेगा अब आपको आगे आने की जरूरत नहीं है। महाजनों को आश्चर्य हुआ और सब चकित से हो गये। उन्होंने पुनः उससे पूछा—क्या सारे गाव का खमाज तुम दे दोगे। खेमा ने कहा—आप मुझ पर कृपा करें और यह सेवा का अवसर मुझे ही प्रदान करें बन्धुओ ऐसे वीर ही दानवीर कहे जाते हैं। आज हम भी अगर दान वीर बनेंगे तो अपनी शाह पदवी को सार्थक कर सकेंगे।

युद्धवीर बुद्धवीर और धर्मवीर बनना तो दूर रहा पर दानवीर तो हर एक व्यक्ति बन सकता है। कल स्थानक के मत्री ने आपके सामने दवाखाने की एक योजना रक्खी थी। मुझे इस योजना को जानकर बड़ी खुशी हुई और मेरे आनन्द का पार न रहा। मानव को तुरन्त सहायता और आराम मिले ऐसा कार्य दवाखाने का है। आज मध्यम वर्ग के लिये डाक्टर कितने महंगे हो गये है? मृत्यु से भी अधिक कष्ट आज बीमारी का हो गया है। ऐसी स्थिति मे भी अगर हम अपने भाइयों को सहायता न दें तो और कौन देंगे? बीमारों की सेवा करने के लिए तो विदेशों से कई मिश्नरियां हमारे यहां आई हैं और सहायता कार्य कर रही हैं। अतः हमें भी इस कार्य मे पूरी-पूरी मदद देनी चाहिये? लक्ष्मी का कुछ पता नहीं है, न जाने कब आवे और चली जाय? कब समाजवादी सरकार आवे और हमारी पूंजी को हड़प ले? अतः अगर हम अभी से इस पूंजी का सदुपयोग करेंगे तो भविष्य में हमें बड़ी खुशी होगी। आज सम्वत्सरि का दिन है अगर आज आप अपने धन को सत्कार्य में खर्च करेंगे तो वह युगों तक आपकी याद कायम रख सकेगा।

मानव का मच्चा दान यह है, कि वह अपनी पू जी मे भी मवाया दान दे दे—कर्ज लेकर भी दान दे दे । लेकिन आज तो आपको अपनी बढी हुई पूंजी मे मे ही देना है अत आज तो आप मागने वालो की झोलियाँ इम प्रकार भरदे कि दुनिया मे आपकी एक मिमाल कायम हो जाय।

दानवीर का जीवन आपने मुन लिया है । जिम खेमा ने केवल मुनते ही ३६० दिनो का कोटा पूरा कर दिया, ऐसे वीरो को ही क्षमा का आभूषण शोभित होना है । खेमादेराणी ने जब ३६० दिनो की ही व्यवम्था का भार अपने ऊपर ले लिया तब महाजनो ने उममे कहा—आप अच्छे कपडे पहनें और हमारे साथ बादशाह के पाम चले । लेकिन खेमा उन्ही कपडो से बादशाह के पाम गया । बादशाह ने शाह की पदवी मान्य रक्खी और यह कहा कि—पहले शाह और फिर बादशाह ।

वम्तुपाल और तेजपाल जैमे भाई भी ऐसे ही हो गये हैं। भामाशाह का दान भी हमारे मे अपरिचित नही है। महाराणा प्रताप जब धन के अभाव मे अपना प्यारा देश छोड कर जा रहे थे, तब भामाशाह ने रुपयो की गाडियाँ भर कर भेजी थी । आज भी हमारे ममाज मे ऐमे भगडशाह और भामाशाह जैमे दानवीर भरे पडे है । आपने अभी मुना होगा कि दवाखाने के लिये ५२००० हजार रुपये का ऑफर भी आ गया है । लेकिन कल मैने कहा था, कि कृष्ण ने गोवर्द्धन पर्वत उठाया था तो ग्वालाओ ने उन्हे लकडी का टेका दिया था । आज बडी-बडी रकम देने वाले तो हैं, पर छोटी-छोटी रकम देने वाले तो नही है । यह कोई नियम नही है, कि जो बडी रकम देता है वही दानवीर होता है । अपनी-अपनी

स्थिति के अनुसार सब दान दे सकते हैं और एक पाई का दान देने वाला भी दानवीर कहा जा सकता है।

आज का पर्व आदान प्रदान का है। क्षमा देनी और लेनी भी है। मन हमारे दिलों में जो बुराइयों का कचरा भरा हुआ है उसे आज चौपाटी के दरिया में फैंक कर साफ कर लेना चाहिए। एक अंग्रेज लेखक ने कहा कि 'मेरा हृदय इतना विशाल है कि मैं सबको समा सकता हूँ पर बुराइयों के लिये मेरे मन में कोई स्थान नहीं है। आज हमें भी अपना हृदय ऐसा विशाल करना है और क्षमा का आदर्श चरितार्थ करना है। हमारे पूर्व मुनिराज गजसुकुमाल मेतारज मुनि आदि क्षमा का आदर्श कायम कर गये हैं। परदेशी राजा को उसकी प्र सयाम रानी सूरी कान्ता ने जहर दिया था पर फिर भी राजा ने क्षमा प्रदान की थी। स्कंधक मुनि ने जिनके सामने ५ शिष्यों को घानी में पील दिया गया पर मुंह से उफ तक नहीं की थी। ऐसे ही आदर्श मुनियों का जीवन आज हमें अपने जीवन में उतारना है।

भगवान् बुद्ध का एक शिष्य पूर्ण नाम का था। वह जब अनार्य क्षेत्र में धर्म प्रचार के लिए जाने लगा तो भगवान् बुद्ध ने उससे कहा—अगर तुम्हें वहाँ कोई गाली देगा तो क्या करोगे?

शिष्य ने कहा—मैं उसका उपकार मानूंगा।

भगवान् बुद्ध ने फिर पूछा—अगर कोई तुम्हें हाथों से मारेगा तो?

शिष्य ने कहा—मैं इसका उपकार मानूंगा कि उसने मुझे शस्त्रों से तो नहीं मारा है?

भगवान् बुद्ध ने फिर कहा—अगर कोई शस्त्रो से मारेगा तो ?

शिष्य ने कहा—तो मै यह सोचकर उसका उपकार मानूंगा कि उसने मुझे मृत्यु-दण्ड तो नही दिया है।

भगवान् बुद्ध ने फिर कहा—कोई तुम्हे मार डालेगा तो ?

शिष्य—भगवन्, मै उस समय यह सोचूंगा, कि मेरी आत्मा तो अजर-अमर है, शरीर नाशवान था—एक न एक दिन तो जाने ही वाला था।

बन्धुओ! ऐसी क्षमा जब हमारे जीवन मे होगी तभी हम क्षमावीर बन सकेंगे। लेकिन इसके लिये जब हमारे मे पूर्ण वीरता होगी तभी हम ऐसी उत्तम और आदर्श क्षमा को अपना सकेंगे।

कल ५ वर्ष का एक अबोध बालक यहाँ आया था। उसने यहाँ फड होते हुए देखा तो उसने सोचा—मुझे भी कुछ देना चाहिये। सब लोग रुपया दे रहे हैं तो मैं क्यो नही दूं ? यह सोच कर उसने अपने बटुवे मे से ५१) रुपये निकाल कर दे दिये। यह सस्कारो का ही प्रभाव है। जब एक बालक भी शुभ काम में अपनी पूंजी में से कुछ रकम दे देता है तो आप तो समझदार हैं, आप मे तो यह आदर्श विकसित होना ही चाहिये। आज का यह पर्व उसी दान-भावना को विकसित करने के लिये आया है। अगर हम आज इस प्रकार अपने जीवन मे दान के आदर्श को उतारेंगे तो अपने पर्व की आराधना सफल कर सकेंगे।

स्थिति के अनुसार सब दान दे सकते हैं और एक पाई का दान देने वाला भी दानवीर कहा जा सकता है।

आज का पर्व आदान-प्रदान का है। क्षमा देनी और लेनी भी है। अतः हमारे दिलों में जो बुराइयों का कचरा भरा हुआ है उसे आज चौपाटी के दरिया में फैंक कर साफ कर लेना चाहिये। एक अंग्रेज लेखक ने कहा कि 'मेरा हृदय इतना विशाल है कि मैं सबको समा सकता हूं पर बुराइयों के लिये मेरे मन में कोई स्थान नहीं है। आज हमें भी अपना हृदय ऐसा विशाल करना है और क्षमा का आदर्श चरितार्थ करना है। हमारे पूर्व मुनिराज गजसुकुमाल मेतारज मुनि आदि क्षमा का आदर्श कायम कर गये हैं। परदेशी राजा को उसकी प्रधान रानी श्री कान्ता ने जहर दिया था पर फिर भी राजा ने क्षमा प्रदान की थी। स्कंधक मुनि ने जिनके सामने ५ शिष्यों को घाणी में पील दिया गया पर मुंह से चूं तक नहीं की थी। ऐसे ही आदर्श मुनियों का जीवन आज हमे अपने जीवन में उतारना है।

भगवान् बुद्ध का एक शिष्य पूर्ण नाम का था। वह जब अनार्य क्षेत्र में धर्म प्रचार के लिए जाने लगा तो भगवान् बुद्ध ने उससे कहा—अगर तुम्हें वहां कोई गाली देगा तो क्या करोगे ?

शिष्य ने कहा—मैं उसका उपकार मानूंगा।

भगवान् बुद्ध ने फिर पूछा—अगर कोई तुम्हें हाथों से मारेगा तो ?

शिष्य ने कहा—मैं इसका उपकार मानूंगा कि उसने मुझे शस्त्रों से तो नहीं मारा है ?

लडता है, वैसे ही हम भी विषय-कषाय के लिये धर्म से लडते हैं, उसे छोड देते है। इसलिए आज की यह दुबली अष्टमी कहती है, कि तुम इन विषय-कषाय को छोड दो और अपनी आत्मा को बलवान बनाओ। बाह्य शत्रु से भी आन्तरिक शत्रु सशक्त है, अत उसको परास्त करो। शास्त्रकारो ने भी कहा है—'अपनी आत्मा दुरात्मा होकर जितना नुकसान करती है, उतना कोई गरदन पर छुरी चला कर भी नही करता है।'

आज वकील को देखकर जैसे कोर्ट की याद आती है और बालक को देखकर पाठशाला की, इसी तरह ज्ञानी पुरुष भी जब किसी विषय-कषायाध पुरुष को देखता है तो उसे नरक की याद आ जाती है। बालु प्रभा और तम प्रभा आदि तो द्रव्य नरक हैं, पर काम-क्रोध, लोभ,छल-कपट आदि भाव नरक है। अत द्रव्य नरको से दूर होते हुए भी अगर इन भाव नरको से नही बचा जाय तो समझ लेना चाहिये हम भाव-नरको मे ही पडे हुए है। लेकिन इन भाव नरको से बचकर कैसे रहा जाय ? यही अब विचारना है।

यह बात अनुभव से जानी हुई है, कि क्रोध आने पर बाद मे पश्चात्ताप होता है। अमेरिका का एक प्रोफेसर था, जो साधारण सी बात पर भी गरम हो जाता था। लेकिन उसने यह तय कर लिया कि यह स्वभाव मेरा ठीक नही है, अत इसे छोड देना चाहिये। इसके लिये उसने एक नोकर रखा और एक खाली लिफाफा देकर उससे कहा—देखो, जब कभी मै आवेश मे आ जाऊँ, तब तुम यह लिफाफा मेरे सामने रख देना। नोकर जब भी साहब को आवेश मे देखता, उस लिफाफे को सामने कर देता था, जिसे देख कर वह अपना क्रोध ठडा

धुवली आठम

आज धुवली आठम है। कषाय-विषय को धुवला बना कर आत्मा को सशक्त बनाने का यह सन्देश देती है। शरीर में किसी तरह की खराबी हो या दर्द हो तो भले ही अच्छी से अच्छी खुराक खाई जाय पर यह उस खराबी को या दर्द को ही पुष्ट करेगी शरीर को नहीं। आज हम जो कुछ भी करते हैं-करते तो आत्मा के लिये है पर विषय-कषाय के रोग होने से वे उनको ही पुष्ट करते हैं और आत्मा को निर्बल बनाते हैं। इसलिये आज की यह अष्टमी कहती है कि तुम अपनी आत्मा को सशक्त बनाओ।

मनुष्य जब कहीं बाहर जाता है तो स्वच्छ होकर जाता है। कपड़े मैले हों तो उन्हें बदल कर बाहर निकलता है। लेकिन जब आत्मा और मन ही मैले हों तो दूसरों को अपना मुंह कैसे दिखाया जा सकता है? मनुष्य अपने मुँह को दिन में कई बार कांच में देखता है और स्वच्छ करता है लेकिन क्या वह अपने मन के काले दाग को भी कभी देखता है? आज की यह अष्टमी इसी बात का ज्ञान कराने के लिये आई है।

आज हमारी स्थिति एक छोटे से बालक जैसी हो गई है। छोटा बालक जैसे एक-एक पैसे के लिए भी अपने पिता से

लड़ता है, वैसे ही हम भी विषय-कषाय के लिये धर्म से लड़ते हैं, उसे छोड़ देते हैं। इसलिए आज की यह दुबली अष्टमी कहती है, कि तुम इन विषय-कषाय को छोड़ दो और अपनी आत्मा को बलवान बनाओ। बाह्य शत्रु से भी आन्तरिक शत्रु सशक्त है, अत उसको परास्त करो। शास्त्रकारो ने भी कहा है—'अपनी आत्मा दुरात्मा होकर जितना नुकसान करती है, उतना कोई गरदन पर छुरी चला कर भी नही करता है।'

आज वकील को देखकर जैसे कोर्ट की याद आती है और बालक को देखकर पाठशाला की, इसी तरह ज्ञानी पुरुष भी जब किसी विषय-कषायान्ध पुरुष को देखता है तो उसे नरक की याद आ जाती है। बालु प्रभा और तम प्रभा आदि तो द्रव्य नरक है, पर काम-क्रोध, लोभ,छल-कपट आदि भाव नरक है। अत द्रव्य नरकों से दूर होते हुए भी अगर इन भाव नरको से नहीं बचा जाय तो समझ लेना चाहिये हम भाव-नरकों मे ही पड़े हुए है। लेकिन इन भाव नरको से बचकर कैसे रहा जाय ? यही अब विचारना है।

यह बात अनुभव मे जानी हुई है, कि क्रोध आने पर बाद मे पश्चात्ताप होता है। अमेरिका का एक प्रोफेसर था, जो साधारण सी बात पर भी गरम हो जाता था। लेकिन उसने यह तय कर लिया कि यह स्वभाव मेरा ठीक नही है, अतः इसे छोड़ देना चाहिये। इसके लिये उसने एक नौकर रखा और एक खाली लिफाफा देकर उससे कहा—देखो, जब कभी मै आवेश मे आ जाऊँ, तब तुम यह लिफाफा मेरे सामने रख देना। नौकर जब भी साहब को आवेश म देखता, उस लिफाफे को सामने कर देता था, जिसे देख कर वह अपना क्रोध ठण्डा

कर लेता था। मतलब यह है कि मानव चाहे तो अपने कषायों को दूर कर सकता है। क्रोध आवे तो मौन द्वारा या कुछ पढ़ने में लग जाने से उसे शान्त किया जा सकता है। जब अनार्य पुरुष भी ऐसा कर सकते हैं तो क्या कारण है कि हम नहीं कर सकते? न्यूटन ने लगातार ३ वर्षों तक गहन तत्वों की खोजकी और उनको एक नोट-बुक में लिखा। एक दिन उसकी वह नोट-बुक टेबल (मेज) पर पड़ी हुई थी और पास ही में दीपक भी जल रहा था उसका कुत्ता 'डायमंड' टेबल पर उछला और दीपक गिर गया जिससे उसकी सारी नोटबुक जलकर खाक हो गई। न्यूटन ने आकर जब यह देखा तो उसे अपार दुःख हुआ। आपके लाखों रुपयों के नोटो की तरह उसकी वह तीस साल की खोज थी जो आपके लाखों रुपयों से भी अधिक क़ीमती थी। अगर आपकी तिजोरी जिसमें लाखों रुपयों के नोट हों जल जाय तो आपका कैसा हाल होगा? क्या आपको नींद भी आवेगी? न्यूटन की तीस वर्ष तक की गहन खोज कुत्ते ने जला दी पर न्यूटन ने उस कुत्ते से कहा—'डायमंड! तुझे क्या पता था कि मेरी इसमें कितनी मेहनत थी।' इससे अधिक उसने कुछ नहीं कहा। इसी तरह आज हमको भी अपनी कषाय-माया को कम करना चाहिये—स्वार्थ वृत्ति को मिटाना चाहिये।

आज हम क्षुद्र स्वार्थ के लिये भी अधर्म कर रहे हैं। सरकार के नियमों का उल्लंघन कर हम राज-द्रोह का गुनाह मोल ले रहे हैं। अतः इस खोटी परिग्रह वृत्ति को आज हमें छुड़ानी करनी चाहिये। बहिनों के पास यदि पच्चीस साड़ियाँ हों तो फिर एक और लाने की क्या जरूरत है? एक भी

हो तव भी क्यो लानी चाहिये ? जवकि आपके पास जरूरत से ज्यादा कपडे हो । इस प्रकार परिग्रह बढाना पाप ही है । झूठे मान के खातिर लोगो को जिमाना और गवर्नमेंट का कानून भग कर प्रजाहित मे वाधा पहुँचाना या मानव समाज का अहित करना, हिंसा करने जैसा ही है । घर मे अपने लडके का विवाह हो और उसकी खुशाली मे यदि कोई पच्चीस के वजाय चालीस आदमियो को मिष्टान्न खिलावे तो क्या वह देश-द्रोही या मानव-द्रोही नही होगा ? अत अगर आप भी ऐसा करते हैं तो मुझे कह देना चाहिये, कि आप पाप ही करते हैं, धर्म नही अधर्म ही फैलाते है । आज की यह दुवली आठम हमको यही कहने आई है । इस प्रकार यदि हम ऐसी दुर्भा-वनाओ को दूर करेंगे तो इस दुवली आठम को सफल कर सकेंगे । अन्यथा यह आठम तो क्या, आपके पर्युषण महापर्व भी सफल नही हो सकेंगे । जव तक आप इन कषायो को दुवली नही करेंगे तव तक आप अपनी आत्मा का उद्धार नही कर सकेंगे ।

आज देश मे गन्दगी अधिक फैल गई है । चोर वाजार हद से ऊपर वढ गया है । वेईमानी की हद वढ गई है । इन सव खुराफातो को दूर करने के लिये ही ये हमारे धर्म स्थान हैं । अगर आप यहाँ आकर रोज थोडा-थोडा अपना सुधार करेंगे और नियम लेंगे तो ये धर्म-स्थान दुनिया में फिर से चमकने लग जायेंगे, और इस प्रकार हम इस दुवली आठम को ही नही, अपने सभी धार्मिक पर्वों को भी सफल कर सकेंगे ।

११

मनुष्य के तीन रूप

मनुष्य की आकृति और पशु की आकृति में बड़ा अन्तर है। मनुष्य और पशु की इन्द्रियां समान होती हैं पर फिर भी उनकी रचना और आकृति में बड़ा अन्तर होता है। मनुष्य की सीधी और उन्नत आकृति होती है जो कि स्वतः ही मनुष्य के ऊँचे चढ़ने का संकेत करती है। सीधा तो सभी चल सकते है पर ऊँचा चढ़ना बड़ा कठिन होता है। हम जिसे गुणस्थान कह कर पहचानते हैं ये गुणस्थान ही ऊपर चढ़ने के मार्ग हैं। अंग्रेजी में कहा है—मनुष्य तीन तरह के होते हैं—

अच्छा ग्रहण करने वाले अच्छा करने की इच्छा करने वाले और अच्छा बनने की कोशिश करने वाले। जो मनुष्य अच्छा ग्रहण करना चाहते हैं उन्हें अभी पशुता की कोटि में ही समझना चाहिये। अच्छा करने की शुभ वृत्ति जिनमें है, वे मानवता की सीढ़ी पर चढ़े हुए हैं पर जो अच्छा बनने की कोशिश करते हैं वे दीव्यता को मंजिल में पहुंचना चाहते है। आइये, अब हम यह देखें कि आप और हम किस मंजिल में है ?

जो मानव खाता-पीता और ऐश आराम करता हो वह पशुता की कोटि मे है। आज की दुनिया का बड़ा भाग इसी कोटि में समाविष्ट होता है। दूसरे का क्या हाल होता है यह

नही आज सोचता है। आप अपने सीने पर हाथ धर कर कहिये, कि दिन मे आप अपने पडौसी की भलाई के लिये कितने मिनिट विचार करते हैं ? उत्तर मिलेगा कुछ नही। तब क्या हमारी यह स्थिति असली जीवो जैसी नही है, तो फिर हम पशुता की कोटि मे ही पडे हुए है। अत हमारी उन्नत आकृति हम से यह कहती है, कि तुम ऊँचे चढो, तुम्हे नीचे नही उतरना है।

दूसरी कोटि है अच्छा करना। यह मानव की कोटि है। हमारे पास पैसा हो और हम उसे दूसरो के हित मे खर्च करें तो वह पीढियो तक बना रहता है। और उसका लाभ जन्म-जन्मान्तरो मे भी मिलता है।--

"खा गया सो खो गया,
जोड गया सिर फोड गया,
गाड गया झक मार गया'
जो दे गया सो ले गया"

अग्रेजी मे भी ऐसा ही कहा है---'जो हमने दिया, वह हमारे पास ही है, जो हमने दिया, वह हमारे साथ ही है।' यह बात मानवता की कोटि मे आती है। अपने शरीर से दूसरे की सेवा करना, पडोसी बीमार हो तो दवा लाकर देना, यह शारीरिक सेवा है। धन से तो हर व्यक्ति सेवा नही कर सकता है, पर ऐसी शारीरिक सेवा तो हर एक व्यक्ति कर सकता है जिसका कि महत्त्व उससे भी अधिक होता है। यह सच है कि बीमार मानव शरीर से सेवा नही कर सकता है, पर वह भी मन से तो सेवा कर सकता है न ? मन की भावनाओ को व्यक्त कर वह अपनी सेवा-भावना प्रकट कर

~ १६

मनुष्य के तीन रूप

मनुष्य की आकृति और पशु की आकृति में बड़ा अन्तर है। मनुष्य और पशु की इन्द्रियां समान होती हैं, पर फिर भी उनकी रचना और आकृति में बड़ा अन्तर होता है। मनुष्य की सीधी और उन्नत आकृति होती है जो कि स्वतः ही मनुष्य के ऊँचे चढ़ने का संकेत करती है। सीधा तो सभी चल सकता है पर ऊँचा चढ़ना बड़ा कठिन होता है। हम जिसे गुणस्थान कह कर पहचानते हैं वे गुणस्थान ही ऊपर चढ़ने के मार्ग हैं। अंग्रेजी में कहा है—मनुष्य तीन तरह के होते हैं—

अच्छा ग्रहण करने वाले अच्छा करने की इच्छा करने वाले और अच्छा बनने की कोशिश करने वाले। जो मनुष्य अच्छा ग्रहण करना चाहते हैं उन्हें अभी पशुता की कोटि में ही समझना चाहिए। अच्छा करने की शुभ वृत्ति जिनमें है वे मानवता की सीढ़ी पर खड़े हुए हैं पर जो अच्छा बनने की कोशिश करते हैं वे दीव्यता की मंजिल में पहुँचना चाहते हैं। आइये अब हम यह देखें कि आप और हम किस मंजिल में हैं?

जो मानव खाना-पीना और ऐश आराम करता हो वह पशुता की कोटि में है। आज की दुनिया का बड़ा भाग इसी कोटि में समाविष्ट होता है। दूसरे का क्या हाल होता है यह

नही आज सोचता है। आप अपने सीने पर हाथ धर कर कहिये, कि दिन मे आप अपने पडौसी की भलाई के लिये कितने मिनिट विचार करते हैं ? उत्तर मिलेगा कुछ नही। तब क्या हमारी यह स्थिति असली जीवो जैसी नही है, तो फिर हम पशुता की कोटि मे ही पडे हुए हैं। अत. हमारी उन्नत आकृति हम से यह कहती है, कि तुम ऊँचे चढो, तुम्हे नीचे नही उतरना है।

दूसरी कोटि है अच्छा करना। यह मानव की कोटि है। हमारे पास पैसा हो और हम उसे दूसरो के हित मे खर्च करें तो वह पीढियो तक बना रहता है। और उसका लाभ जन्म-जन्मान्तरो मे भी मिलता है।——

"खा गया सो खो गया,
जोड गया सिर फोड गया,
गाड गया झक मार गया'
जो दे गया सो ले गया"

अग्रेजी मे भी ऐसा ही कहा है——'जो हमने दिया, वह हमारे पास ही है, जो हमने दिया, वह हमारे साथ ही है।' यह बात मानवता की कोटि मे आती है। अपने शरीर से दूसरे की सेवा करना, पडोसी बीमार हो तो दवा लाकर देना, यह शारीरिक सेवा है। धन से तो हर व्यक्ति सेवा नही कर सकता है, पर ऐसी शारीरिक सेवा तो हर एक व्यक्ति कर सकता है जिसका कि महत्त्व उससे भी अधिक होता है। यह सच है कि बीमार मानव शरीर से सेवा नही कर सकता है, पर वह भी मन से तो सेवा कर सकता है न ? मन की भावनाओ को व्यक्त कर वह अपनी सेवा-भावना प्रकट कर

सकता है और दूसरों को भी प्रेरित कर सकता है। लेकिन इससे भी आगे की मंजिल अच्छे बनने की है। मानव दूसरे का भला कर सकता है और मानवता की कोटि में आ सकता है पर स्वयं अच्छा बनना बड़ा कठिन काम है। स्वयं-सेवक बन कर दूसरों की सेवा करना बड़ा आसान है पर अपना जीवन अच्छा बनाना बड़ा मुश्किल है। अतः हरेक मानव को सबसे अधिक आवश्यकता है अपने चरित्र को उन्नत बनाने की एक कहावत है—

धन गया तो कुछ नहीं खोया।
स्वास्थ्य गया तो कुछ खोया।
चारित्र गया तो सब कुछ खोया।

चरित्र चला जाय तो समझ लेना चाहिये कि सब कुछ चला गया है। यही चारित्र विमलता की मंजिल है। चारित्र ही मनुष्य की अचल सम्पत्ति है। एक समय की बात है—बनारस के राजा ने अपने यहाँ एक बड़ी सभा कराई। सभा में देश देश के बड़े-बड़े विद्वान् आये थे और राजे-महाराजे भी उसमें सम्मिलित थे। जनता की भीड़ अपार थी। ठीक समय पर राजा ने खड़े होकर कहा भाइयो! दुनिया का हर एक मनुष्य शान्ति चाहता है लेकिन वह मिल कैसे सकती है। यही जानने के लिये ही इस विशाल सभा का आयोजन किया गया है। अब आप शान्त हो जाइये और इस विषय मे विद्वानों के अपने-अपने विचार ध्यान पूर्वक सुनिये। सभा शान्त हो गई। विद्वानों के भाषण होने लगे और सबने अपनी-अपनी बात कही। अन्त में सारी परिषद् ने मिलकर जो शान्ति का मार्ग तय किया उसे सुनाने के लिये एक राजपुरोहित खड़ा हुआ और बोला—"वैराग्यभाव से मनुष्य को शान्ति मिलती है।

इसलिये सब को वेदाभ्यास करना चाहिये ।' यह सुनकर सब को आनन्द हुआ । सब ने वेदाभ्यास की जयध्वनि की । इतने में ही एक युवक तपस्वी खडा हुआ और बोला—'कौन कहता है, कि वेदाभ्यास से शान्ति मिलती है ! यह बिल्कुल गलत बात है । इससे शान्ति कदापि नही मिल सकती ।' राजा को यह सुनकर बडा आश्चर्य हुआ । सारी सभा भी विस्मित हो गई । राजा ने उससे पूछा—अच्छा, तुम बताओ, शान्ति का मार्ग क्या है ? तपस्वी ने कहा—'राजन् ! वेदाभ्यास से शाति नही मिलती, ज्ञान मिल सकता है, पर सच्ची शान्ति तो सयम से ही मिल सकती है ।' राजा को ही नही, सबको यह बात जँच गई और तब यह जाहिर किया गया कि 'शान्ति, सयम से मिल सकती है ।'

बन्धुओ ! कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि शान्ति सयम से ही पैदा होती है अत हमें भी चारित्रशील-सयमी बनना चाहिये । अगर हमे सचमुच शान्ति को पाना है तो व्यसनों को तज कर सदाचारी बनना चाहिये ।

धर्म की व्याख्या करते हुए हमारे शास्त्रकारो ने कहा है—'चारित्त खलु धम्मो'—अच्छे सिद्धान्तो को अपने जीवन मे स्थान देना ही धर्म कहा गया है । चारित्र क्या है ? इसका उल्लेख करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—अशुभ काम से निवृत्त होना चारित्र है । लेकिन जब हम कोई भी काम नही करते हैं तब भी हमारा मन तो किसी उधेड-बुन मे लगा ही रहता है, अत यह तो चारित्र की अधूरी व्याख्या ही हुई । इसलिये पूरी व्याख्या करते हुए शास्त्रकार ने कहा है—

असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्तिय जाण चारित्त

वक्त आने पर उन्हे यह गोली खाकर मर जाना चाहिये, पर सतीत्व को नही तजना चाहिये।' यही बात मानव के व्रत के लिये भी है। जान चली जाय तो जाय, पर व्रत का नही छोडना चाहिये। हालाँकि व्रत मे जान बहुधा जाती नही है। अत मनुष्य को भी अपने व्रत का सती के सतीत्व की तरह पालन करना चाहिये। कपडा न मिले, नाज न मिले और भूखो मरना पडे या ठड मे मरना पडे तो कबूल हो, पर ब्लेक का नही लेना चाहिये। हालाकि कपडा बनाना तो अपने हाथ की ही बात है। लेकिन फिर भी कभी ऐसी स्थिति आजाय तो व्रत के लिये मर जाना कबूल हो, पर व्रत को भङ्ग नही होने देना चाहिये। इस प्रकार जब हम अपना जीवन सयमी-चारित्रशील बनाकर दिव्यत्व की मजिल पर पहुँचेंगे तभी हम अपना जीवन सफल कर सुखी बन सकेंगे।

४

मानव-सेवा

भूगोल के एक छात्र को यदि कोई नक्शा दिखाकर यह पूछे कि– यमुना कहाँ है? यह कहाँ से निकलती है? हिमालय कहाँ है? तो वह अपनी अंगुली फेर कर झट बता देता है। क्योंकि उसको इसका ज्ञान रहता है। लेकिन जब उससे कोई यह पूछे, कि तेरे मास्टर का घर कहाँ है तो वह नहीं बता सकता है। वह सिकन्दर की मृत्यु-तिथि बता सकता है पर अपने बाप-दादों की मरण-तिथि नहीं बता सकता। इससे यह जाहिर है कि उसे बाहरी दुनिया का तो बड़ा अच्छा ज्ञान होता है पर वह अपने घर के बाबत अनजान ही रहता है। ठीक ऐसी ही आज हमारी भी स्थिति हो गई है। आज का मानव बाहरी दुनिया का ज्ञान तो पूरा-पूरा रखता है, पर उसे अपने कर्त्तव्य या धर्म का ज्ञान नहीं होता है। अतः सर्व प्रथम मानव का कर्त्तव्य क्या है? धर्म क्या है? यह समझ लेना जरूरी है। मानव का सबसे पहला धर्म है—मानव के साथ समभाव रखना। यदि कोई अपना मकान बनावे तो सर्व प्रथम उसका पाया ही बनाया जायगा न की छत। छत भी जरूरत है पर पाया-नींव के बिना छत कैसे बन सकती है? बन भी गई तो उसका अस्तित्व कितना होगा? क्षणिक! ठीक यही

हाल आज हमारा भी हो रहा है। पाया न वना कर आज हम पहले छत वनाने की तैयारी कर रहे हैं। आज हम लीलोती आदि का जो त्याग करते है, वह ऐसा ही धर्म है। उसके नीचे पाया नही है। पाया जो होना चाहिये, वह है मानव-दया, जिसका कि हमे सर्वप्रथम पालन करना चाहिये। विना इसके एकेन्द्रीय जीवो की दया करना तो पाया रहित छत जैसी ही बात है। धर्म का पाया है मानव-दया और उसके वाद ही पृथ्वी, पानी जैसी दीवार या छत बनाई जा सकती है। अत आज हमे सर्व प्रथम अपनी नीव को मजबूत बना कर आगे वढना चाहिये।

आज जैनियो पर यहाँ आरोप लगाया जाता है कि 'वे मानव को तो मार देते हैं, पर कीडे-मकोडो की रक्षा करते-फिरते हैं।' इसका कारण यही है, कि हमारी शुरूआत ही उल्टी हुई है। आज हम मछलियो की रक्षा के लिये, यदि तालाव में पानी न होगा तो उसमे, पानी डालेंगे और उनकी रक्षा करेंगे, पर मनुष्यो का खून चूसने मे कभी नही हिचकिचाएँगे। महात्मा जी ने कहा था कि 'अहमदाबाद के एक तालाव मे जब पानी सूख गया तो जैनी वहाँ जाकर पानी डालते थे, पर वे ही मिल चलाने मे तनिक भी नही हिचकिचाते हैं।' अत मनुष्य मे सम्वेदना अवश्य होनी चाहिये। और यह तभी हो सकती है जब कि उसके धर्म की शुरूआत ही मानव दया से या मानव सेवा से होती हो। अग्रेजी मे दो शब्द है god और dog दोनो मे तीन-तीन अक्षर हैं, जो कि एक सरीखे हैं, पर उनका क्रम उल्टा-सीधा है। ये शब्द हमसे यह कहते है कि अगर तुम सीधी तरह वर्ताव करोगे तो god वन जाओगे,

४

मानव-सेवा

भूगोल के एक छात्र को यदि कोई नक्शा दिखाकर यह पूछे कि— गंगाजी कहाँ है ? वह कहाँ से निकलती है ? हिमालय कहाँ है ? तो वह अपनी अंगुली फेर कर झट बता देता है। क्योंकि उसको इसका ज्ञान रहता है। लेकिन जब उससे कोई यह पूछे, कि तेरे मास्टर का घर कहाँ है तो वह नहीं बता सकता है। वह सिकन्दर की मृत्यु-तिथि बता सकता है पर अपने बाप-दादों की मरण-तिथि नहीं बता सकता। इससे यह जाहिर है कि उसे बाहरी दुनिया का तो बड़ा अच्छा ज्ञान होता है पर वह अपने घर के बाबत अनजान ही रहता है। ठीक ऐसी ही आज हमारी भी स्थिति हो गई है। आज का मानव बाहरी दुनिया का ज्ञान तो पूरा-पूरा रखता है पर उसे अपने कर्त्तव्य का धर्म का ज्ञान नहीं होता है। अतः सर्व प्रथम मानव का कर्त्तव्य क्या है ? धर्म क्या है ? यह समझ लेना जरूरी है मानव का सबसे पहला धर्म है—मानव के साथ समभाव रखना। यदि कोई अपना मकान बनाये तो सर्व प्रथम उसका पाया ही बनाया जायगा न की छत। छत की जरूरत है पर पाया-नींव के बिना छत कैसे बन सकती है ? बन भी गई तो उसका अस्तित्व कितना होगा ? क्षणिक। ठीक यही

हाल आज हमारा भी हो रहा है। पाया न बना कर आज हम पहले छत बनाने की तैयारी कर रहे है। आज हम लीलोती आदि का जो त्याग करते हैं, वह ऐसा ही धर्म है। उसके नीचे पाया नही है। पाया जो होना चाहिये, वह है मानव-दया, जिसका कि हमे सर्वप्रथम पालन करना चाहिये। बिना इसके एकेन्द्रीय जीवो की दया करना तो पाया रहित छत जैसी ही बात है। धर्म का पाया है मानव-दया और उसके बाद ही पृथ्वी, पानी जैसी दीवार या छत बनाई जा सकती है। अत आज हमे सर्व प्रथम अपनी नीव को मजबूत बना कर आगे बढना चाहिये।

आज जैनियो पर यहाँ आरोप लगाया जाता है कि 'वे मानव को तो मार देते हैं, पर कीडे-मकोडो की रक्षा करते-फिरते है।' इसका कारण यही है, कि हमारी शुरूआत ही उल्टी हुई है। आज हम मछलियो की रक्षा के लिये, यदि तालाब में पानी न होगा तो उसमे, पानी डालेंगे और उनकी रक्षा करेंगे, पर मनुष्यो का खून चूसने मे कभी नही हिचकिचाएँगे। महात्मा जी ने कहा था कि 'अहमदाबाद के एक तालाब मे जब पानी सूख गया तो जैनी वहाँ जाकर पानी डालते थे, पर वे ही मिल चलाने मे तनिक भी नही हिचकिचाते हैं।' अत मनुष्य में सम्वेदना अवश्य होनी चाहिये। और यह तभी हो सकती है जब कि उसके धर्म की शुरूआत ही मानव दया से या मानव सेवा से होती हो। अग्रेजी मे दो शब्द है god और dog दोनो मे तीन-तीन अक्षर हैं, जो कि एक सरीखे हैं, पर उनका क्रम उल्टा-सीधा है। ये शब्द हमसे यह कहते है कि अगर तुम सीधी तरह बर्ताव करोगे तो god बन जाओगे,

नहीं तो dog। अतः यदि आप छोटे-छोटे प्रत्याख्यान व्रत नियम आदि करके इसी में धर्म का पूरा-पूरा पालन समझ लें तो यह ठीक नहीं है। पहले मानव-दया का पाया मजबूत होना चाहिये तभी उस पर दूसरी दीवारें भी खड़ी की जा सकती हैं।

एक गाँव में बड़ा श्रद्धालु मनुष्य रहता था। आज का मानव तो तर्क-प्रधान होता है पर वह किसान नाम का मनुष्य बड़ा श्रद्धालु था। वह जब कभी किसी से कोई धार्मिक बात सुनता तो उस पर उसकी श्रद्धा बैठ जाती थी। एक दिन उसके गाँव में साधुओं का एक सम्मेलन हुआ। साधुओं ने धर्म का उपदेश देते हुए कहा—"जो मनुष्य बड़े आदमियों की सेवा करते हैं वे जन्म-मरण के फेर से छूट जाते हैं। यह उप देश उस किसान को बड़ा रुच गया और वह अपने गाँव के पटेल के पास गया जो कि उस गाँव में बड़ा आदमी समझा जाता था और बोला—मैं आपकी सेवा में रहना चाहता हूँ। पटेल ने आनाकानी की पर किसान कब मानने वाला था वह पटेल की सेवा में रह गया और दिन रात उसकी सेवा करने लगा। एक दिन थानेदार आया तो पटेल ने किसान से कहा—आज जरा जल्दी रोटी बना देना। किसान ने कहा—क्यों क्या बात है आज ? पटेल ने कहा—थानेदार साहब आये हैं। किसान ने पूछा—तो क्या वे कोई बड़े आदमी हैं ? पटेल ने उत्तर देते हुए कहा—हाँ वे हमारे अफसर हैं। किसान ने कहा—तो अब आपकी सेवा पूरी हुई। मैं तो बड़े आदमी की ही सेवा करता हूँ। अब वह थानेदार के पास चला गया और उनकी सेवा करने लगा।

एक दिन उनके यहाँ भी कोई वडा अफसर आया तो वह उनकी सेवा में चला गया और इस तरह धीरे-धीरे वह राजा के पास पहुँच गया। वह जहाँ-जहाँ भी गया, सब का प्रिय हो गया था। क्योंकि मानव अगर किसी के काम आता है तो वह सब को प्रिय लगता है। किशन राजा का भी प्रिय बन गया। एक दिन राजा किशन को साथ ले जगल मे शिकार करने निकला। दोनो चलते-चलते दूर निकल आये। रात हो गई थी, लेकिन किशन के साथ होने से राजा को कोई भय नही था। उसने जगल में ही यह रात विताने की सोची और वहाँ ही वह किशन की गोद मे अपना सिर रखकर सो गया। थोडी ही देर के वाद एक आवाज हुई, जिसने सुनकर राजा की नीद खुल गई। राजा ने कहा—किशन! देख यह भूतो का टोला आ रहा है। इससे वचने के लिये हमे पेड पर चढ जाना चाहिये। किशन ने पूछा—आप डर क्यो रहे हैं? क्या ये आप से भी वडे हैं। राजा ने कहा—भाई, ये मेरे से क्या, मेरे वाप-दादो से भी वडे हैं। किशन ने कहा—तो अव आपकी चाकरी भी पूरी हुई। मुझे तो वडा की ही सेवा करनी है। राजा को वचा कर वह भैरवनाथ के पास गया और बोला—मुझे आपकी सेवा में रहना है। भैरवनाथ ने उसे अपने साथ ले लिया। आगे जाने पर एक मन्दिर आया, जिसमे विष्णु की एक मूर्ति भी थी। उसे देखकर भैरवनाथ डर गया। किशन ने पूछा—ये तुम से भी वडे हैं? भैरवनाथ ने कहा—हाँ, ये हम से भी वडे हैं। तब किशन ने उनसे भी राम-राम की और वह उस मन्दिर मे आकर उस मूर्ति के सामने वैठ गया। लेकिन वहाँ कोई आदमी तो था नही, जिसकी कि वह सेवा करता, अत

नहीं तो dog। अब यदि मात्र छोटे छोटे प्रत्याख्यान व्रत नियम आदि करके इन्हीं में धर्म का पूरा-पूरा पालन समझ ले तो यह ठीक नहीं है। पहले मानव-दया का पाया मजबूत होना चाहिये तभी उस पर दूसरी दीवारें भी खड़ी की जा सकती हैं।

एक गाँव में बड़ा श्रद्धालु मनुष्य रहता था। गाँव का मानव तो दम्भ-प्रधान होता है पर वह किसान नाम का मनुष्य बड़ा श्रद्धालु था। वह जब कभी किसी से कोई धार्मिक बात सुनता तो उस पर उसकी श्रद्धा बैठ जाती थी। एक दिन उसके गाँव में साधुओं का एक सम्मेलन हुआ। साधुओं ने धर्म का उपदेश देते हुए कहा—जो मनुष्य बड़े आदमियों की सेवा करते हैं वे जन्म-मरण के चक्र से छूट जाते हैं। यह उपदेश उस किसान को बड़ा रुच गया और वह अपने गाँव के पटेल के पास गया जो कि उस गाँव में बड़ा आदमी समझा जाता था और बोला—मैं आपकी सेवा में रहना चाहता हूँ। पटेल ने आनाकानी की पर किसान कब मानने वाला था वह पटेल की सेवा में रह गया और दिन रात उसकी सेवा करने लगा। एक दिन थानेदार आया तो पटेल ने किसान से कहा—आज जरा जल्दी रोटी बना देना। किसान ने कहा—क्यों क्या बात है आज? पटेल ने कहा—थानेदार साहब आये हैं। किसान ने पूछा—तो क्या वे कोई बड़े आदमी हैं? पटेल ने उत्तर देते हुए कहा—हाँ वे हमारे अफसर हैं। किसान ने कहा—तो अब आपकी सेवा पूरी हुई। मैं तो बड़े आदमी की ही सेवा करता हूँ। अब वह थानेदार के पास चला गया और उसकी सेवा करने लगा।

एक दिन उनके यहाँ भी कोई वडा अफसर आया तो वह उनकी सेवा में चला गया और इस तरह धीरे-धीरे वह राजा के पास पहुँच गया। वह जहाँ-जहाँ भी गया, सब का प्रिय हो गया था। क्योकि मानव अगर किसी के काम आता है तो वह सब को प्रिय लगता है। किशन राजा का भी प्रिय बन गया। एक दिन राजा किशन को साथ ले जगल मे शिकार करने निकला। दोनों चलते-चलते दूर निकल आये। रात हो गई थी, लेकिन किशन के साथ होने से राजा को कोई भय नही था। उसने जगल मे ही यह रात विताने की सोची और वहाँ ही वह किशन की गोद मे अपना सिर रखकर सो गया। थोडी ही देर के वाद एक आवाज हुई, जिसने सुनकर राजा की नीद खुल गई। राजा ने कहा—किशन! देख यह भूतो का टोला आ रहा है। इससे वचने के लिये हमे पेड पर चढ जाना चाहिये। किशन ने पूछा—आप डर क्यो रहे हैं? क्या ये आप से भी वडे हैं। राजा ने कहा–भाई, ये मेरे से क्या, मेरे वाप-दादो से भी वडे हैं। किशन ने कहा—तो अव आपकी चाकरी भी पूरी हुई। मुझे तो वडा की ही सेवा करनी है। राजा को वचा कर वह भैरवनाथ के पास गया और वोला–मुझे आपकी सेवा मे रहना है। भैरवनाथ ने उसे अपने साथ ले लिया। आगे जाने पर एक मन्दिर आया, जिसमे विष्णु की एक मूर्ति भी थी। उसे देखकर भैरवनाथ डर गया। किशन ने पूछा—ये तुम से भी वडे हैं? भैरवनाथ ने कहा–हाँ, ये हम से भी वडे हैं। तव किशन ने उनसे भी राम-राम की और वह उस मन्दिर मे आकर उस मूर्ति के सामने वैठ गया। लेकिन वहाँ कोई आदमी तो था नही, जिसकी कि वह सेवा करता, अत

वह बैठा ही रहा। भाग्य से एक आदमी उधर से निकला और उसने पूछा—तुम यहाँ क्या बैठे हो? किसन ने कहा—मुझे मन्दिर वाले की सेवा करनी है। अतः मैं उसी की इन्तजार में बैठा हुआ हूँ। आदमी ने कहा—दो महीने बाद यहाँ एक बड़ा मेला लगेगा जिसमें हजारों स्त्री-पुरुष इकट्ठे होंगे। तू अगर मानव की सेवा करेगा तो तुझे इस मन्दिर वाले देव के दर्शन हो सकेंगे। तब किसन वहाँ झोंपड़ी बना कर रहता है और आने जाने वाले पुरुष की सेवा करता है उन्हें नदी के इस पार से उस पार तक पहुँचाता है। जैसे-जैसे मेले के दिन आये वैसे-वैसे मानवों का आवागमन शुरू हो गया। किसन सब को नदी से आर-पार करने लगा। एक दिन की बात है रात को किसी ने उसकी झोंपड़ी का दरवाजा खटखटाया। किसन ने उठकर देखा तो एक छोटा-सा बालक खड़ा हुआ था। उसने किसन से कहा—मेरे पिता जी पार खड़े हुए हैं तुम मुझे भी उस पार पहुँचा दो। किसन जब इसे लेकर नदी के उस पार पहुँचा तो वही बालक अब उसे देव-मूर्ति का रूप धारण करते हुए दिखाई देने लगा। उसने कहा—किसन तू जिस मन्दिर वाले की सेवा करना चाहता है वह मैं ही हूँ। तू मेरी सेवा करना चाहता है तो मानवों की सेवा कर, उनकी सेवा करना मेरी ही सेवा करना है। उस दिन से वह अन्ध-श्रद्धालु किसन सच्चा सेवक बन जाता है और अपना जीवन मानव-सेवा में लगाता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि यदि हम मानव-सेवा के सर्वोपरि कार्य को धर्म का पाया समझेंगे और अपनी धर्म रूपी इमारत को मजबूत बनावेंगे तो हम अपना जीवन सार्थक कर सकेंगे।

४१

जन-सेवा

हम जब जन्मे तो रोते हुए पैदा हुए थे और आसपास वाले सब हँसते थे। उनको हमारी खुशी मे पेडे बाँटे गये थे। इस तरह हम जन्मे, तब रोये और दूसरे लोग हँसे, पर हमारा मरण ऐसा होना चाहिये, कि हम हँसे और दूसरे सब रोये। अगर ऐसा हमारा जीवन होगा तो वह जीवन धन्य कहा जा सकेगा। लेकिन सोचना यह है, कि ऐसा जीवन हम बना कैसे सकते हैं ? इसी प्रश्न के उत्तर मे कल हमने विचार किया था कि अगर धर्म का पाया मानव-दया के ऊपर उठा हुआ हो तो हम अपना जीवन ऐसा बना सकते हैं। और मृत्यु के समय भी हम हँस मुख रह सकते हैं। सेवा की निर्मल ज्योति जगाने से ऐसा जीवन बनाया जा सकता है। सस्कृत मे कहा है—

> नत्वह कामये राज्य न स्वर्ग ना पुनर्भवम्।
> कामये दु ख तप्ताना प्राणिनामार्तिनाशनम्।

अर्थात्—मुझे राज्य-वैभव या स्वर्ग सुख की कामना नही है। और न मोक्ष ही चाहिये, पर दु ख से पीडित प्राणियो के दुखो का मैं नाश कर सकू, यही मैं सोचता हूँ। मानव, अगर अपना जीवन ऐसा बनाना चाहता है, कि मृत्यु के समय

वह हँसे और लोग रोयें तो उसे अपना वह जीवन मंत्र बना लेना चाहिये।

मानव में मुख्यतः भोग और सत्ता ये दो प्रवृत्तियाँ ही मुख्य रहती हैं। इन्ही के लिये वह दूसरों का बलिदान भी लेता है। आज से ५ वर्ष पूर्व के इतिहास को भी अगर हम देखेंगे तो ये दो चीजें–भोग और सत्ता ही सबसे पहले जीवन में दिखाई देगी। हिटलर ने युद्ध किया तो सत्ता के ही लिये। बड़े-बड़े व्यापारी जो आज धंधा करते हैं वह किस लिये ? केवल भोग के ही लिये तो करते हैं। अतः मानव-संघर्ष के मूल में ये दो वासनायें ही रहती हैं। लेकिन इस श्लोक में कहा है कि–मुझे वह स्वर्ग नहीं चाहिये–जहाँ खूब ऐश-आराम मिलता हो मुझे वह राज्य-वैभव भी नहीं चाहिये जिससे कि मैं दूसरों पर सत्ता चलाने वाला बनू। इससे भी आगे बढ़कर वह कहता है कि मुझे मोक्ष की भी तमन्ना नहीं है लेकिन चाहता केवल इतना ही है मैं दुःख से पीड़ित मानवों की वेदनाएँ दूर कर सकूं। ऐसा ही जीवन मंत्र यदि हमारा भी होगा तो हम मृत्यु के समय भी हँस मुख रह सकेंगे।

आज हमारे देश में ऐसे कई सेवक राज्य-सेवा करते आये हैं पर सत्ता जब उन्हें मिली तो उनमें से कई उसमें फँस गये। लेकिन जो सच्चे सेवक हैं वे आज सत्ता मिलने पर भी दिन-रात सेवा की ज्योति जगा रहे हैं।

हर एक दिन हमारा छोटा जीवन है अतः हमें हर एक दिवस को सफल बना चाहिये। जिन्दगी हमारी एक खुली हुई दुकान है। महीना पूरा होने पर दुकानदार जैसे अपने काम का हिसाब लगाता है और दीवाली आने पर जैसे १२

महीनो का हिसाव करता है, उसी तरह अपनी जिन्दगी का भी हमे हिसाव लेना चाहिये। दूकानदार के नफे की तरह हमारी जिन्दगी का भी कुछ नफा (फल) आवे तो इसे सफल समझना चाहिये, अन्यथा निष्फल और निस्सार। एक समय की बात है—एक दिन 'एकनाथ' महाराज के पास एक आदमी आया और बोला महाराज, आपका जीवन बडा शान्त और मधुर है, परन्तु मेरा जीवन अशान्त क्यो है? इसका क्या कारण है?

एकनाथ महाराज ने कहा—भाई, तू इन सब बातो को तो जाने दे, पर तेरी मृत्यु आज से आठवें रोज होने वाली है इसलिए अभी उसकी फिक्र कर। यह सुनकर वह घबराया हुआ अपने घर आया और पास-पडौसियो से तथा कुटुम्बीजनो से क्षमा-याचना करने लगा। इस तरह वह सबसे क्षमा माँग कर अपने दिन धर्म ध्यान में व्यतीत करने लगा। जब आठ रोज पूरे हो गये तो एकनाथ महाराज उसके घर आये। एकनाथ महाराज को देखकर उसने पूछा—कहिये, अब मेरी मृत्यु में कितनी देर और है! एकनाथजी ने कहा—भाई, यह बात तो ईश्वर जानता है, पर यह कहो कि तुम्हारा यह सप्ताह कैसा बीता? आदमी ने कहा—मेरे सामने तो मेरी मृत्यु नाच रही थी अत मैंने इन दिनो में न तो कोई बुरा काम किया और न किसी के बुरे वचन पर ही ख्याल किया। तब एकनाथ महाराज ने कहा—भाई, जैसे तुम्हारी आँखो के सामने आठो ही दिनो तक मौत नाचती रही और तुमने कोई बुरा काम नहीं किया, वैसे ही महा-पुरुषो की नजरो में भी रोज-रोज मृत्यु थिरकती रहती है,

प्रत वे सदा शान्त ही रहते हैं। बन्धुओ ! कहने का मतलब केवल इतना ही है कि मानव को अगर महर्निश अपनी मृत्यु का खयाल रहे तो वह सत्य-सेवा की तरफ ही लगा रहेगा और खराब काम करेगा ही नहीं।

मानव को सोने जैसा शरीर मिला है। तुकाराम भक्त ने कहा है—'तुम्हारा देह स्वर्ण-कलश जैसा है फिर उसमें तुम विलास की शराब क्यों भरते हो ? तुम उसमें सेवा का अमृत भरो और उस कलश को चमका दो।

हम जैसे यह कहते हैं कि जो मानव सेवा करता है वह नर से नारायण बन जाता है वैसे ही हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि जो मानव स्वार्थ की पुष्टि करता है वह मानव नर से वानर बन जाता है—जीव से जीव बन जाता है।

सेवा करते समय मनुष्य को किसी तरह का विचार नहीं करना चाहिये। हम दान देते समय तो पात्र और अपात्र का विचार करते हैं पर लेते समय क्या कोई पात्र और अपात्र का विचार भी करता ? यह क्यों ? अतः हर एक दुःखी सेवा का पात्र है और उनकी सेवा करते समय किसी तरह का विचार नहीं करना चाहिये। जो यह कहते हैं कि अप्रती की सेवा नहीं करनी चाहिये उन्हें पहले अपने देह की सेवा ही छोड़ देनी चाहिये। अतः इस तरह की संकीर्ण मनोवृत्ति त्याग कर प्राणीमात्र की सेवा करनी चाहिये। यह सेवा दो तरह से की जा सकती है—पहली मानव का अहित न हो ऐसी प्रवृत्ति द्वारा। यानी ऐसे धंधे नहीं करने चाहिये जिससे कि गरीबों के रोजगार-धन्धे छूट जाते हों। पहले हमारे यहाँ जाम सराय जब कहीं मुसाफिरी करता था तो सब रेलगाड़ियाँ

रोक दी जाती थी। युद्ध के समय जब मिलिटरी का आना-जाना होता है, तब भी यही हाल होता है। जैसे वायसराय और मिलिटरी के लिये लाइन क्लीयर किया जाता है वैसे ही गरीबो के रोज़गार के लिये—धंधो के लिये भी लाइनक्लीयर करना चाहिये। हमारे छोटे-बडे साधन कही गरीबो के हक मे नुकसान तो नहीं करते हैं, उसका कही वृत्तिच्छेद तो नही होता है, इसका सदैव ख़याल रखना चाहिये।

दूसरी प्रवृत्ति है—शुभ-प्रवृत्ति। शुभ कार्यों मे प्रवृत्ति करना, जिससे कि दूसरो को सुख पहुचे और उनका कष्ट दूर हो। इस प्रकार मानव-सेवा का धर्म-रूपी पाया अगर हमारा मजबूत होगा तो हम अपना जीवन सफल बना सकेंगे।

४२

इन्सान बड़ा कैसे बने ?

प्राणी मात्र में एक ऐसी इच्छा होती है कि सब अपना-अपना उत्कर्ष चाहते हैं। मानव-मात्र बड़ा होना चाहता है। और यह स्वाभाविक भी है कि चैतन्य-आत्मा सर्वेश है अत ऐसी महत्त्वाकांक्षा होनी भी चाहिये। कोई सत्ता द्वारा बल द्वारा या विद्वत्ता द्वारा बड़ा होने की इच्छा रखता है। पर बड़ा कैसे बनु ? यह प्रत्येक मानव चाहता है। लेकिन सोचना यह है कि हम सचमुच बड़े कैसे बन सकते हैं ?

हमारे में सब से बड़े परमात्मा हैं। हमें भी बड़ा होना है तो ईश्वरत्व को पाना चाहिये। धन से या सत्ता से बड़ा होना बड़ा बनना नहीं है परन्तु ईश्वरत्व पाकर बड़ा बनना ही सचमुच बड़ा होना है। इसलिये ईश्वरत्व को पाने के लिये या बड़ा होने के लिये मनुष्य को सबसे पहले निर्दोष हो जाना चाहिये।

बादाम का एक ढेर पड़ा हो और खाते-खाते जब तक कड़वी बादाम मुंह मे न आवे तब तक तो अच्छा लगेगा पर कड़वी बादाम के आते ही कैसे मुंह का सारा स्वाद बिगड़ जाता है वैसे ही मनुष्य में भी गुणों का समूह हो पर

उसमे एक आध कडवी बादाम की तरह बुराई भी हो तो वह कडुआ हो जाता है। एक मनुष्य बडा दयालु हो, दान देने वाला हो, पर देते समय कुछ सुनाकर देता हो तो यह उसकी कडवास हो जाती है। अगरेजी मे कहा है—

'सामने वाले पुरुष मे भले ही कई अवगुण हो, पर वह हमें अरुचिप्रद नही लगेगा। लेकिन जब वह हमारे साथ उद्धत होकर बात करेगा तो वह हमें बुरा लगेगा।'

मनुष्य सदाचारी हो, पर बोलने मे उद्धत हो—असभ्य हो तो वह कैसा बुरा लगता है ? अत हमारे जीवन मे भले ही बडे-बडे सद्गुण हो, पर मामूली तौर पर भी असभ्यता होगी तो हम दूसरो को बुरे ही लगेगे। इसलिए सबसे पहले बडे होने के लिये बाहिरी दोषो को—असभ्यता को दूर करना चाहिये। बोलना कैसे चाहिये ? सुनना कैसे चाहिये ? आदि सीखना चाहिये। क्योकि प्रभुत्व पाने के लिए बाह्य और आन्तरिक शुद्धि का होना परमावश्यक है। एक अग्रेज ने कहा है—

'बाहिरी सभ्यता, सादगी और आन्तरिक शुद्धि होने पर मनुष्य स्वर्ग मे उड सकता है।'

बडा बनने के लिए हमे इस तरह दोनो तरह की सभ्यता प्राप्त करनी चाहिये। निर्दोष होने के लिये पहले क्षेत्र शुद्धि होनी चाहिये और फिर बीज बोना चाहिये। ऐसा करने पर ही उसमे बोया हुआ बीज सुरक्षित रह सकेगा और फल-फूल सकेगा। हमारे हृदय मे कूड-कपट रहित सरलता होनी चाहिये और इस तरह उसे शुद्ध कर फिर प्रभुत्व पैदा करने के लिये ज्ञान शक्ति, सहन शक्ति और चाहना शक्ति रूप उसके बीज

बोने चाहिये जिनसे कि परमात्मा पैदा किया जा सकता है।

मनुष्य जब तक अपनी जात को ही पहचानता है तब तक वह सबका प्रिय-पात्र नहीं बनता है। अंग्रेजी में कहा है—

'टनों बन्द उपदेश देने के बजाय एक तोला दूसरे की सहायता करना ज्यादा अच्छा है।

सेवा भले ही तोला भर हो पर वह ज्यादा कीमती है। अतः मानव को यदि सेवा करने मे कुछ सहन करना पड़े तो उसे सहे पर सेवा से विमुख न हो तो वह प्रभुत्व प्राप्त कर सकता है।

एक व्यक्ति जब अपने कुटुम्ब को छोड़ कर समाज को चाहने लगता है तो उसको बहुत कुछ अपना स्वार्थ-त्याग करना पड़ता है। देश का हित सोचते समय समाज का स्वार्थ छोड़ना पड़ता है और विश्व का हित चाहते समय उसे राष्ट्र का स्वार्थ भी छोड़ना पड़ता है।

जो मनुष्य केवल अपना ही स्वार्थ छोड़कर कुटुम्ब का स्वार्थ देखता है तो वह उससे कुछ ऊपर 'वनस्पति' जैसा बनता है। इससे ऊपर उठकर जो समाज का हित चाहता है वह पशु-पक्षी की कोटि मे आता है। आपने देखा होगा कि कौआ जब किसी चीजवार को देखता है तो वह कांव-कांव करता है और अपने दूसरे साथियों को भी बुला लेता है। यह सामाजिक कोटि है। इससे भी आगे बढ़कर जब हम राष्ट्रहित का विचार करते हैं तब हम मानव की कोटि में आते हैं।

पहली कोटि खनिज पदार्थ जैसी है दूसरी वनस्पति जैसी तीसरी पशु-पक्षी और चौथी मानव की है। इससे आगे जो विश्व का कल्याण चाहता है वह देव तुल्य बन जाता है।

जिसे हम अरिहन्त देव कहकर पुकारते हैं, वह यही देव-कोटि है। जो मनुष्य परमात्मा पैदा करना चाहे तो उसे इस प्रकार अपनी चाहना शक्ति को विकसित करनी चाहिये, उससे साथ-साथ सहन शक्ति का विकास तो सहज और स्वाभाविक वढाना ही पडता है। विश्वप्रेम के लिये मानव को कुछ कम नही सहन करना पडता है। भगवान् महावीर ने १२ वर्ष तक कठिन तप किया और अनार्य क्षेत्र मे विचर कर जगत कल्याण का मार्ग शोधा। उसको पाकर वे देश-विदेशो मे विचरे और दुनिया को कल्याण का मार्ग वताया। इस कार्य के लिये उन्हें किस हद तक अपनी सहनशक्ति विकसित करनी पडी होगी ? इसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

महात्माजी को भी कितना सहन करना पडा था। अफ्रिका में जव वे एक वार भाषण देकर अपने घर आ रहे थे, तो रास्ते में एक आदमी छुरा लेकर उनके पीछे-पीछे आया। गाधी जी के साथ एक स्त्री भी थी। उसने जव उस आदमी को देखा तो गाधीजी से कहा—यह कौन अपने पीछे-पीछे आ रहा है ? गाधीजी ने उस आदमी से पूछा तो उसने अपना छुरा दिखाते हुए कहा—'मैं तुम्हे मारने के लिये आया था, पर न जाने मेरा हाथ तुम्हारे ऊपर उठता क्यो नही है ?' इस प्रकार जव चाहना शक्ति खिलती है तो हम प्रभुत्व को पैदा कर सकते हैं।

प्रेम एक अजीव वस्तु है। सारी दुनिया इस पर न्यौछावर हो जाती है। पुराने जमाने मे भारत के वादशाह वहुत कम जीवन जीते थे और चीन के वादशाह दीर्घजीवी होते थे। एक वार हिन्द के वादशाह को यह विचार आया कि हम क्यो

कम जीते हैं ? चीन के बादशाह की तरह हम भी दीर्घजीवी क्यों नहीं होते ! इसका क्या कारण है ? एक दिन हिन्द के बादशाह ने चीन के बादशाह को पत्र लिखा कि हमारा जीवन तो बड़ा छोटा है पर तुम बड़े दीर्घ-जीवी होते हो इसका क्या कारण है ? बादशाह ने अपना यह पत्र मंत्री के साथ चीन के बादशाह के पास भेजा और कहा—तुम इस पत्र का जवाब लेकर आओ अगर बिना जवाब लिये ही आ गये तो तुम्हें प्राण दण्ड दिया जायगा ।

मंत्री पत्र लेकर चीन पहुँचा और उसने वहाँ दरबार में पहुँच कर बादशाह को वह सोने की पेटी दी जिसमें वह पत्र बन्द किया हुआ था । चीन के बादशाह ने उस पत्र को पढ़ा और हिन्द से आने वाले लोगों को बड़े मान-सम्मान के साथ अपने यहाँ उतारा । उनकी सब व्यवस्था की और सेवा में कुछ आदमी भी नियत कर दिये । पाँच सात रोज बाद मंत्री बादशाह के पास गया और बोला—महाराज ! अब मेरे पत्र का जवाब दीजिये ।

बादशाह ने कहा—भाई अभी तो तुम आये ही हो कुछ दिन ठहरो और यहाँ की संस्कृति को देखो कुछ दिन बाद तुम्हें उत्तर भी मिल ही जायगा ।

मंत्री कुछ दिन और ठहर कर फिर बादशाह से बोला—महाराज अब आप अपना उत्तर दीजिये बहुत दिन हो गये हैं और हमने यहाँ की संस्कृति का भी अध्ययन कर लिया है ।

बादशाह ने कहा—भाई जिस वट-वृक्ष के नीचे तुम सब ठहरे हुए हो वह जब जल कर खाक हो जायगा तब तुम्हें मैं अपना जवाब दूँगा ।

५०० वर्ष पुराना वट का पेड कब जले और कब हम अपने घर जाये ? मत्री को अब अपने घर जाने की कोई उम्मीद न रही । वह वट-वृक्ष के नीचे आया और अपने दूसरे ५०० साथियो से बोला—यह वट का वृक्ष कब जले और कब बादशाह अपना जवाब हमको दे ? अब तो कोई उम्मीद अपने घर जाने की नही रही है । फिर तो मत्री और उसके साथियो के दिमाग मे सोते जागते, उठते, बैठते, रोज यही विचार रहने लगा । वे जब भी एक दूसरे से मिलते तो यही कहते, कि यह वट वृक्ष कब जले और कब हम अपने घर जावे ? इस प्रकार रोज-रोज कहने से वह वट का पेड केवल दो महीनो मे ही जल कर खाक हो गया । मत्री को आश्चर्य हुआ, पर उन्हे खुशी भी हुई, कि अब हम अपने घर पहुँच जायँगे । मत्री बादशाह के पास गया और बोला—आपके कहने के मुताबिक वड का पेड जल कर खाक हो गया है अत अब आप मुझे अपना जवाब दीजिये ।

बादशाह ने कहा—भाई तुम्हारे पत्र का जवाब तो तुम्हे मिल गया है ? फिर मै क्या दूँ ? मत्री ने आश्चर्य से कहा—जबाब कैसे मिल गया ? अभी तक तो आपने कुछ कहा ही नही ।

बादशाह ने कहा—जैसे तुमने ५०० साल पुराने वट-वृक्ष को भी 'कब जले'—कब जले के नि श्वास डाल कर दो मास के भीतर ही जला दिया, वैसे ही तुम्हारे बादशाह भी प्रजा से प्रेम नही करते हैं इस लिये प्रजा उन्हे अशान्ति की नजरो से देखती है । मेरी प्रजा मुझे चाहती है—प्रेम की नजरो से देखती है अत जहाँ तुम्हारे बादशाह कम उमर मे ही मौत के

शिकार हो जाते हैं, यहाँ मेरे जैसे बादशाह दीर्घ-जीवी होते हैं और लम्बे समय की जिन्दगी आनन्द से बसर करते हैं।

मंत्री ने हिन्द में आकर अपने बादशाह को चीन के बादशाह का जवाब दिया और यह उत्तर हिन्द के बादशाह को भी जंच गया।

इस प्रकार सत्ता से कभी किसी पुरुष से ज्यादा काम नहीं लिया जा सकता है पर प्रेम पूर्वक एक नौकर से भी ज्यादा काम लिया जा सकता है। यह अनुभव सिद्ध बात है कि सास बहू पर सत्ता जमावे तो बहू सास से दूर-दूर जावेगी पर जब वह अपना सारा भार बहू पर छोड़ देगी तो बहू सास के पास-पास आवेगी। जो बात कहेगी तब भी चुपचाप सुन लेगी। अतः मनुष्य को चाहने की शक्ति बढ़ानी चाहिये। जब यह शक्ति बढ़ेगी तो हम सहन करना सीखेंगे भी और तभी हम धीरे-धीरे 'मित्ती मे सव्व भूएसु' के चरम सिद्धान्त का अनुसरण कर ईश्वरत्व प्राप्त कर सकेंगे और दुनिया में बड़े बड़े बन सकेंगे।

४३

कलामय जीवन

पैर में काटा और आँख मे कण जैसे हमको सहन नही होता अथवा पहने हुए कपडे मे या दाँत मे फाँस का होना जैसे असह्य होता है वैसे कला विहीन जीवन भी हमको असह्य होना चाहिये।

भर्तृहरिजी ने भी कहा कि—"कला-विहीन जीवन पशु तुल्य है।" लेकिन आप कहेगे, कि आज का जीवन कहाँ कला विहीन है ? आज तो बोलने में कला, चलने मे कला, पहनने मे कला और लिखने मे भी कला, सब कुछ कलामय ही दीखता है। यह सच है, पर जीने की कला तो इन सबसे सर्वथा भिन्न ही है। और जीने की कला जानने वाले का जीवन ही कलामय बना सकता है।

शिल्प कला, कृषि कला इत्यादि कलाएं कला कही जाती हैं, पर ये बाह्य कला हैं। आन्तरिक कला कुछ जुदी वस्तु है। परन्तु इतना तो अवश्य मानना ही पडेगा, कि निरुद्यमी होकर वैठे रहने की अपेक्षा बाह्यकलाओ का अभ्यासी होना अच्छा समझा जाता है, पर जीवन कला का जानने वाला उत्तम पुरुष कहा जाता है और वह पुरुष तो उत्तमोत्तम कहा जाता है जो जीवन कला को जानकर दूसरे को भी जीवन कला का ज्ञान

कपाता हो । निरुद्यमी मनुष्य कीटवत् है । बाह्य कलाओं का सीखने वाला पशु तुल्य है । जीने की कला जानने वाला ही खरा मानव है और यह जानकार दूसरे को सीखने वाला तो देव पुरुष है ।

पहली श्रेणी मे आने वाले सर्व साधारण मानव हैं । दूसरी श्रेणी में आने वाले वैज्ञानिक है । तृतीय श्रेणी में वे लोग हैं जिनका जीवन मधुर और गुलाबी हो कटुवास का जिन में लेश मात्र भी अंश न हो वे ही जीवन की कला को जानने वाले खरे मानव है । महावीर और बुद्ध ईसा और गांधी जिन्होने दुनिया को जीने की कला सिखाई है विश्व कलाकार है ।

एक धर्म वाक्य है कि—'सव्वा कला धम्म-कला जिणाइ' सर्व कलाओं पर धर्म कला ही विजयी होती है अन्य सब सामग्रियाँ हों पर जीवन जीने की कला नहीं आती हो तो जीवन नहीं के समान बन जायगा और दूसरी तरफ अल्प सामग्री होने पर भी अगर जीवन जीने की कला होगी तो वहाँ आकाश में से भी स्वर्ग उतर आयगा । हम यहाँ दो समाज की कल्पना करें—एक समाज ऐसा है जिसमें विमान रेल तार, मोटर बिजली आदि सब वैज्ञानिक साधन हैं परन्तु उस समाज के लोग एक दूसरे को मदद न करे दिन रात छल कपट लूट-खसोट मे मस्त रहते हैं । दिन रात ईर्षा द्वेष अहंकार आदि से जलते रहते हैं । दूसरी समाज ऐसी है जिसमें उपरोक्त वैज्ञानिक साधन नहीं हैं पर उसमें मनुष्य प्रेम से रहते हैं । ईर्षा द्वेष अहंकार आदि वहाँ खोजने पर भी नहीं मिले । सुख-दुःख में सब सहायक बनें संतुष्ट रहें तो यह

समाज उपरोक्त वैज्ञानिक समाज से हजार गुना अच्छा है। पहले समाज के पास मे सब सामग्री होने पर भी वह जीने की कला के अभाव मे दुखी है। दूसरा समाज जीने की कला का जानकार है अत अल्प सामग्री से भी स्वर्ग का सुख भोगता है।

कौमी एकता के लिये किये गये उपवास के समय शांति-निकेतन का एक छात्र गांधीजी की सेवा मे दिल्ली था। पारणा हो जाने पर एक दिन उस विद्यार्थी ने वापूजी से पूछा—वापू आप कला को नही मानते ? वापू ने हसकर जवाव दिया 'रामचन्द्रन ! मै जितना कला को मानता हू उतना भाग्य से ही कोई मानता होगा। लेकिन मेरी कला की व्याख्या कुछ जुदी है। मै सत्य मे ही सौन्दर्य देखता हू, और सत्य, अहिंसा की मन, वचन और कर्म में ताने-वाने की तरह बुन लेने मे ही मुझे कला का दर्शन होता है।'

जीवन को कलामय वनाने के लिये चारित्रशील वनने की जरूरत है। चारित्र जीवन का पाया है। बुद्धि हो, सम्पत्ति हो, पर यदि चारित्र नही हो तो लाखो रुपयो के फरनीचर से सजाये हुए सुनसान महल की तरह जीवन शुन्यवत् अनुभव होगा। चारित्र शून्य जीवन जीते भी मरणतुल्य है।

इतिहास में शालिवाहन राजा का नाम प्रसिद्ध है। इसके नाम से शक सम्वत भी चालू है। किम्वदन्ती है, कि शालि-वाहन राजा ने एक वार भरे दरवार मे प्रश्न पूछा कि—'कौन जीता है ?'

सव विचार मे पड गये कि-महाराज को क्या हो गया है ? सव चलते हैं, फिरते हैं, तव महाराज यह कैसे पूछते

हैं कि कौन जीता है ?

सारी सभा चुप थी। उसी समय कालिकाचार्य ने जवाब दिया कि महाराज ! जिसने तप किया है चारित्रशील है जो बीमारों की सेवा करता है दुखियों को सान्त्वना देता है गरीबों का आधार है अपने बलिदान से मानव समाज का श्रम करता है और जो मनुष्य में समता श्रद्धा पैदा करता है वही जीता है। जिसमें त्याग तप या परोपकार की वृत्ति नहीं है वह जीते हुए भी मरे हुए के समान हैं।

सारी सभा स्तब्ध हो गई। लेकिन यह सत्य सत्य है कि आज भी हमारे में से बड़ा भाग जीता हुआ भी मृतक हो है।

शालिवाहन ने कालिकाचार्य को कहा कि—महाराज ! इस पर अधिक प्रकाश डालेंगे ?

कालिकाचार्य ने कहा—महाराज ! मैं जंगल में था तब मैंने मेरे शिष्य को कहा कि निर्गुण और चारित्रहीन मानव पशुवत् है। यह सुनकर पशुओं ने फरियाद की कि हम मनुष्यों के बहुत काम में आते हैं। मरने के बाद भी हमारे अवयव मनुष्य के काम में आते हैं —मृग-चर्म योगी का आसन बनता है। हाथी के दाँत की अनेक वस्तुएँ बनती हैं। पशुओं का चमड़ा मनुष्य के पैरों का रक्षण करता है धूप तथा काँटे से बचाता है। पशुओं के अवयव और भी अनेक काम में आते हैं पर स्वार्थी मनुष्य तो किसी को उपयोगी नहीं है। मरने के बाद तो उसके शरीर को जलाने या गाड़ने के सिवाय दूसरा कोई चारा ही नहीं रहता है। ऐसे भारभूत मनुष्य की हमारी उपमा नहीं घटती है। मनुष्य को हमारी उपमा देने में हमारा अपमान है।

तब मैने मनुष्य को वृक्ष की उपमा दी। वृक्ष ने भी उसी तरह अपना दावा पेश किया। वृक्ष छाया, पुष्प, फल देता है, पक्षी को आश्रय देता है, रोगी के लिए औषधि देता है। तो फिर निर्गुणी मनुष्य को वृक्ष की उपमा कैसे दी जा सकती है?

गाय की उपमा देते समय गाय ने कहा—मै जगल की घास चर कर लोगो को दूध देती हू अपनी सतानो को आजीवन सेवा के लिये भेंट करती हू, पर मरते समय या जब मैं ऊब जाती हूँ यानी जब मेरे स्तनो से दूध वन्द हो जाता है तब मुझे कोई भर पेट चारा भी नही डालता है। मनुष्य तो बिल्कुल स्वार्थी है। उसको मेरी उपमा कैसे दी जा सकती है?'

कुत्ते की उपमा देते समय कुत्ते ने ऐतराज करते हुए कहा कि—'महाराज! मै नमक हलाल हू। घर की रक्षा करता हू। मनुष्य तो किसी के उपयोग मे आता ही नही है।

तब मैंने घास की उपमा देने को विचारा, पर इतने मे घास भी बोल उठी कि 'मै तो चारा बनती हूँ, जिसको खाकर गाय दूध बनाती है और मनुष्य उसे पीता है। मै मनुष्य जैसी स्वार्थी नही हूँ।

तब अन्त मे मैने निर्गुणी और चरित्रहीन मानव को राख की उपमा दी। राख ने भी ऐतराज करते हुए कहा—'मै बरतन साफ करती हू, अनाज मे मिल जाऊँ तो उसे सडने से बचाती हू। निर्गुणी मनुष्य तो कितने ही टटे फिसाद पैदा करते हैं। उनको मेरे साथ कर मुझे नीचा मत दिखाओ?'

अब शालिवाहन राजा को सबोधन कर कालिकाचार्य ने कहा कि—'महाराज! विचार करने पर मुझे ज्ञात हुआ, कि

चारित्रहीन मनुष्य किसी भी उपमा के लायक नहीं है। वह जीवित भी मरे हुए के समान है।

उपरोक्त कहानी में कल्पना होगी पर यह वस्तु तो सत्य है कि जो मनुष्य चारित्रहीन नहीं है। वह जीता हुआ भी भली-भाँति जीता नहीं है। मानो मृतक तुल्य है।

चारित्र ही मनुष्य का जीवन है। इसको नष्ट कर देने वाला मनुष्य अपनी हर एक वस्तु को खो बैठता है। इस भव की कहावत को नहीं भूलना चाहिये कि—

If wealth is lost nothing is lost.
If health is lost something is lost
If character is lost everything is lost

मनुष्य धन को देता है तो कुछ नहीं खोता क्योंकि वह वापिस पाया जा सकता है। यदि तन्दुरुस्ती को देता है तो कुछ खो बैठता है यह माना जा सकता है। लेकिन यदि मनुष्य ने चारित्र को दिया है तो उसने अपना सर्वस्व खो दिया है। दुनिया में सच्चा जीवन चारित्रशील व्यक्ति ही जीते हैं। भोगी स्वार्थी और विषय-लम्पटी मनुष्य का जीवन निरर्थक है। जीवन जीने के लिये अभी विचारने का समय है। अधिक देर नहीं हुई है। आज भी विचार करें कि सच्चा जीवन कैसे जी सकें?

चारित्र को बनाने के लिये शरीरबल मनोबल और बुद्धिबल की जरूरत रहती है। जिसका शरीर नीरोग सशक्त होगा वही चारित्र को अच्छी तरह अमल में ला सकेगा। जिसका शरीर निर्बल होता है उसके मन और विचार भी निर्बल होते हैं जिससे वह कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं कर सकता। निर्बलता एक बड़ा दोष है जो सब दोषों का जनक है।

विवेकानन्द ने तो निर्बलता को मरण ही कहा है। देखिये उनके सूत्र वाक्य—

Strength is life, and weekness is death.

हमारे शास्त्रों मे भी शरीर के छह प्रकार के सहनन बताये है। लेकिन मोक्ष का अधिकारी तो वज्रऋषभनाराच सहननवाला यानी वज्र जैसे मजबूत शरीरवाला ही बन सकता है। इस पर से सिद्ध होता है, कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए भी शरीर बल की अत्यधिक आवश्यकता है। शरीर बल अच्छा होगा तो मनोबल दृढ होगा, और उससे बुद्धि का विकास होगा और आत्मबल भी बढेगा।

शरीरबल के उपरात मनोबल और बुद्धिबल की भी आवश्यकता रहती है। शरीर पूर्ण नीरोगी और सशक्त हो, पर मनोबल यानी नैतिक हिम्मत और श्रद्धा नही हो तो अहिसा और सत्य के ताने-बाने मे बुना हुआ चारित्र्य नही प्राप्त किया जा सकता है।

किसी भी कार्य की सिद्धि के लिये श्रद्धा की अति आवश्यकता है। वैज्ञानिको द्वारा की गई इतनी खोज देखिये, जो इनके मन मे श्रद्धा का अभाव होता तो इतनी खोज कभी नही हो सकती थी। परन्तु आज तो श्रद्धा के बदले तर्क को प्रथम स्थान मिला हुआ दिखाई दे रहा है, पर खरी बात यह है, कि श्रद्धा को रानी का पद और तर्क को सेविका का स्थान देना चाहिये। तर्क कुतर्क का रूप नही ले, यानी सत्य पर कायम श्रद्धा को नाश करने का काम नही करे। इस बाबत जागृत रहे कि तर्क का उपयोग सत्य श्रद्धा को दृढ करने मे होना चाहिए। जो सिद्धि श्रद्धा से प्राप्त की जा सकती है

वह तर्क से कभी प्राप्त नहीं की जा सकती।

एक कार्य ऐसा है कि जो हथौड़ा द्वारा ही किया जा सकता है। कोई भी शक्तिशाली मनुष्य हथौड़ा का काम हाथ से नहीं कर सकता। करता है तो उसके हाथ को चोट पहुँचनी ही। इसी तरह श्रद्धा का काम तर्क से लेने पर परिणाम में हानि होगी ही। चैतन्य तक जड़ वस्तु नहीं पहुँच सकती है। तर्क जड़ है। वहाँ इसका काम नहीं है। वहाँ तो श्रद्धा ही काम कर सकती है। आज के इस तर्क प्रधान युग में श्रद्धा को जागृत करने की आवश्यकता है।

आज की हमारी शिक्षा पश्चिम से आई है जिसमें प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय के ही संस्कार उतरे हुए हैं। प्रोटेस्टेन्ट विचार द्वारा तर्क प्रधान होने से हमारा शिक्षित वर्ग भी तर्क प्रधान हो गया है। तर्क के पीछे श्रद्धा नहीं होती है इससे उनके जीवन में स्थिरता भी नजर नहीं आ रही है।

शरीरबल और मनोबल के साथ-साथ बुद्धिबल यानी सारासार विवेक शक्ति का सुमेल होना चाहिये। विवेक के बिना शरीबल साधक के बदले बाधक हो जाता है। विवेक के बिना श्रद्धा अन्ध—श्रद्धा हो जाती है।

शरीरबल मनोबल और बुद्धिबल इन तीनों साधनों द्वारा चारित्र को जीवन में स्थान देने से खरा जीवन जीया जा सकता है।

जिसके शरीर में बल मन में धैर्य मस्तक में शान्ति आत्मा में तेज और हृदय में भगवान है उसका जीवन कलामय जीवन कहा जा सकता है। हमको भी ऐसा जीवन जीकर सच्चे अर्थों में अपने जीवन को सार्थक करना चाहिये।

४४

प्रेम और प्रतिभा

समस्त ससार पर प्रतिभाशाली व्यक्तियो का ही साम्राज्य होता है। लेकिन इससे यह नही समझ लेना चाहिये कि जिनका साम्राज्य होता है वे प्रतिभाशाली हैं। कोई सत्ताधीश या सेनापति हो जाने से ही प्रतिभाशाली नही है। वे तो केवल मानव शरीर पर ही अपनी सत्ता का बल प्रयोग कर सकते है। उनसे मनुष्य डरते हैं। इससे वे प्रतिभाशाली नही, लेकिन भयकर हैं। सच्चे प्रतिभाशाली व्यक्तियो से कोई भयभीत नही होता है और वे ही प्रजा के हृदयो पर अपना साम्राज्य जमाते हैं। दुनिया महावीर और कृष्ण की जय बोलती है, गाधी और जवाहर की जय बोलती है, लेकिन क्या कभी किसी शहनशाह-राजा-महाराजा की जय बोलते हुए भी सुना है? इससे स्पष्ट है, कि प्रजा के हृदयासन पर कौन विराजमान होता है—सत्ताशाली या प्रतिभाशाली?

पशुबल से दुनिया को वश मे करने वाले अधिक है लेकिन प्रेम से प्रजा के हृदय को जीतने वाले ही सच्चे प्रतिभाशाली है।

प्रतिभा यानी आत्म-ज्योति, अन्तर ज्योति, ज्ञान का तेज-दिव्य प्रकाश यानी अपने मे समाई हुई आत्म-ज्योति। ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्तियो के सम्मुख सत्ताधीश मानवो का मस्तक

ही नहीं हृदय भी झुक जाता है। श्रेणिक जैसा महान् राजा भी अनाथी मुनि के सम्मुख झुक गया। मुनि के पास में क्या था? पहनने को पूरे वस्त्र न थे खाने को एक समय की खुराक भी नहीं थी। तो फिर श्रेणिक किसको नमता है? मुनि की प्रतिभा को जीवन की ज्वलंत ज्योति को जो कि मुनि के मानस पर जगमगा रही थी। महावीर तथा बुद्ध जैसे धर्म धुरन्धारी पुरुषों की प्रतिभा को ही दुनिया नमस्कार करती आ रही है और युग-युग तक करती भी रहेगी।

प्रतिभाशाली आत्मज्योति जो प्रेम के अंकुर से पैदा होती है और जिसमें से शान्ति का अखंड प्रकाश झरता रहता है। मानव इस प्रकाश में अपनी शान्ति अनुभव करता है और इस शान्ति के देने वाले को तथा हृदय जीतने वाले को वह प्रतिभाशाली पुरुष कहता है। इस प्रतिभा से व्यक्ति लोकहृदय के विशाल साम्राज्य पर अपने प्रेम का शासन चलाता है।

प्रतिभा को पैदा करने वाला प्रेम सब दुखों की रामबाण औषधि है। प्रेम से गरीबों को संतोष निर्बल को बल कायर को धैर्य निरुत्साही को उत्साह प्रदान किया जा सकता है। प्रेम से पर को अपना बनाया जा सकता है बिगड़े को सुधारा जा सकता है टूटे को जोड़ा जा सकता है और चोर लुटेरे, पापी खूनियों का हृदय परिवर्तन किया जा सकता है। प्रेम से क्या नहीं हो सकता? कट्टर दुश्मन भी दिलोजान दोस्त बनाया जा सकता है।

महावीर ने भयंकर चंडकौशिक को अपना अनुयायी बनाया। बुद्ध ने क्रूरे अंगुलीमाल को साधु बनाया। महात्मा जी का जीवन अपने सामने ही बीता है। उन्होंने कई विरोधी

अपने मित्र वनाये जो कि हम सव जानते ही है। यह प्रेम का ही जादू है।

प्रेम की साधना अटूट श्रद्धा चाहती है। श्रद्धा विना उसके मार्ग पर गमन करना अशक्य है। आज सेविंग्स वेंक मे रुपये रख आया हू, कल मिलेगे या नही ? ऐसी शका कोई करता नही हैं। उसी प्रकार निर्विकार होकर मैं प्रेम से व्यवहार करता हूँ, इसका असर समाज के ऊपर होगा कि नही ? इस विचार से सशकित रहने की जरूरत नही है। रास्ते पर लगे हुए डाक के डिब्बे में कागज डालते समय अपने मन मे विश्वास होता है, कि अमुक समय बाद अमुक पते पर कागज अवश्य पहुँच जायगा। इसके विश्वास के लिए डाक महकमे की सारी व्यवस्था और उसमे काम करने वालो की नामावली जानने की ज़रूरत जैसे नही होती उसो तरह प्रेम के प्रभाव के बारे में भी हमको विश्वास रखना ही चाहिये।

प्रेम से ही वैर को जीता जाता है। अवैरभाव से ही वैर-भाव का अन्त आता है। वैर से वैर का शमन कभी नही होता, यह सनातन सिद्धान्त अपने पूर्वज कभी से कह गये हैं।

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि—

नहि वेरेण वेराणि सम्मतीध कदाचन
अवेरेण च सम्मति, एस धम्मो सनतनो।

भगवान् महावीर ने भी शत्रुता का एक मात्र अस्त्र मैत्री ही वताया है और महात्मा गांधी भी क्या अपने जीवन और उपदेश से यह नही वता गये हैं ?

कलकत्ता के उपवासो के परिणाम स्वरूप गुण्डो ने गांधी जी के चरणो में अपने हथियार रख दिये दुनिया की

सबसे बड़ी सत्तासत भी जो नही कर सकती वह उन्होंने कर दिखाया। कोई भी सत्ता पुरुषों को मार सकती है पर उनका मन पवित्र बना कर हथियार छुड़वा देने का कार्य किसी प्रचंड सत्ता से भी नही हो सकता। गांधीजी ने यह कार्य किस शक्ति से किया कहने की जरूरत नही रहती।

महात्मा ईसु ने अपने गिरि प्रवचन में उपदेश दिया है कि अपने शत्रु से प्रेम करो शाप देने वाले को आशीर्वाद दो पापियों की तरफ तिरस्कार की दृष्टि से नहीं पर करुणा की नजर से देखो। बुरे का बुरा नही भला चाहो।

ता २९-१-४८ यानी गांधीजी के अवसान के एक दिन पूर्व एक अंग्रेज महिला ने महात्माजी से पूछा कि—"अमेरिका को क्या आप ऐटम बम नहीं बनाने की सलाह देते हैं? गांधी जी ने कहा—बेशक आज की स्थिति ऐसी है कि युद्ध का अन्त बड़ी आपत्ति में आ गया है। युद्ध मे विजयी होने वाले पक्ष भी ईर्षा और सत्ता की लोभ भावना के आगे हारे बैठे हैं। तृतीय महायुद्ध के लिये लोगों का मानस तैयार करने का काम शुरु हो गया है और यह युद्ध पिछले युद्धों से अधिक भयंकर सिद्ध हो ऐसी पूरी समावना है।

"अहिंसा ऐटमबम से भी अधिक शक्तिशाली अस्त्र है। अरे, कुछ हीरोशीमा जिस पर कि अमेरिका ने ऐटमबम का प्रयोग किया उस शहर के लोगों ने अगर अपने दिल मे ईश्वर की प्रार्थना को स्थान दिया होता और अपने पर जुल्म करने वाले के प्रति शुभेच्छा की भावना रख कर हजारों की संख्या में भी मृत्यु के मुख में चले गये होते तो मानो ऐसा चमत्कार हो गया होता कि जिससे सारी विषम परिस्थिति का ही रुख

रूपान्तर हो जाता ।'

महात्मा जी के उपरोक्त लेखन की तरह अन्य कई लेखनो और उपदेशो से यह स्पष्ट दिखाई देता है, कि निर्वैर बनकर प्रेम और शुभेच्छा से शत्रु को भी मित्र बनाया जा सकता है। और ऐसा उन्होने करके भी बता दिया है। अफ्रिका की जेल मे से जनरल स्मट्स को अपने हाथो से बनाई हुई एक चप्पल भेट भेजी और प्रेम की इस छोटी सी कृति से, जिसमे सम्मुख गाधीजी लडते रहे थे और जो जनरल स्मट्स महात्मा जी को अपना विरोधी समझता था, वही विरोधी अपना विरोध छुडाकर पुजारी बन गया। महात्मा जी की ७० वी वर्षगाँठ के समय मार्शल स्मट्स ने इस प्रसगानुकूल जो लिखा है, वह हर्षोद्रेक के आँसू लाता है और अन्तरमल को धोकर पुनीत कर देता है।

गाधी जी के अवसान के बाद जनरल स्मट्स उनके प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए कहता है—'गाधी जी की हत्या से मुझे गहरा शोक हुआ है। गाधी जी मेरे जमाने के महापुरुष थे और इनके साथ मेरे ३० वर्ष के परिचय ने, हमारे बीच मतभेद होते हुए भी, उनके प्रति मेरी सन्मानवृत्ति ऊँची से ऊँची ही बनाई थी। मानवो के बीच मे से यह मानव श्रेष्ठ चला गया है।' यह अजलि स्पष्ट रूपेण बताती है कि विरोधी शक्ति भी प्रेम से कैसे वशीभूत हो जाती है।

प्रेम शब्द मन को बडा प्रिय लगता है। अगर अहिंसा और प्रेम का एक ही अर्थ होता हो तो यह प्रेम शब्द मन को अत्यधिक रुचिकर हो जाता है। अहिंसा से भारी प्रतीत होती

का प्रेम समझने में हम प्रायः भूल कर जाते हैं। ममता या आकर्षण को कई बार हम प्रेम मानकर भूल कर देते हैं। विशुद्ध प्रेम स्वारस्य में निहित है जो कि समझ-बूझकर किया गया हो। कुछ लोगों की यह मान्यता है कि प्रेम का आदुर्भाव विवेक बुद्धि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है लेकिन यह उनकी भ्रान्त धारणा है। विवेक-बुद्धि मिश्रित स्वारस्य में ही सच्चा प्रेम समाविष्ट रहता है।

प्रेम की पहचान हम तीन तरह से कर सकते हैं—भक्ति मैत्री और करुणा से। महापुरुषों और महिमावि सिद्धान्तों के प्रति प्रेम भक्ति के नाम से जाना जाता है। समान व्यक्तियों का प्रेम मैत्री कहा जाता है और पीड़ित तथा दलित व्यक्तियों के प्रति प्रेम करुणा के नाम से वर्णित किया जाता है। पर इन तीनों रूपों में प्रेम का ही प्रवाह झरता रहता है। इस प्रकार इस त्रिविध प्रेम की साधना से ही मनुष्य प्रतिभाशाली बन सकता है।

प्रेम के ये तीनों रूप अविभाज्य हैं। जिसमें मैत्री और करुणा न हो और यदि वह ईश्वर-भक्त होने का दावा करे तो समझ लेना चाहिये कि उसमें भक्ति नहीं पर भक्ति का आभास मात्र है। जो निर्भर होकर अपने भाइयों को नहीं चाह सकता हो वह ईश्वर को कैसे चाह सकता है? जिसको पीड़ितों के प्रति अनुकम्पा या करुणा नहीं उसके हृदय में ईश्वर-भक्ति किस भाँति प्रकट हो सकती? मानव प्रेम द्वारा ही प्रभु प्रेम प्रकट होता है और मानव-सेवा द्वारा ही प्रभु की सच्ची भक्ति हो सकती है।

श्रीमद्भागवत में कहा है कि—

"अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थित सदा ।
तमवज्ञाय मा मर्त्या कुरुतेर्चा विडम्बनम् ।"

मैं प्राणी मात्र मे उनकी आत्मा-रूप मे सदा रहता हूं। उसकी अवज्ञा करके मानव यदि प्रभु-पूजा करता है तो वह पूजा नही पूजा की विडम्बना मात्र है।' मनुष्य भूख से मरता है, गाय आदि पशुओ का घात होता है, ऐसी स्थिति में भगवान् की मूर्ति का दर्शन करने मे और उनके आगे भोग धरने में तथा अन्नकूट खडकने मे केवल भगवान् की हँसी-मजाक ही है।

भगवान् बुद्ध के जीवन का एक प्रसग है। एक समय भगवान् बुद्ध और भिक्षु आनन्द ने रोग से पीडित और मल-मूत्र से भरे हुए एक भिक्षु को देखा। उसकी सेवा-शुश्रूषा में अन्य कोई भिक्षुक नही था। भगवान् बुद्ध और आनन्द भिक्षु ने उसे स्वच्छ किया और स्वच्छ बिछौने पर दोनो ने उसे उठाकर सुलाया। इस प्रसग को अनुलक्षित कर भगवान् बुद्धने भिक्षुओ से कहा—'उस विहार में पडे हुए भिक्षु की कोई सेवा क्यो नही करता है? जिसको मेरी सेवा करनी हो वे रोगी तथा पीडितो की सेवा करें।' कहने का मतलब यह है कि करुणा के बिना सच्ची भक्ति सभव ही नही है।

इस प्रकार महान् सिद्धान्तो के प्रति आदर, शत्रुओ के प्रति मैत्री, पापी और पीडितो दलितो और दुराचारिओ के प्रति करुणा, यह त्रिविध प्रेम ही प्रतिभा को पैदा करता है।

प्रकाश के आते ही जैसे अन्धकार अदृश्य हो जाता है, वैसे हृदय-मदिर में प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही हिंसा, द्वेष और वैर का तिमिर नष्ट हो जाता है। कबीर जी ने एक

स्थान पर कहा है कि मानव हृदय पर भूलों तथा दोषों के ताले लगे हुए हैं जिनको खोलने की चाबी प्रेम है। प्रेम की चाबी से जैसे ही ताले खुले कि वैसे ही अनन्त शक्ति का खजाना बाहिर आ जाता है।

ऐसे प्रेम का मूल त्याग और समर्पण में है। दूसरों के लिये सर्वस्व की कुर्बानी कर देना ही इसका मूल है। ऐसे प्रेम को अपनाने से वह प्रतिमा प्राप्त की जा सकती है जो प्रजा के हृदय पर साम्राज्य करती है। हम भी ऐसे प्रेम को अपनाने में प्रयत्नशील बनें इसमें ही अपने जीवन की सफलता है।

४५

हार या जीत

जीत एक ऐसा प्रिय शब्द है जो दुनिया मे सबको प्रिय है। ससार की सभी डिक्सनरियो और शब्द-कोषो मे से मनुष्य को यदि अपने प्रिय शब्द की पसदगी के लिये कहा जाय तो वह शब्द 'जीत' है। राजा या प्रजा, त्यागी या भोगी चाहे जो हो सभी मनुष्य अपने जीवन को विजयी बनाना चाहते हैं। कोई भी मनुष्य ऐसा नही होगा जो स्वेच्छा से हार को कबूल करे। मनुष्यो के व्यवहार सदा अपनी जीत को लक्ष्य में रखकर ही होते हैं।

सारी दुनिया में लगभग २ अरब मनुष्य कहे जाते हैं। उन सब मनुष्यो मे जीत विषयक गैर समझ पैदा हुई दिखाई देती है। शासक समझता है कि अधिकाधिक देशो पर अधिकार करने मे मेरी जीत है। व्यापारी समझता है, कि दुनिया की सारी दौलत मेरी तिजोरी मे आ जाय तभी मेरी फतह है। शत्रु समझता है, कि सम्पूर्ण शत्रुओ का सहार कर विजय का सेहरा मेरे सिर पर बधे तभी मेरी जीत है। इस तरह की मिथ्या-भ्रान्ति आज सारी दुनिया मे फैली हुई हैं। कोई लाखो मनुष्यो का खून कर विजय प्राप्त करे तो क्या यह उसकी जीत मानी जा सकती है ? कोई हजारो गरीबो का

शोषण कर अपनी तिजोरियाँ भरने तो क्या वह उनकी फतह कही जा सकती है ?

हम जय और पराजय किसे कहें ? इसको समझने के लिए एक धर्मामिटर है और वह यह हो सकता है कि 'जिसने नीति पूर्वक व्यवहार चलाकर विकास किया हो प्रलोभन तथा लालच से जो ठगाया नहीं गया हो जो हिंसा तथा भय के घेरे में न फँसा हो जिसका यह दृष्टि-बिन्दु हो वही विजयी है उसी की जीत सच्ची जीत है । बाकी हिंसा से मिली हुई सत्ता और शोषण से प्राप्त हुआ बल न तो जीत ही है और न है फतेहमंदी वह तो निःसन्देह हार ही है ।

हमारे जीवन में शाक-भाजी या दातुन खरीदने जैसे साधारण कार्य से लगाकर बड़े-बड़े युद्ध तक के महान् प्रसंगों तक हमको यह वस्तु समझनी की है कि हार क्या है और जीत क्या है ? दातुन बेचने वाले से चार पैसे का दातुन तीन पैसे में खरीद कर मनुष्य खुश होता है और ऐसा कर उसने कुछ बचाया है—अनुभव करता है । लेकिन विशुद्ध-प्रज्ञा तो कहेगा कि उसने बचाया कुछ नहीं खोया बहुत है । एक पैसे को बचा-कर उसने अपनी मनुष्य मानवता खो दी है । इसमें वह जीता नहीं किन्तु हार की चपट से परास्त ही हुआ है । शाक-भाजी के उपरान्त क्या हरा धनिया और हरी-मिर्च को मुफ्त में माँगने वाला विजयी कहा जायगा या देने वाला ? एक पैसा बचाने वाला विजयी कहा जायगा या एक पैसा कम करने वाला ? यही बात हर एक प्रसंग पर विचार करने योग्य है ।

बाह्य दृष्टि से जय और पराजय चाहे जैसे मान्य हों पर अन्तर दृष्टि से तो जिसने हर हालत में भी मानवता का खून

नही किया है—त्याग नही किया है वही विजयी है । बडे-बडे सग्रामो मे लाखो का खून कर सत्ता प्राप्त करने वाला विजयी नही परन्तु जो कसौटी के प्रसग पर भी मानवता का बिन्दुकरण ढलने न दे, वही सच्चा विजेता है । फ़ल को अपने कठोर हाथो से मसलने वाला मनुष्य विजेता है, कि मसलाते-मसलाते भी वातावरण को सुरभित करने वाला फ़ूल विजयी है ? इसी तरह जिस पर जुल्म होते हैं वे सचमुच हारे हुए नही हैं पर जुल्म करने वाले ही हमेशा के लिये हारे हुए हैं । जो ठगा जाता है वह पराजित नही पर जो ठगते है वे ही पराजित हैं । शोषित नही पर शोषरण करने वालो की ही महान् हार है । जय या पराजय, हार या जीत यह कोई बाह्य वस्तु नही पर अन्दर की ही चीज़ है ।

मानव-हृदय मे सत और असतवृत्ति का युद्ध अनादि काल से चला आ रहा है । जैन परिभाषा मे इसको स्वभाव और विभाव का युद्ध कहा जा सकता है । गीता मे इसे दैवी-सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति के नाम से गाया है । इस अन्दरूनी युद्ध के ऊपर ही खरी हार-जीत की बाजी रही हुई है ।

मानव-हृदय में चलने वाले इन सत् और असत् के झगडो के कई रूपात्मक वर्णन आते हैं । देव और दानव, प्रभु और शैतान, राम और रावरण, कृष्ण और कस, महावीर और गोशाला, महात्माजी और जिन्ना इस तरह बाह्य की तरह अन्दर भी सत् असत् के झगडे चला करते हैं ।

बाह्य दृष्टि से लाखो मनुष्यो का खून बहाने वाला विजयी सुभट गिना जाता है जबकि अन्तर दृष्टि से लाखो मनुष्यो के

रीत दिशा की ओर चल रहा है। क्रोध को क्रोध से शमन करना और आग को ईंधन से आग से बुझाना क्रोध और आग को द्विगुणित करना नहीं तो और क्या है ? लेकिन आज ऐसा खोटा व्यवहार हो रहा है।

महात्मा गांधीजी ने तो उपरोक्त संस्कृत वाक्य ही पलट कर—'शठं प्रति सत्यं समाचरेत्' दुष्ट के साथ भी सज्जनता दिखाओ वह सज्जन बनेगा बेईमान के सामने सरल रहो वह सरल बनेगा—कहा है।

हार और जीत के शब्दों पर ध्यान देते हुए हमारा ध्यान एक तीसरे शब्द पर केन्द्रित हो जाता है और वह शब्द है युद्ध' क्योंकि युद्ध के बिना हार या जीत संभव ही नहीं है।

युद्ध दो तरह के हैं—एक आसुरी युद्ध जिसमें पाशविक बल रहा हुआ है जिसकी जीत भी हार ही है। दूसरा है दैवी जिसमें अपनी रक्षा के साथ ही साथ दूसरे का भी संरक्षण है। इनके सिवाय बाह्य और आंतरिक लौकिक और लोकोत्तर युद्ध भी है।

मानव का जीवन एक संग्राम ही है। तीर्थंकरों ने भी कर्मों के साथ भड़ कर विजय प्राप्त की है। वह आन्तरिक युद्ध है। क्रोध के सामने क्रोध करना वह आसुरी युद्ध है और क्रोध का क्षमा से मुकाबला करना दैवी युद्ध है। 'सेर पर सवा सेर' का सच्चा मतलब नहीं है कि क्रोध करते हुए व्यक्ति पर भी हम सवाया प्रेम प्रवाहित करें। यानी वह एक रतल क्रोध करे तो हम उस पर सवा रतल प्रेम की वृद्धि करें; तभी उसका क्रोध शान्त किया जा सकता है। दैनिक जीवन की कई आवश्यक बात हम भूल जाते हैं जो निश्चय ही

लज्जास्पद समझनी चाहिये।

आज की दुनिया मे मनुष्य अपने स्वार्थ की खातिर दूसरे का सर्वस्व हडपने मे भी सकोच नही करता है। हम कायर हैं, पराजित हैं, गुलाम हैं और आत्मिकता से भी गुलाम है। हमारे ऊपर आज वासनाएँ राज्य कर रही है। वासना-वृत्ति पर विजय कर उसके फदे मे से अलग हो तभी सच्ची आजादी प्राप्त की—कहा जा सकता है।

स्वामी राम जब अमेरिका मे थे तब सब को इनकी सत्य-वाणी बडी प्रिय लगी। अमेरिका के प्रेसिडेन्ट ने उन्हे एक चिट्ठी लिखी और 'जो चाहिये सो देने को कहा।' राम स्वय विजेता थे। उसको वासनाओ की गुलामी प्रिय नही थी और न थी इच्छाओ की पराधीनता। वे स्वतत्र और आज़ाद थे। उन्होने पत्र का जवाब देते हुए अमेरिका के प्रेसिडेन्ट को लिखा—

'राम शहेनशाह का भी शहेनशाह है।'

वस्तुत वह शहेनशाह का भी शहेनशाह है जिसने अपनी वृत्तियों पर काबू पा लिया है, जिसने अपनी इन्द्रियो के घोडो को वश में कर रखा है और जिस पर इच्छाओ का नही, पर जो इच्छाओ पर अपना राज्य करता है।

आपको भी अपना विजयी जीवन जीना हो, कायरता अपेक्षित न हो तो कमर कसो और आगे बढो। अपने ऊपर शासन करने वाली विषय-वासना को वश मे करो—उसकी पराधीनता दूर करो। त्याग, सतोष, क्षमा, योग, बलिदान इनको साथी बनाओ तो तुम्हारा जीवन सुखी होगा—स्वतत्र और विजयी होगा।

आप तभी मुक्त पछी की तरह मुक्ति-पथ मे विचरते दिखाई देंगे।

कल्याण के लिये अपनी आहुति देने वाला वीर शहीद ही विजेता कहा जा सकता है। मारने वाला नहीं पर परम लाभ के लिये मरने वाला ही विजेता है।

ईसुखिस्त का जीवन विजयी जीवन कहा जा सकता है। भगवान् महावीर और बुद्ध का जीवन विजयी जीवन कहा जा सकता है। वे जीये परन्तु दूसरों की सेवा के खातिर कल्याण के महान् पथ पर गये और दुनिया को भी उसके लिये रास्ता बता गये।

सत्य न्याय नीति परोपकार, सेवा आदि भावनाओं में जीत समाई हुई है न कि असत्य अन्याय अनीति और शोषण में।

एक समय हिटलर ने लाखों का संहार कर युरोप की भूमि को रक्तरंजित बना दी थी। उस समय लोगों ने उसे विजेता के रूप में देखा पर आज उसका क्या मूल्य है? आज उसे मनुष्य धिक्कारने लगे हैं। लाखों का प्राण लेने वाला विजयी नहीं पर लाखों के लिये बलिदान होने वाला विजयी है यह सत्य आज महात्मा गांधी जी और हिटलर के बीच हमारे से छुपा हुआ नहीं है। (बाबू गगु की बात आपने सुनी होगी? जिसने अपने देश के सिद्धान्तों का पोषण करने के लिये अपना बलिदान दिया—वही राजा विजयी कहा जा सकता है)।

एक अंग्रेज सत्पुरुष ने कहा है कि 'जिन-जिन प्रवृत्तियों से ईश्वर खुश होता है वह जीत है और बाकी की हार का रूप। एक मनुष्य युद्ध में लाखों का खून बहाता है और दूसरा मनुष्य रोते दुखों के आसू पोंछता है तो इसमें पहला पराजित

है और दूसरा विजयी । हमे भी अपना जीवन विजयी बनाना है न कि पराजित ।

अनाज की कमी के समय लोग सग्रह करने लगते हैं। कपडा नही हो तब श्रीमत अपनी पेटियो पर पेटियाँ भरना शुरू करते हैं । इसमे गरीबो का शोषण नही तो और क्या है ? शोषक वर्ग कभी निर्भय नही रहता । उसका दिल अन्दर ही अन्दर कापा करता है कि कही मेरा सग्रह किया हुआ माल पकडा न जाय । यह भय उसके दिल मे होगा ही और यही भय उसके हार की निशानी है । दूसरो के लिये कुर्बानी करने वाला सच्चा विजयी है । कुछ अर्से पहले बिहार मे जब भूकम्प हुआ था अपने कई भाई जापान मे भी थे । उन्होने बिहार के लिये एक फड करने का विचार किया । जिसमे एक करोडपती ने ३, ४ हज़ार रुपये लिखाये और एक गरीब ने अपनी शक्ति से बाहिर की बात होते हुए भी अपनी सारी सम्पत्ति जो कि १२५०) रु० की थी, लिखा दी । पहले की अपेक्षा दूसरे की रकम तो थोडी है पर फिर भी जीत तो इसी की है न कि करोडपती की ।

आज का हमारा जीवन और जीवन-व्यवहार इतने असत्य और अप्रिय विचारो से भर गया है कि आंखो के होते हुए भी हमें यह नग्न सत्य दिखाई नही देता है।

हिन्दी मे कहावत है कि—'जैसे को तैसा'
अग्रेजी मे कहावत है कि—Tit for tat
सस्कृत मे कहा है कि—'शठ प्रति शाठ्यम्'
गुजराती मे भी है कि—सेर ऊपर सवासेर'
इस प्रकार की गिनती वाला आज का मानव समाज विप-

रीत दिशा की ओर चल रहा है। क्रोध को क्रोध से शमन करना और आग को ईंधन से आग से बुझाना क्रोध और आग को द्विगुणित करना नहीं तो और क्या है? लेकिन आज ऐसा खोटा व्यवहार हो रहा है।

महात्मा गांधीजी ने तो उपरोक्त सस्कृत वाक्य ही पलट कर—शठं प्रति सत्यं समाचरेत् दुष्ट के साथ भी सज्जनता दिखाओ वह सज्जन बनेगा बेईमान के सामने सरल रहो वह सरल बनेगा—कहा है।

हार और जीत के शब्दों पर ध्यान देते हुए हमारा ध्यान एक तीसरे शब्द पर केन्द्रित हो जाता है और वह शब्द है 'युद्ध' क्योंकि युद्ध के बिना हार या जीत संभव ही नहीं है।

युद्ध दो तरह के हैं—एक आसुरी युद्ध जिसमें पाशविक बल रहा हुआ है जिसकी जीत भी हार ही है। दूसरा है दैवी जिसमें अपनी रक्षा के साथ ही साथ दूसरे का भी संरक्षण है। इसके सिवाय बाह्य और आंतरिक लौकिक और लोकोत्तर युद्ध भी है।

मानव का जीवन एक संग्राम ही है। तीर्थंकरों ने भी कर्मों के साथ लड़ कर विजय प्राप्त की है। यह आन्तरिक युद्ध है। क्रोध के सामने क्रोध करना यह आसुरी युद्ध है और क्रोध का क्षमा से मुकाबला करना दैवी युद्ध है। 'सेर पर सवा सेर' का सच्चा मतलब यही है कि क्रोध करते हुए व्यक्ति पर भी हम सवाया प्रेम प्रदर्शित करें। यानी वह एक रतल क्रोध करे तो हम उस पर सवा रतल प्रेम की वृष्टि करें; तभी उसका क्रोध शान्त किया जा सकता है। दैनिक जीवन की यह आवश्यक बात हम भूल जाते हैं जो निश्चय ही

रीत दिशा की ओर चल रहा है। क्रोध को क्रोध से शमन करना और आग को ईंधन से आग से बुझाना क्रोध और आग को त्रिगुणित करना नहीं तो और क्या है ? लेकिन आज ऐसा खोटा व्यवहार हो रहा है।

महात्मा गांधीजी ने तो उपरोक्त संस्कृत वाक्य ही पलट कर—'शठं प्रति सत्यं समाचरेत्' दुष्ट के साथ भी सज्जनता दिखाओ वह सज्जन बनेगा बेईमान के सामने सरल रहो वह सरल बनेगा—कहा है।

हार और जीत के शब्दों पर ध्यान देते हुए हमारा ध्यान एक तीसरे शब्द पर केन्द्रित हो जाता है और वह शब्द है युद्ध' क्योंकि युद्ध के बिना हार या जीत संभव ही नहीं है।

युद्ध दो तरह के हैं—एक आसुरी युद्ध जिसमें पाशविक बल रहा हुआ है जिसकी जीत भी हार ही है। दूसरा है दैवी जिसमे अपनी रक्षा के साथ ही साथ दूसरे का भी संरक्षण है। इनके सिवाय बाह्य और आंतरिक लौकिक और लोकोत्तर युद्ध भी है।

मानव का जीवन एक संग्राम ही है। तीर्थंकरों ने भी कर्मों के साथ लड़ कर विजय प्राप्त की है। यह आन्तरिक युद्ध है। क्रोध के सामने क्रोध करना यह आसुरी युद्ध है और क्रोध का क्षमा से मुकाबला करना दैवी युद्ध है। 'सेर पर सवा सेर' का सच्चा मतलब यही है कि क्रोध करते हुए व्यक्ति पर भी हम सवाया प्रेम प्रवाहित करें। यानी वह एक रतल क्रोध करे तो हम उस पर सवा रतल प्रेम की वृष्टि करें; तभी उसका क्रोध शान्त किया जा सकता है। दैनिक जीवन की यह आवश्यक बात हम भूल जाते हैं जो निश्चय ही

हो, उसका रिपेअर-दुरुस्त नही कराया जाय तो वह खराब हो जाती है। हमारा जीवन भी एक मशीन जैसा है और जैसे मशीन को दुरुस्त नही कराया जाय तो वह विगड जाती है उसी तरह ये जयन्तिया भी हमारे जीवन रूपी मशीन को दुरूस्त—(रिपेअर) करने के लिये आती हैं।

गीता का वचन है, कि जब दुनिया मे पृथ्वी का भार अधिक बढ जाता है, तब महा पुरुष जन्म लेते हैं। भार से मतलब पापी मनुष्यो की सख्या अधिक बढ जाने से या पृथ्वी पर जड वस्तुओ के आधिक्य से नही है। ये द्रव्य तो दुनिया मे है ही और उनकी पर्यायो का रूपान्तर भी होगा ही। तब फिर पृथ्वी का भार बढता है इसका क्या अर्थ ? इसका अर्थ है अनीती के भार का बढना। जब दुनिया मे कलह, ईर्षा, नास्तिकता आदि पाप बढते हैं और पृथ्वी के भार भूत वजाते हैं तब उसका भार हल्का करने के लिये ही महापुरुष आते हैं। कृष्ण का जन्म भी ऐसे ही समय मे हुआ था। जब वे जन्मे थे तब ये छ शत्रु—कस, काली नाग, दुर्योधन, जरासध, नरकासुर और कालयवन प्रजा को दु ख देते थे। काली का मथन श्रीकृष्ण ने स्वय किया था। वह काली नाग हजार सिर (फण) वाला था, कहा जाता है। कृष्ण ने जब उसका दमन किया तो उनके सामने बडी मुश्किल खडी हो गई थी एक सिर का दमन करने पर दूसरा और फिर तीसरा इस प्रकार कई एक सिर पैदा हो जाते थे। लेकिन वे 'ओम्'मत्र का जप करते-करते उस काली नाग का दमन करते रहे। नागिन आती है और वह कृष्ण से काली नाग का जीवन-दान माँगती है। वन्धुओ ! आज वह काली नाग तो नही है, लेकिन हमारे हृदय के तालाव मे

कृष्ण जन्माष्टमी

हर रोज एक ही सूरज उगता है और दुनिया को प्रकाश देता है। कल जो उदित हुआ था वही सूर्य आज भी उदित हुआ है और वही कल भी उदित होगा। सूर्य एक ही है पर फिर भी वह रोज उगता है तो अपने साथ में नवीन चेतना नया जीवन और नूतन शक्ति लेकर आता है। कल का सूरज आज भी उगा है इसको देख कर कोई पक्षी निरुत्साह नहीं होता है। वे जो गाते हैं और चहल-पहल करते हैं करते ही हैं। किसी रोज भी बन्द नहीं करते हैं। लेकिन जिसका शरीर शुष्क हो गया हो जिसका जीवन-रस सूख गया हो उसके लिये यह सूरज कुछ न्यारा ही प्रतीत होता है। सूरज की तरह ही हमारे धार्मिक पर्व या महापुरुषों की जयन्तियाँ भी आती रहती हैं। एक वर्ष पूर्व भी इसी तरह कृष्णाष्टमी आई और हमारे पर्युषण भी आते हैं। लेकिन सूरज की तरह वे भी हर साल नव चेतन नव प्राण और नव शक्ति लेकर आते हैं। उनसे निरुत्साह होने की जरूरत नहीं है। होना चाहिये हमारे में नया खून तभी ये पर्व नव चेतना प्रदान कर सकते हैं।

जयन्तियाँ प्रति वर्ष एक बार ही आती हैं। एक नवीन

हो, उसका रिपेअर-दुरुस्त नही कराया जाय तो वह खराब हो जाती है। हमारा जीवन भी एक मशीन जैसा है और जैसे मशीन को दुरुस्त नही कराया जाय तो वह बिगड जाती है उसी तरह ये जयन्तिया भी हमारे जीवन रूपी मशीन को दुरूस्त—(रिपेअर) करने के लिये आती हैं।

गीता का वचन है, कि जब दुनिया मे पृथ्वी का भार अधिक बढ जाता है, तब महा पुरुष जन्म लेते हैं। भार से मतलब पापी मनुष्यो की सख्या अधिक बढ जाने से या पृथ्वी पर जड वस्तुओ के आधिक्य से नही है। ये द्रव्य तो दुनिया मे हैं ही और उनकी पर्यायो का रूपान्तर भी होगा ही। तब फिर पृथ्वी का भार बढता है इसका क्या अर्थ ? इसका अर्थ है अनीती के भार का बढना। जब दुनिया मे कलह, ईर्षा, नास्तिकता आदि पाप बढते हैं और पृथ्वी के भार भूत बजाते है तब उसका भार हल्का करने के लिये ही महापुरुष आते हैं। कृष्ण का जन्म भी ऐसे ही समय मे हुआ था। जब वे जन्मे थे तब ये छ शत्रु—कस, काली नाग, दुर्योधन, जरासध, नरकासुर और कालयवन प्रजा को दु ख देते थे। काली का मथन श्रीकृष्ण ने स्वय किया था। वह काली नाग हजार सिर (फण) वाला था, कहा जाता है। कृष्ण ने जब उसका दमन किया तो उनके सामने वडी मुश्किल खडी हो गई थी एक सिर का दमन करने पर दूसरा और फिर तीसरा इस प्रकार कई एक सिर पैदा हो जाते थे। लेकिन वे 'ओम्' मत्र का जप करते-करते उस काली नाग का दमन करते रहे। नागिन आती है और वह कृष्ण से काली नाग का जीवन-दान माँगती है। बन्धुओ ! आज वह काली नाग तो नही है, लेकिन हमारे हृदय के तालाब मे

वासना का भाव भी वह काली नाग बठा हुआ है। हम एक वासना का त्याग करते हैं तो दूसरी खड़ी होती है और तीसरी। सिनेमा छोड़ता है तो नाटक की याद आती है। ऐसा वासनारूपी सहस्रफन वाला नाग आज भी हमारे हृदय में बठा हुआ है। और हमारे हृदय को खराब कर रहा है। कृष्ण की जयन्ती अगर सचमुच हमें मनानी है तो उनके जीवन के प्रसंग को सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिये तभी उसकी सफलता है। हृदय में रही हुई वासना का दमन करना ही काली का मथन करना है और यही कृष्ण जयन्ती का महत्व है।

कृष्ण ने काली का दमन करते हुए बाँसुरी अपने हाथ में रखी थी और उसे बजाते हुए उसका दमन किया था। इस पर एक कवि को ईर्षा हुई और उसने बाँसुरी से पूछा—तू इतनी अधिक प्रिय कैसे बनी ?

बाँसुरी ने जवाब दिया—मैं सिर से पैर तक खाली हूँ। मुझ में स्वार्थ की तनिक भी मात्रा नहीं है अतः मुझ से मिठास निकलता है। यही सब का मन मेरी तरफ खींच लेता है। मानव को भी मृदु बनने के लिये बाँसुरी की तरह निस्वार्थ हो जाना चाहिये। तभी वह वासना के सहस्रफन वाले नाग को जीत सकता है।

महापुरुषों की जयन्तियाँ सफल करने का दूसरा मार्ग यह है कि उनके सिद्धान्तों को जीवन में उतारा जाय। कृष्ण ने गीता का उपदेश दिया था। उस गीता का केवल शब्दों से अर्थ कर लेना कोई महत्व नहीं रखता है जब तक कि उसे हृदय की गुफा मे नहीं उतार लिया जाय। गीता का उपदेश श्री कृष्ण ने अर्जुन को कुरुक्षेत्र मे दिया था और वहीं उसे

समझाया भी था। आप सब कहेंगे कि बम्बई के आदमी कुरुक्षेत्र मे कहा जाय ? और कब वे गीता का रहस्य समझें ? लेकिन कुरुक्षेत्र तो एक द्रव्य शब्द है। संस्कृत मे कुरु का अर्थ करना होता है और इस तरह कुरुक्षेत्र का पूरा अर्थ कर्त्तव्य की भूमि होता है। कर्त्तव्य के क्षेत्र मे अनासक्त होकर अपना कार्य किये जाना, यही कुरुक्षेत्र का अर्थ है।

महात्माजी जब साबरमती के आश्रम पर मकान बना रहे थे तब गुजरात का एक विद्वान् महात्मा जी के पास आया और बोला—गीता का गूढार्थ समझने के लिये मुझे आपकी सेवा मे रहना है, अत मेहरबानी कर कही स्थान दीजियेगा। महात्माजी ने रावजी भाई का—जिनकी देखरेख मे मकान का काम हो रहा था, बुलाया और कहा—ये भाई भी यहा रहना चाहते है, अगर तुम्हारे पास कुछ काम हो तो इन्हे बताओ। वह विद्वान् पुरुष तो गांधीजी के पास से कुछ गीता सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने आया था, पर जब उसे ईंटे गिनने का काम सौंपा गया तो वह तीन चार दिन मे ही ऊब गया। विवश हो उसने रावजी भाई से कहा—भाई, यह तो मजदूर का काम है, मै तो यहा गीता का गूढार्थ समझने आया हू। अत महात्माजी से कह कर इसकी कोई दूसरी व्यवस्था कराओ तो बड़ा अच्छा हो। रावजी भाई ने उसकी बात महात्माजी से कही, तो महात्माजी ने उस विद्वान् से कहा—भाई, यही गीता का अर्थ है—नि स्वार्थ भाव से काम करते रहना ही गीता का गूढार्थ है। कहने का मतलब यही है कि कृष्ण की गीता का अर्थ बैठे-बैठे नही, पर कुरुक्षेत्र यानी कर्तव्य भूमि मे ही मिलने वाला है। इस प्रकार हमे उनके

वासना का पाज भी वह कामी नाम बठा हुआ है । हम एक वासना का त्याग करते हैं तो दूसरी खड़ी होती है और तीसरी । सिनेमा छोड़ते हैं तो नाटक की याद आती है । ऐसा वासनारूपी सहस्रफन वाला नाग आज भी हमारे हृदय म बैठा हुआ है । और हमारे हृदय को खराब कर रहा है । कृष्ण की जयन्ती अगर सचमुच हमें मनानी है तो उनके जीवन के प्रसग को सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिये तभी उसकी सफलता है । हृदय में रही हुई वासना का दमन करना ही कामी का मथन करना है और यही कृष्ण जयन्ती का महत्त्व है ।

कृष्ण ने कामी का दमन करते हुए बाँसुरी अपने हाथ म रक्खी थी और उसे बजाते हुए उसका दमन किया था । इस पर एक कवि को ईर्षा हुई और उसने बाँसुरी से पूछा—तू इतनी अधिक प्रिय कैसे बनी ?

बाँसुरी ने जवाब दिया—मै सिर से पैर तक खाली हूँ । मुझ म स्वार्थ की तनिक भी मात्रा नहीं है अत मुझ से मिठास निकलता है । यही सब का मन मेरी तरफ खीच लेता है । मानव को भी मृदु बनने के लिय बाँसुरी की तरह निस्वार्थ हो जाना चाहिये । तभी वह वासना के सहस्रफन वाले नाग को जीत सकता है ।

महापुरुषों की जयन्तियाँ सफल करने का दूसरा मार्ग यह है कि उनके सिद्धान्तो को जीवन में उतारा जाय । कृष्ण ने गीता का उपदेश दिया था । उस गीता का केवल शब्दों से पाठ कर लेना कोई महत्त्व नहीं रखता है जब तक कि उसे हृदय की गुफा म नहीं उतार लिया जाय । गीता का उपदेश भी कृष्ण ने अर्जुन को कुरुक्षेत्र मे दिया था और वही जब

समझाया भी था। आप सब कहेगे कि वम्वई के आदमी कुरुक्षेत्र मे कहाँ जावे? और कव वे गीता का रहस्य समझे? लेकिन कुरुक्षेत्र तो एक द्रव्य शव्द है। सस्कृत मे कुरु का अर्थ करना होता है और इस तरह कुरुक्षेत्र का पूरा अर्थ कर्त्तव्य की भूमि होता है। कर्त्तव्य के क्षेत्र मे अनासक्त होकर अपना कार्य किये जाना, यही कुरुक्षेत्र का अर्थ है।

महात्माजी जव सावरमती के आश्रम पर मकान बना रहे थे तव गुजरात का एक विद्वान् महात्मा जी के पास आया और वोला—गीता का गूढार्थ समझने के लिये मुझे आपकी सेवा में रहना है, अत मेहरवानी कर कही स्थान दीजियेगा। महात्माजी ने रावजी भाई को—जिनकी देखरेख मे मकान का काम हो रहा था, वुलाया और कहा—ये भाई भी यहाँ रहना चाहते हैं, अगर तुम्हारे पास कुछ काम हो तो इन्हे वताओ। वह विद्वान् पुरुप तो गाँधीजी के पास से कुछ गीता सम्वन्धी ज्ञान प्राप्त करने आया था, पर जव उसे ईंटे गिनने का काम सौपा गया तो वह तीन चार दिन मे ही ऊव गया। विवश हो उसने रावजी भाई से कहा—भाई, यह तो मजदूर का काम है, मै तो यहाँ गीता का गूढार्थ समझने आया हू। अत महात्माजी से कह कर इसकी कोई दूसरी व्यवस्था कराओ तो वडा अच्छा हो। रावजी भाई ने उसकी वात महात्माजी से कही, तो महात्माजी ने उस विद्वान् से कहा—भाई, यही गीता का अर्थ है—नि स्वार्थ भाव से काम करते रहना ही गीता का गुढार्थ है। कहने का मतलव यही है कि कृष्ण की गीता का अर्थ वैठे-वैठे नही, पर कुरुक्षेत्र यानी कर्तव्य भूमि में ही मिलने वाला है। इस प्रकार हमे उनके

उपदेश को पालन करते हुए अपने-अपने कर्तव्य-क्षेत्र में लग जाना चाहिये। इसी में कृष्ण गीता का सार रहा हुआ है। कृष्ण ने अपने कर्तव्य में लगकर ही उस समय की प्रजा को षड्-रिपुओं से मुक्त किया था। इसी से प्रजा उन पर खुश हुई और उनकी जन्माष्टमी मनाई। लेकिन सवाल आज यह है कि हम उनकी जन्माष्टमी क्यों मनावें? इसकी हमें क्या जरूरत है? इसका उत्तर यही है कि हम भी कृष्ण की तरह अपने हृदय में रहे हुए षड्-रिपु काम-क्रोध लोभ मद मत्सर-मोह को जीतें और अपने कुरुक्षेत्र में विजयी बनें। अतः आज भी कृष्णाष्टमी मनाने की जरूरत है और इसीलिये मनाई भी जाती है।

आज कृष्ण को यदि जन्म देना है तो आप अपने हृदय में उसे पैदा करें और हृदय में रहे हुए षट्रिपुओं का दमन करें तभी यह कृष्णाष्टमी सफल कही जा सकेगी। गीता में कहा है—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।

'जब-जब धर्म का नाश होता है तब-तब मैं अवतार लेकर उसका रक्षण करता हूँ। यह अवतार हमारे हृदय में होना चाहिये। महावीर का जन्म तो हुआ पर वैसे महावीर जब तक हमारे हृदय में नहीं जन्में तब तक हमारे हृदय में धर्म का संस्थापन कैसे हो सकता है? हम कहते तो है—केवली पण्णत्तो धम्मो पर जब तक ऐसा धर्म हमारे हृदय में स्थापित न हो तब तक कैसे हम उसकी स्थापना कर सकते हैं। महापुरुष जैसा पुरुषार्थ हमारे हृदय में भी उत्पन्न होना चाहिये।

उक्त श्लोक पर—यदा यदा हि धर्मस्य—जब-जब धर्म का नाश होता है तब-तब मैं अवतार लेता हूँ—एक कवि कल्पना करता है, कि क्या आज भारत मे धर्म का नाश नही हो रहा है ? भाई-भाई आज भारत मे लड-झगड रहे हैं, चारो तरफ अधर्म हो रहा है अत अब कृष्ण के ऊपर फरियाद क्यो नही करनी चाहिये ? यही सोच कर स्वामी श्रद्धानन्द मर कर स्वर्ग मे गये और उन्होने वहाँ जाकर इन्द्र की अदालत मे कृष्ण पर मुकद्मा दायर किया। इस फैसले को सुनने के लिए देव कन्यायें भी आई और सारा हाल दर्शको से खचाखच भर गया। ऋषि मुनि भी आकर एक तरफ बैठ गये। दूसरी तरफ श्रद्धानन्द बैठे-बैठे अपने मुकदमे पर सोच विचार कर रहे थे, कि इतने मे कृष्ण भी आये और यथा स्थान पर बैठ गये। यथा समय कार्यवाही शुरू हुई और स्वामी श्रद्धानन्द ने खडे होकर कहा—मैंने धर्म के खातिर अपने प्राणो को न्योछावर किया है अत मैं हिन्दू समाज की एक धार्मिक फरियाद यहाँ पेश करना चाहता हू। हिन्दू समाज की यह फरियाद है कि कृष्ण जब द्वारिका मे रहते थे तब इन्होने 'भक्त वत्सल' का झूठा विशेषण धारण किया था। अत इनके खिलाफ ही मेरी यह फरियाद है। जब ये भारत में जन्मे थे तो इन्होने प्रजा को दुष्ट राजाओ के हथकण्डो से बचाया था। अर्जुन को उपदेश देते समय कुरुक्षेत्र मे कहा था कि जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब मै आता हू ऐसा उस समय विश्वास दिलाया था। लेकिन अब तक कृष्ण महाराज ने अपने वचन का पालन नही किया और हिन्द मे आये नही अत अब इन पर वारन्ट निकाला जाय और इन्हे हिन्द मे भेजा जाय। स्वामी श्रद्धा-

उपदेश को पालन करते हुए अपने-अपने कर्तव्य-क्षेत्र में सब जाना चाहिये। इसी में कृष्ण गीता का सार रहा हुआ है। कृष्ण ने अपने कर्तव्य में लगकर ही उस समय की प्रजा को षड्-रिपुओं से मुक्त किया था। इसी से प्रजा उन पर खुश हुई और उनकी जन्माष्टमी मनाई। लेकिन सवाल आज यह है कि हम उनकी जन्माष्टमी क्यों मनावें? इसकी हमें क्या जरूरत है? इसका उत्तर यही है कि हम भी कृष्ण की तरह अपने हृदय में रहे हुए षड्-रिपु काम-क्रोध लोभ मद मत्सर-मोह को जीतें और अपने कुरुक्षेत्र में विजयी बनें। अतः आज भी कृष्णाष्टमी मनाने की जरूरत है और इसीलिये मनाई भी जाती है।

आज कृष्ण को यदि जन्म देना है तो आप अपने हृदय में उसे पैदा करें और हृदय में रहे हुए षड्रिपुओं का दमन करें तभी यह कृष्णाष्टमी सफल कही जा सकेगी। गीता में कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।

'जब-जब धर्म का नाश होता है तब-तब मैं अवतार लेकर उसका रक्षण करता हूँ। यह अवतार हमारे हृदय में होना चाहिये। महावीर का जन्म तो हुआ पर वैसे महावीर जब तक हमारे हृदय में नहीं जन्मे तब तक हमारे हृदय में धर्म का संस्थापन कैसे हो सकता है? हम कहते तो हैं—केवली पन्नत्तो धम्मो पर जब तक ऐसा धर्म हमारे हृदय में स्थापित न हो तब तक कैसे हम उसकी स्थापना कर सकते हैं। महापुरुष जैसा पुरुषार्थ हमारे हृदय में भी उत्पन्न होना चाहिये।

मे जन्म लूँ ? मेरा प्रतिनिधि था मोहनदास करमचन्द गाँधी। जव तुम उसे भी नही रख सके तो मै कैसे जन्म लूँ ? मैंने अपने पाँच मित्रो-पाँडवो को भी हिन्द में भेज रखा है। अब्दुल गफ्फार खाँ को धर्मराज के रूप मे भेजा है। पठान कौम मे जन्मा हुआ मानव जिसने खूखार जीवन मे पैदा होकर भी अहिंसा का पालन किया, क्या वह धर्मराज नही है ?

जवाहरलाल नेहरू के रूप मे मैने अपने परम भक्त अर्जुन को भेज रखा है। उनकी आज्ञा को तुम्हारी प्रजा कितना मान देती है ?

वल्लभ भाई को मैने भीम के रूप मे भेजा है और राजेन्द्र बाबू को नकुल और मौलाना आज़ाद को सहदेव के रूप मे भेजा है। लेकिन जव तुम आज इन पाँच मित्रो के आदेश का पालन भी नही करते हो तो क्या मैं अपना अपमान कराने के लिये वहाँ आऊँ ?

जब श्रीकृष्ण ने स्वामी श्रद्धानन्द से इस प्रकार कहा तो इनका उनके पास क्या जवाब था ? हिन्दुओ को ही अब तो समझना है, कि अर्जुन जैसे जवाहरलाल और धर्मराज जैसे अब्दुल गफ्फार खाँ को हम सन्मानित नही करे तो क्या कोई दूसरा महापुरुष हमारी इस भारत भूमि पर आना चाहेगा ?

फ्रास मे रोम्या रोला नामक एक वडा दार्शनिक विद्वान् हो गया है। उसने कहा है—'सैकडो वर्षों तक हमने इन्तज़ार की कि कोई महापुरुष जन्मे और वह जव जन्मा तो हमने उसे फाँसी पर लटका दिया।'

वन्धुओ ! जव तक हमारी भूमिका तैयार नही होगी तव तक याद रखिये कोई भी महापुरुष जन्मते नही है, जन्मते भी

नन्द की बात सुनकर इन्द्र ने कृष्ण से कहा—तुम्हारा वकील कौन है ? कृष्ण ने उत्तर दिया—मैं ही अपना वकील हूं। तब इन्द्र ने कहा—स्वामी श्रद्धानन्द तुम्हारे ऊपर विश्वासघात का आरोप लगाते हैं। क्या यह सच है ?

कृष्ण ने कहा—हां यह सच है कि मैंने अपना वचन दिया था पर मैंने विश्वासघात किया यह सच नहीं है। आज हिन्दुस्तान में नन्द यशोदा देवकी और वासदेव कहां हैं जिनके घर में मैं जन्म धारण करूं ? आज देश में नन्द कहां हैं ? मैं किस के घर जाऊं और अपनी बांसुरी बजाऊं ?

स्वामी श्रद्धानन्द ने कृष्ण की इस दलील का उत्तर देते हुए कहा—मेरे जैसे धर्मवीर आज भारत में भरे पड़े हैं। फिर कृष्ण कैसे कहते हैं कि वहां धर्मवीर नहीं हैं ?

कृष्ण ने कहा—तुम्हारे जैसे धर्मवीर तो अब यहां आ गये हैं वहां अब कौन रहा है ?

स्वामी श्रद्धानन्द ने कहा—मेरे जैसे धर्मवीर अब भी भारत में मौजूद हैं। अगर अब भी कृष्ण वहां जायें तो मैं उन्हें इनके योग्य भूमिका तैयार करने का आदेश करूंगा।

कृष्ण ने कहा—स्वामी श्रद्धानन्द अपने जैसे धर्मवीरों के होने की बात कहते हैं पर मैं उन्हें यह स्पष्ट कह देना चाहता हूं कि मैंने अपना एक प्रतिनिधि हिन्द में भेजा था। जिसने वहां जाकर मेरे निष्काम कर्म योग का सन्देश सुनाया था। लेकिन मेरा वह प्रतिनिधि वहां गोली से उड़ा दिया गया। इस प्रकार जब तुम मेरे उस सन्देश-वाहक को भी अपने बीच नहीं रख सके तो क्या तुम मुझे अपने बीच रख सकोगे ? तुम कहते हो कि मैं अब भारत में जन्म लूं पर क्या ऐसी स्थिति

में जन्म लूं ? मेरा प्रतिनिधि था मोहनदास करमचन्द गाँधी। जव तुम उसे भी नही रख सके तो मैं कैसे जन्म लूं ? मैंने अपने पाँच मित्रो-पाँडवो को भी हिन्द मे भेज रखा है। अब्दुल गफ्फार खाँ को धर्मराज के रूप मे भेजा है। पठान कौम मे जन्मा हुआ मानव जिसने खूखार जीवन मे पैदा होकर भी अहिंसा का पालन किया, क्या वह धर्मराज नही है ?

जवाहरलाल नेहरू के रूप मे मैंने अपने परम भक्त अर्जुन को भेज रखा है। उनकी आज्ञा को तुम्हारी प्रजा कितना मान देती है ?

वल्लभ भाई को मैने भीम के रूप मे भेजा है और राजेन्द्र बाबू को नकुल और मौलाना आज़ाद को सहदेव के रूप मे भेजा है। लेकिन जब तुम आज इन पाँच मित्रो के आदेश का पालन भी नही करते हो तो क्या मैं अपना अपमान कराने के लिये वहाँ आऊँ ?

जब श्रीकृष्ण ने स्वामी श्रद्धानन्द से इस प्रकार कहा तो इनका उनके पास क्या जवाब था ? हिन्दुओ को ही अब तो समझना है, कि अर्जुन जैसे जवाहरलाल और धर्मराज जैसे अब्दुल गफ्फार खाँ को हम सन्मानित नही करे तो क्या कोई दूसरा महापुरुष हमारी इस भारत भूमि पर आना चाहेगा ?

फ्रास मे रोम्या रोला नामक एक बडा दार्शनिक विद्वान् हो गया है। उसने कहा है—'सैकडो वर्षों तक हमने इन्तज़ार की कि कोई महापुरुष जन्मे और वह जब जन्मा तो हमने उसे फाँसी पर लटका दिया।'

बन्धुओ ! जब तक हमारी भूमिका तैयार नही होगी तब तक याद रखिये कोई भी महापुरुष जन्मते नही हैं, जन्मते भी

है तो जनता उनका उपयोग नहीं दुरुपयोग ही करती है।

श्रीकृष्ण की बातें सुनकर स्वामी भद्रानन्द ने कहा—मैं हिन्द के लोगों को सदेश देता हूँ कि वे तुम्हारे प्रतिनिधि मोहन दास का उपदेश पालें और तुम्हारे भक्त अर्जुन जैसे जवाहर लाल की आज्ञा में रहें। उनके सदेश-सत्य और अहिंसा का पालन करें।

आज देखना यह है कि क्या हम उनके संदेश का पालन करते हैं! काले बाजारों का जोर आज कितना बढ़ गया है? जब तक हम इन काले-कारनामों के कृष्णपक्ष से मुक्त न नहीं पावेंगे तब तक क्या हम समकित्ती कहे जा सकेंगे? और क्या हम कृष्ण के प्रतिनिधि का सन्देश पालन कर सकेंगे? हमारी गवर्नमेंन्ट ने आज जो जन-हितकारी नियम बनाये हैं उनका अगर हम पालन करेंगे तो सचमुच हम कृष्ण में से शुक्ल में कहे जा सकेंगे। और तभी हम कृष्ण के मित्र अर्जुन जैसे परम भक्त जवाहरलाल की आज्ञाओं का पालन कर सकेंगे।

श्रीकृष्ण ने स्वामी भद्रानन्द से कहा—तुम मेरे प्रतिनिधि का सदेश अपने जीवन में उतारो और मेरे योग्य भूमि तैयार करो। भद्रानन्द ने जब यह बात स्वीकार कर ली तो अन्त में इन्द्र ने कहा—हिन्दू समाज जो कि कृष्ण को भगवान् मानता है उसने कृष्ण की गिरफ्तार की इसके लिये वह धन्य वाद का पात्र है। लेकिन अब मैं यह निर्णय सुनाता हूँ कि हिन्दू समाज पहले अपने हिन्द में कृष्ण के योग्य भूमिका तैयार करें और फिर एक रजिस्टर्ड पत्र द्वारा मुझे सूचना भेजें। तब भी अगर कृष्ण नहीं आवेंगे तो मैं उनके नाम पर वारन्ट जारी करूँगा और हिन्द में भेजूँगा।

कवि की कल्पना बडी रोचक और सुन्दर है । लेकिन कहने का मतलब इतना ही है, कि अगर हम कृष्ण के कर्म-योग को अपने जीवन मे उतारेंगे और निष्काम भाव से कर्त्तव्य क्षेत्र में काम किये जावेंगे तो कृष्ण अवश्य हमारे हृदय मे अवतरित हो सकेंगे और अपना हमारा जीवन सफल कर सकेंगे । साथ मे जन्माष्टमी का मनाना भी तभी सार्थक कहा जा सकेगा ।

है तो जनता उनका उपयोग नहीं दुरुपयोग ही करती है।

श्रीकृष्ण की बातें सुनकर स्वामी भद्रानन्द ने कहा—मैं हिन्द के लोगों को सदेश देता हूँ कि वे तुम्हारे प्रतिनिधि मोहन दास का उपदेश पालें और तुम्हारे भक्त अर्जुन जैसे जवाहर लाल की आज्ञा में रहें। उनके सदेश-सत्य और अहिंसा का पालन करें।

आज देखना यह है कि क्या हम उनके सदेश का पालन करते हैं! काले बाजारों का जोर आज कितना बढ़ गया है? जब तक हम इन काले-कारनामों के कृष्णपक्ष से मुक्त न नहीं आवंगे तब तक क्या हम समकित्ती कहे जा सकेंगे? और क्या हम कृष्ण के प्रतिनिधि का सन्देश पालन कर सकेंगे? हमारी गवर्नमेंण्ट ने आज जो जन-हितकारी नियम बनाये हैं उनका अगर हम पालन करेंगे तो सचमुच हम कृष्ण में से शुक्ल में कहे जा सकेंगे। और तभी हम कृष्ण के मित्र अर्जुन जैसे परम भक्त जवाहरलाल की आज्ञाओं का पालन कर सकेंगे।

श्रीकृष्ण ने स्वामी भद्रानन्द से कहा—तुम मेरे प्रतिनिधि का सदेश अपने जीवन में उतारो और मेरे योग्य भूमि तैयार करो। भद्रानन्द ने जब यह बात स्वीकार कर ली तो अन्त में इन्द्र ने कहा—हिन्दू समाज जो कि कृष्ण को भगवान् मानता है उसने कृष्ण की फ़रियाद की इसके लिये यह धन्य वाद का पात्र है। लेकिन अब मैं यह निर्णय सुनाता हूँ कि हिन्दू समाज पहले अपने हिन्द मे कृष्ण के योग्य भूमिका तैयार करें और फिर एक रजिस्टर्ड पत्र द्वारा मुझे सूचना भेजें। तब भी अगर कृष्ण नहीं आवंगे तो मैं उनके नाम पर वारण्ट जारी करूँगा और हिन्द मे भेजूंगा।

उनके गुलाम हैं। हमारे देश को आज़ादी मिल गई है। लेकिन यदि हम इन षट् रिपुओ के अधीन हैं तो समझ लीजिये अभी हम गुलाम ही हैं। आज़ हम पर इन्ही का अधिकार है। अत आज आत्मा का नही, विकारो का राज्य है। ये पाप के जन्तु रोग के जन्तुओ की तरह, इस प्रकार आ जाते है, कि हमे कुछ पता ही नही चलता, लेकिन जव वे अपना वडा रूप धारण कर लेते हैं तब हमे उनका पता चलता है। हमारा यह स्वभाव हो गया है, कि जब हमारे दिल मे खराव विचार आता है तो उस समय हम उसकी उपेक्षा कर देते है। इससे वह विचार हमारे मन में वढता जाता है और एक दिन हम पर ही सवार हो जाता है। जब कोई मनुष्य बेईमानी से पैसा इकट्ठा करता है और फिर जहाज को डुवाकर सण के वजाय रेशम के दाम कम्पनी से वसूल करता है तो यह उन पाप जन्तुओ का ही वृहत् रूप होता है जो धीरे-धीरे मनुष्य इस हद तक नीचे गिर जाता है। अत ऐसे पाप जन्तुओ को पनपने का अवसर ही नही देना चाहिये—आते ही निकाल वाहर कर देना चाहिये।

एक जगल मे दो पुरुष बैठे हुए थे। अचानक उन दोनो को एक सर्प ने काट लिया। उनमे से एक ने सोचा अगर मै इस अँगूठे को काट डालूँ तो यह जहर आगे नही फैल सकेगा और मैं भी वच जाऊँगा। यह सोचकर उसने अपना वह अँगूठा काट डाला। दूसरे अँगूठा काटा नही। उसने सोचा अँगूठे को ही तो साँप ने काटा है, यह तो अभी ठीक हो जायगा। ऐसा सोचकर वह बैठा ही रहा। थोडी ही देर मे जहर तो ऊपर चढा ही और उसके चढते ही वह मर गया।

४७

आत्म-स्वास्थ्य और विकार-जन्तु

आखिरी दस वर्षों में विज्ञान ने बहुत खोज की है। उसने इस वर्षों में तरह-तरह के यन्त्रों और मंत्रों की खोज की जिसमें एक खोज सूक्ष्मजन्तु विद्या भी है। इसका यह सिद्धान्त है कि जगत में जो-जो व्याधियाँ और उपद्रव होते हैं उन सब में एक तरह के सूक्ष्म जन्तु रहते हैं। वे ही समय-समय पर व्याधियाँ और उपद्रव उत्पन्न करते रहते हैं, अतः ऐसा से बचने के लिये इन जन्तुओं से दूर रहना चाहिये। शरीर स्वास्थ्य के लिये जैसे इनसे बचने की जरूरत रहती है वैसे ही आत्मा की स्वस्थता के लिये काम क्रोध मद-मत्सर, लोभादि षट्-रिपुओं के सूक्ष्म जन्तुओं से भी बचकर रहना चाहिये। हमें इन शत्रुओं को जीतना चाहिये और मार डालना चाहिये। तभी हम विजयी कहे जा सकते हैं। और यही इनके परित्याग का अर्थ भी है। लेकिन आज हम इनको जीतने के बजाय इनसे ही परास्त हो रहे हैं। एक यूरोप लेखक ने कहा है

Control your passions or they will control you.

तुम अपने विकारों को जीतो नहीं तो वे तुम्हें जीत लेंगे।

आज हमारी स्थिति भी ऐसी ही है। हम षट् रिपुओं को हमने नहीं जीता है। उन्होंने हमें जीता है। आज तो हम

उनके गुलाम हैं । हमारे देश को आज़ादी मिल गई है । लेकिन यदि हम इन षट् रिपुओ के अधीन हैं तो समझ लीजिये अभी हम गुलाम ही है । आज़ हम पर इन्ही का अधिकार है । अत आज आत्मा का नही, विकारो का राज्य है । ये पाप के जन्तु रोग के जन्तुओ की तरह, इस प्रकार आ जाते है, कि हमे कुछ पता ही नहीं चलता, लेकिन जव वे अपना वडा रूप धारण कर लेते हैं तव हमें उनका पता चलता है । हमारा यह स्वभाव हो गया है, कि जव हमारे दिल मे खराव विचार आता है तो उस समय हम उसकी उपेक्षा कर देते है । इससे वह विचार हमारे मन मे वढता जाता है और एक दिन हम पर ही सवार हो जाता है । जव कोई मनुष्य वेईमानी से पैसा इकट्ठा करता है और फिर जहाज को डुवाकर सण के वजाय रेशम के दाम कम्पनी से वसूल करता है तो यह उन पाप जन्तुओ का ही वृहत् रूप होता है जो धीरे-धीरे मनुष्य इस हद तक नीचे गिर जाता है । अत ऐसे पाप जन्तुओ को पनपने का अवसर ही नही देना चाहिये—आते ही निकाल वाहर कर देना चाहिये ।

एक जगल मे दो पुरुष वैठे हुए थे । अचानक उन दोनो को एक सर्प ने काट लिया । उनमे से एक ने सोचा अगर मैं इस अँगूठे को काट डालूँ तो यह जहर आगे नही फैल सकेगा और मैं भी वच जाऊँगा । यह सोचकर उसने अपना वह अँगूठा काट डाला । दूसरे अँगूठा काटा नही । उसने सोचा अँगूठे को ही तो साँप ने काटा है, यह तो अभी ठीक हो जायगा । ऐसा सोचकर वह वैठा ही रहा । थोडी ही देर मे जहर तो ऊपर चढा ही और उसके चढते ही वह मर गया ।

जन्तुओं ! यही हाल आप अपना भी समझ लीजिये । यदि आप थोड़े से लोभ का भी आने स नहीं रोकते तो याद रखिये एक न एक दिन वह आपको खत्म कर देगा। अतः ऐसे जन्तुओं को तुरन्त बाहर निकाल देना चाहिये ।

सूक्ष्म जन्तु-विद्यावाले कहते हैं कि रोग के जन्तुओं को देखने के लिये सूक्ष्म दर्शक यन्त्र होने चाहिये । उसके बिना वे देखे नहीं जा सकते । इसी तरह हमारे हृदय में भी जो पाप विकार के जन्तु घुस गये हैं उनको देखने के लिये भी सूक्ष्म आत्म निरीक्षण की जरूरत होती है । ऐसा करने से ही वे देखे जा सकते हैं । इन विकारों का अगर शीघ्र ही दूर नहीं किया जाता है तो वे आत्मा को मलिन कर देते हैं। अस्वस्थ कर देते हैं । अतः इनसे बचने के लिये सूक्ष्म आत्म निरीक्षण प्रबन्ध करना चाहिये ।

डाक्टर कहते हैं कि दूध या पानी जैसे तरल पदार्थों में जन्तु होने का भय रहता है । अतः उन्हें उबाल [गरम] कर पीया जाता है । उबालने पर जैसे उसमें किसी तरह के जन्तु होने का भय नहीं रहता वैसे ही अगर हमारे हृदय में भी पाप के जन्तु बैठ गये हों तो पश्चात्ताप सन्ताप और परिताप की अग्नि से उन्हें मार देना चाहिये—मिटा देना चाहिये । बुरे विचारों के लिये पश्चात्ताप करना चाहिये जिससे वे जल-भुन कर खाक हो जायें । लेकिन पश्चात्ताप करने के बजाय पूर्वताप किया जाय तो अधिक अच्छा होता है । जन्तु आने के बाद पश्चात्ताप करना-सन्ताप करना या परिताप कर उनको भगा देना तो ठीक है पर पहले स ही पूर्वताप करना यानी जन्तुओं को आने ही नहीं देना यह उससे भी ज्यादा अच्छा है । कई

पुरुष तो पश्चात्ताप भी नही करते है, लेकिन जो करते हैं उन्हे पूर्वताप करना चाहिये।

जैसे शीतलता और प्लेग के लिए मनुष्य पहले ही इनोक्यूलेशन [इंजेक्शन] ले लेते है, जिससे उन पर उन बीमारियो का असर होने का भय नही रहता। वैसे ही मनुष्य को भी पश्चात्ताप करने से पहले पूर्वताप कर लेना चाहिये जिससे हृदय मे विकारो को आने का मौका ही न मिले।

हमारी पेटी के कपडो मे यदि जन्तु भर जाय तो जैसे प्रक्षालन कर धूप मे सुखाना पडता है, वैसे ही हमारे विचारो मे भी यदि ये जन्तु भर गये हो तो ज्ञान के पानी से धो डालना चाहिये और सद्गुणो की धूप मे उन्हे स्वच्छ कर लेना चाहिये। क्षमा, दया, उदारता आदि सद्गुणो की सुगन्ध हमारे मन वचन और कर्म मे भरी हुई होगी तो पाप के जन्तु हृदय में प्रवेश ही नही कर सकेंगे। क्षमा की सुवास भरी हुई होगी तो क्रोध का जन्तु प्रवेश नही कर सकेगा। प्रेम की मधुरता होगी तो द्वेष का जन्तु फटक भी नही सकेगा। इस प्रकार जहाँ-जहाँ पाप के जन्तु भर गये हो वहा-वहाँ विवेक का जल छिडककर साफ कर देना चाहिये। हम इन विकारी जन्तुओ को हृदय से निकाल तो दें, पर हृदय मे सद्गुणो की हवा नही भरें तो वह फिर अशुद्ध हो जायगा। अत सद्गुणो को तुरन्त स्थान दे देना चाहिये। क्रोध और द्वेष का त्याग करते ही क्षमा और प्रेम को अपना लेना चाहिये। इस प्रकार यदि हम अपने हृदय मे सद्गुणों को भर सकेंगे तो अपना जीवन निर्मल कर सकेंगे।

पवित्रता की धूप मनुष्य मे अवश्य होनी चाहिये। लेकिन

यदि मनुष्य में स्वार्थ बुद्धि होगी तो यह धूप टिक कर नहीं रह सकेगी। बहुत जल्दी उस पर पापों की छाँह आजावेगी। क्योंकि मनुष्य के हृदय में जब तक स्वार्थ की अधिकता होती है तब तक उसके विचार वाणी और वर्त्तन में भी खराबी होगी ही। अतः इसको दूर करने के लिए पवित्रता की धूप होनी ही चाहिये।

जैसे किसी चर्मरोगी का रोग हो जाने के भय से हम स्पर्श नहीं करते हैं वैसे ही पाप के विकार मद-मत्सर आदि के जन्तु जिसमें भरे हुए हों उनका स्पर्श भी नहीं करना चाहिए। मानव बीमार होता है तो डाक्टर उसे पचगनी और महाबलेश्वर जाने की सलाह देता है। उसी तरह हमारे हृदय में भी यदि पापों के जन्तु भर गये हों तो उन्हें दूर करने के लिये भी ऐसे वातावरण में जाना चाहिये जहाँ कि इनका मन नहीं रहता हो। क्योंकि मनुष्य की मनोदशा आज बड़ी निर्बल हो गई है। चाहे जैसा वातावरण हो पर हमारे ऊपर उसका असर न हो ऐसा दृढ़ मनोबल नहीं रहा है। अतः ऐसे वातावरण से दूर ही रहना चाहिये।

मनुष्य के हृदय में जब रोग के जन्तु भर जाते हैं तो उसे डाक्टर के पास जाकर इन्जेक्शन लेना पड़ता है। वैसे ही हमारे पाप के जन्तुओं को दूर करने वाले धर्मगुरु डाक्टर हैं और उनके पास जाने से इस विषाक्त वातावरण का नाश होता है। स्वामी रामदास के जीवन की एक घटना है—

स्वामी रामदास एक पहुँचे हुए सन्त और महाराज शिवाजी के गुरु थे अतः उनकी महाराष्ट्र में बड़ी मान-प्रतिष्ठा थी। एक दिन उन्हें देखकर कुछ आलसी लोगों को विचार

आया कि हम भी अगर रामदास के शिष्य हो जायँ तो आराम से खाने-पीने को मिल जाया करेगा। यह सोचकर वे उनके शिष्य बन गये। एक दिन वे सब रामदास के साथ फिरते-फिरते जगल मे गये और वहाँ एक पेड के नीचे बैठ गये। स्वामी रामदास तो सो गये, पर उनके शिष्य जागते रहे। पास ही एक ईख का खेत लहलहा रहा था। उसे देखकर आलसी शिष्यो के मुँह मे पानी भर आया। उन्होने सोचा—गुरुजी सोये हुए हैं, चलो, तब तक हम खेत मे जाकर ईख तोड लें। वे खेत मे पहुँचे और ईख तोड़ने लगे। इतने मे खेतवाला भी आगया। उसने जब इन भगवा कपडे वाले साधुओ को ईख उखाडते हुए देखा तो कहा—तुम साधु हो या चोर ? शिष्य डर के मारे भागे और रामदास के पास आगये। रामदास जाग गये थे। खेत का मालिक उनके पीछे-पीछे लकडी लेकर दौडा और रामदास के पास आकर बोला—तू इन चोरो का सरदार मालूम होता है। यह कह कर उसने उन शिष्यो के साथ-साथ रामदास के भी दो तीन लाठियो की मार दी। लेकिन रामदास कुछ बोले नही, वे चुप-चाप वहाँ से चल दिये। फिरते-फिरते रामदास जब शिवाजी के पास आये तो उन्होने उनके शरीर पर लाठी मारने के चिह्न देखे। उन्हे देख कर शिवाजी ने कहा—महाराज, ये चिह्न आपके शरीर पर कैसे हुए हे ? लेकिन रामदास ने कुछ जवाब नही दिया। क्योकि वे जानते थे कि अगर मै कुछ कहूगा तो वह खेतवाला पकडा जायगा और मारा भी जायगा। अत उन्होने कुछ नही कहा। लेकिन उनके शिष्यो ने सारी बात शिवाजी से कह दी, जिसको सुनकर शिवाजी बडे क्रोधित हुए। उन्होने तुरन्त

अपने सिपाहियों को भेजकर उस खेतवाले को बुलाया और रामदास के सामने खड़ा कर कहा—कहिए गुरुदेव ! इसको क्या दण्ड दूँ ? रामदास ने कहा—तुम इसके खेत का जो टैक्स लेते हो उसे इसकी जिन्दगी तक माफ कर दो। यही दण्ड इसके योग्य है। सुनकर शिवाजी के दिमाग का पारा ठण्डा हो गया। जिस तरह इ जैक्शन से रोग के जन्तु दूर हो जाते हैं उसी तरह रामदास के इस इ जैक्शन से भी शिवाजी के क्रोध के जन्तु दूर हो गये। हमें भी ऐसे सद्गुरु के इ जैक्शन लेने चाहिये। तभी हम अपने आत्मिक स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकेंगे।

हमारे देश में पहले चोर बहुत होते थे लेकिन विदेशों से एक जन्तु मँगाकर उनका नाश कर दिया गया। जो वस्तु सहज ही एक तरह की बाड़ (खेत की दीवार) का काम देती थी वह उस जन्तु ने विदेश से आकर नष्ट करदी। हमारे चारित्र में घुसने के लिये भी आज विदेशों से जन्तु आते हैं और उसे बिगाड़ देते हैं। आत्म-स्वास्थ्य के इच्छुकों को मानसिक विकाररूपी जन्तुओं से सदा सावधान रहना चाहिए।

४८

दिखावा पाप है

आपने सुना होगा कि 'गिवन' को ग्रीस की सस्कृति का इतिहास लिखने मे २० साल लगे थे। लेकिन उसका सार इतना ही है कि 'ग्रीस का उत्थान सादगी और सयम से हुआ था तथा पतन विलास से।' आज हमारे देश का पतन भी विलास से हो रहा है। एक वहिन आज अच्छे कपडे पहनती है तो दूसरी ग़रीव वहिन उसे देखकर दुखी होती है। हमारे पर्युषण के दिवस धार्मिक क्रिया करने के दिवस हैं, पर आज वे दिखावे के दिन हो गये हैं। एक वहिन को अच्छे कपडे पहिने देखकर दूसरी ग़रीब वहिन को भी उसकी इच्छा हो जाती है और वह इसके लिये अपने पति को कहने लगती है। पति उसकी जिद् से कोई अनीति का विचार करता है और उससे पत्नी की इच्छा पूर्ति करता है। इस तरह पहली वहिन का पहनावा भी दूसरी वहिन के पाप का कारण वनता है। इस विपय की एक सच्ची हकीकत मैं आप से कहती हू।

काठियावाड मे रामजीभाई नाम के भाई रहते थे। वे प्राय विदेश मे रहा करते थे। लक्ष्मी की उन पर कृपा थी। लोग उनको 'फ़ुट कपाल' कह कर भी पुकारते थे। क्योकि उनके कपाल मे एक खड्डा पडा हुआ था। इनका जीवन वडा सादा

था। इसके पास ही एक दूसरा पड़ोसी रहता था। उसने एक दिन रामजी भाई से कहा—रामजी भाई, तुम इतने बहादुर तो दीखते नहीं। न किसी लड़ाई में गये हो। फिर तुम्हारे कपाल में यह घाव कैसे पड़ा हुआ है ? रामजी भाई कुछ क्षण विचारों में पड़ गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा—"भाई, मैंने लड़ाई में जाकर किसी से युद्ध तो नहीं किया है पर यह घाव जिस से मुझे 'फट कपाल' कहते हैं दीपक की तरह काम देता है। मुझे यह मार्ग-दर्शन कराता है। पड़ोसी ने आश्चर्य से पूछा—'यह कैसी बात करते हो! यह दीपक का क्या काम करता है? रामजी भाई ने कहा—"हाँ भाई सुनो मेरे इस घाव की कहानी। जब मैं छोटा था और काठियावाड़ में रहता था तब मेरे माँ-बाप बड़े गरीब थे। तुम्हारी तरह वहाँ भी मेरे मकान के पास एक धनवान् पुरुष रहते थे। वे मेरे माता-पिता से बोलने में भी पाप समझते थे क्योंकि उस समय हम गरीब थे। लेकिन बालकों के दिल में गरीबी की दीवार नहीं होती है। अतः हम बच्चे-बच्चे रोज मिलते रहते थे। सेठ के बच्चे रोज फल फ्रूट खाते थे और छिलका हमारे ऊपर फेंकते थे। वे रोज रोज मिठाई खाते थे पर दोना हमारे ऊपर फेंकते थे। उनको खाते देख कर हम भी अपने माँ-बाप से मिठाई माँगते थे पर माँ-बाप भी दुखी होते थे और हमारे साथ रो देते थे। इसके सिवाय उनके पास और था ही क्या ?

आज हमें भी यह विचार करना है कि हम भी अपने बाल-बच्चों को इस तरह प्यार कर दूसरे बाल-बच्चों पर अत्याचार तो नहीं कर रहे हैं।

रामजी भाई ने आगे कहा—भाई, इस तरह रोज-रोज हम

अपने माता-पिता से कहते थे और रोते-झगडते थे। तब एक दिन मेरी माँ उनके घर पर गई और सेठानीजी से बोली— "सेठानीजी आपके इस सुख को देखकर हम बडे खुश है और हमारी यह दुआ है कि आप इससे भी अधिक सुखी हो, लेकिन मैं आपसे एक अर्ज करने आई हूँ, कि आपके बच्चे रोज-रोज बाहिर चबूतरे पर बैठकर मेवा-मिठाई खाते हैं, जिनको देख कर मेरे बच्चे भी खाने के लिये मुझ से लडते हैं। अत अगर आप अपने बच्चो को अन्दर बैठा कर खिलायें-पिलाये तो अच्छा होगा। इससे हमारा यह रोज का रोना-पीटना मिट जायगा।" इस प्रकार मेरी माँ ने तो विनय पूर्वक सेठानी से अपनी बात कह दी, लेकिन सेठानी मद मे थी, मेरी माँ की बात का मर्म नही समझ सकी। उसने कहा "मेरे बच्चे खावे और तुझे वह हजम नही हो तो मै क्या करूँ? ईश्वर की कृपा से मुझे सब साधन मिले हैं। अगर मेरा यह सुख तुझे पसन्द नही आता हो तो तू अपनी आखें फोड डाल? मेरे बच्चे तो खावेंगे और इसी तरह खावेंगे।" रामजी भाई की मा ने चुपचाप सेठानी की बात सुनी और वह दुःखी होकर अपने घर लौट आई। रामजी भाई कहते गए—"जैसे ही मेरी माँ घर आई, मैंने उसका पल्ला पकडा और कहा—मा मुझे भी बरफी दे, सेठ के लडके बरफी खा रहे है, मुझे भी दे। माँ क्रोध में तो थी ही लेकिन मेरी इस जिद से उसका वह क्रोध साकार हो गया और उसने मेरे सिर मे, पास ही पडे हुए चिमटे को उठाकर, दे मारा। आज जो घाव तुम्हे दीख रहा है, यह उसी दिन मारने से हुआ था। फिर तो मेरी मा बहुत रोई और पछताई भी लेकिन जो होना था वह तो हो

चुका था। १५ दिन बाद वह मेरा दुःख तो दूर हो गया पर मेरे हृदय में वह भाव जम गया। उस दिन से मैंने कभी अपनी माँ से न तो कुछ मागा ही और न किसी के लिए लड़ाई ही की। कुछ वर्षों बाद हम विदेश में आये। ईश्वर की दया से आज मेरी स्थिति ठीक है। लेकिन आज भी जन्म मुझे यह कहता है कि दूसरे के धन को देखकर तो तेरे कपाल मे जन्म हुआ है परन्तु अपना दिखावा कराकर दूसरे के हृदय में भाव नही करना। बन्धुओ! क्या आप भी कभी ऐसा सोचते हैं कि हम कहीं विलास के वस्तुओं का प्रदर्शन कर दूसरों का बुरा तो नहीं कर रहे हैं? विलास के साधनों के प्रदर्शन से होने वाले भयङ्कर परिणाम को सोच कर अगर हम उन वस्तुओं का नाश करेंगे और सादगी को अपनायेंगे तो हम अपना और समाज का कल्याण कर सकेंगे।

४६

सुवर्ण जीवन

हम सब अपना लम्बा जीवन जीना चाहते हैं। अगर कोई मनुष्य किसी से यह कहे कि अमुक दिन तुम्हारी मृत्यु होने वाली है तो यह सुन कर वह घबरा जाता है और उस मृत्यु को टालने की कोशिश करता है। इससे जाहिर है, कि हर एक मनुष्य जीना चाहता है और बडे लम्बे समय तक जीना चाहता है। लेकिन बुद्धिमान मनुष्यो ने कहा है, कि मानव को अपना लम्बा जीवन जीने की फिकर नही करनी चाहिये, वह भले ही कम जीवे, पर अच्छा कैसे जीवे, यही उसे सोचना चाहिये। आप सब जानते हैं कि गजसुकुमाल अपनी छोटी-सी जिन्दगी मे केवल १२ वर्ष की उमर मे, ही मोक्ष प्राप्त कर गये, पर दूसरे मनुष्य सैकडो वर्ष जीवित रहकर भी कुछ नही कर सके। दूर की बात जाने दीजिये। आपकी आंखो के सामने का ही जिकर है, हमारे यही (बम्बई मे) बाबू जीवन नामक एक लडका, देश की खातिर मोटर के नीचे आगया और कुर्बान हो गया, उसका वह छोटासा जीवन भी कितना मूल्यवान था? कानपुर मे गणेशशकर विद्यार्थी देश-सेवा की खातिर कुर्बान हो गये, पर हम १०० वर्ष जीकर भी अगर दुनिया की भलाई के लिये कुछ नही कर सके तो

इस लम्बे जीवन का भी क्या मूल्य है ? अंग्रेजी के महाकवि लांगफेलो ने एक जगह कहा है—

'हम कितना लम्बा जीवन जीयें इस सवाल के बजाय किस तरह जीयें ? यह महत्त्व का प्रश्न है।

आइए आज इसी प्रश्न पर हम भी विचार करें कि मनुष्य को अपना जीवन किस तरह जीना चाहिये ?

आप सब यह जानते हैं कि दुनिया में मुसाफिरी के तीन मार्ग हैं—आकाश मार्ग स्थल मार्ग और जलमार्ग। ठीक इसी तरह जिन्दगी की मुसाफिरी के भी तीन मार्ग हैं—आधिभौतिक आधि दैविक और आध्यात्मिक। जिन्हें कि हम जड़वाद बुद्धिवाद और आत्मवाद के नामों से भी पहचान सकते हैं।

जड़वाद यानी जमीन पर चलना।

बुद्धिवाद यानी पानी पर चलना।

आत्मवाद यानी आकाश पर चलना।

अब इन में से हमें किस मार्ग पर चलना है इसका विचार करना चाहिये। जड़वाद के बल बूते पर चलने वालों का जीवन जमीन पर पेट रगड़ कर चलने वाले कीड़ों की तरह होता है। सम्पत्ति इकट्ठी करना और उसका उपभोग करना ही उनका एक काम मात्र होता है। आज के धनवान् मनुष्य और क्या करते हैं ? वे इसी में सुख समझते हैं पर यह मान्यता उनकी खोटी है। मरु भूमि में मृग जैसे पानी के भ्रम में मारा मारा फिरता है पर पानी कहीं नहीं पाता यही हाल जड़वाद पर चलने वालों का भी होता है। वे पैसों में सुख समझते हैं पर दरअसल मृग की तरह उन्हें उनमें सुख नहीं मिलता है। सुख उनसे दूर भागता जाता है।

लेकिन आज जिधर देखिये उधर इसी भ्रम की पुष्टि की जा रही है। मानव जड के पीछे दीवाना बना जा रहा है। इस की रक्षा के लिये विज्ञान ने अणुवम की खोज की है, पर यह सच समझ लीजिये, कि वह अणुवम या अणुवम का विरोधी शस्त्र भी क्यो नही खोजे, पर वह निकम्मा ही है।

विज्ञान ने आज मनुष्य का मनुष्यत्व छीन लिया है और उसे स्थलचर, जलचर वना दिया है। अत जडवाद पर चलना इन्सान का कर्त्तव्य नही है। उपनिषद् मे एक जगह कहा है—

'सत्य का मुख सोने (सुवर्ण के ढक्कन से ढाँका हुआ है। सत्य के दर्शन के लिये साधक ईश्वर से प्रार्थना करता है कि—हे ईश्वर! तुम इस सुवर्ण पात्र को खीचलो और मुझे सत्य के दर्शन करने दो।' वन्धुओ! यह एक रूपक है। इसका तात्पर्य यह है कि जव तक हमारे हृदय पर स्वर्ण का ढक्कन होगा तव तक हम सत्य के दर्शन नही कर सकेंगे।

एक धर्मगुरु के पास एक आदमी आया और वोला—ईश्वर कहाँ है? मुझे तो कही भी नजर नही आता है। धर्मगुरु ने एक कागज पर ईश्वर लिखा और उससे कहा—यह क्या लिखा है? आगन्तुक ने पढा—ईश्वर। फिर उस पर एक सोने की मोहर रख कर धर्मगुरु ने पूछा—यह क्या है? उस आदमी ने कहा—मोने की मोहर। तव धर्मगुरु ने उसे समझाते हुए कहा—भाई, जैसे इस सोने की मोहर के नीचे ईश्वर दव गया है, वह दिखाई नही पडता है, वैसे ही मनुष्य की नज़र जव जड वस्तुओ की तरफ जाती है तव वह ईश्वर को नही देख पाता ह, उस समय उसे न अपनी भलाई दीखती है और न दुसरो की। चारो तरफ उसे केवल जड-स्वार्थ ही

दिखाई पड़ता है। तब फिर ईश्वर के दर्शन कैसे हो सकते हैं?

जड़वाद के प्रभाव में हम आकाशगामी-सन्त-पुरुषों को भी नहीं देख सकते हैं। महापुरुषों को देखने के लिये भी महान् हृदय की जरूरत होती है। हम में से कुछ लोगों का यह खयाल है कि महात्माजी अव्रती थे और इसकी सफ़ाई में वे यह कहते हैं कि उन्होंने सम्यक्त्व कब लिया था? लेकिन मैं उनसे यह कहना चाहती हूँ कि आप दूसरों के हिसाब-किताब क्यों तपासते हैं पहले अपना ही क्यों नहीं तपासते? जहाँ तक हम ही सम्यक्त्व न लें या समकिती न बन वहाँ तक हम दूसरे को कैसे समझ सकते हैं कि वह सम्यक् दृष्टि है या नहीं। आज जो केवल एक पाई के लिये ही अपना सम्यक्त्व बेच देते हैं वे यह कहने का क्या अधिकार रखते हैं कि दूसरा व्रती है या अव्रती? सम्यक्त्वी है या मिथ्यात्वी? अतएव जब तक मनुष्य जड़वाद पर चलता है तब तक वह आकाशगामी मार्ग पर नहीं चल सकता है।

जड़वाद की वस्तुओं को इकट्ठा करने के लिये कितने पाप करने पड़ते हैं? जब तक आप दूसरों की सम्पत्ति न लूट तब तक आपके पास पैसा इकट्ठा नहीं हो सकता है। यह जानी हुई बात है कि जैसे कुम्हारी के पास एक तरफ मिट्टी का खमभा होता है तो दूसरी तरफ खड्डा भी इसी तरह पैसे वालों को भी यह समझ लेना चाहिये कि मले ही वे एक तरफ अपनी तिजौरी भरें पर दूसरी तरफ तिजोरी खाली भी होती है।

मनुष्य का जीवन आज हिंसक पशुओं से भी खराब हो गया है। एक समय की बात है—एक राजकुमार शिकार खेलने गया। जङ्गल में जाते हुए उसे एक साभर दिखाई पड़ा

और उसने उसी के पीछे अपना घोडा दौडा दिया। साभर आगे-आगे भागा जा रहा था और राजकुमार भी उसके पीछे-पीछे अपने घोडे को दौडाता हुआ चला जा रहा था। बहुत दूर निकल जाने पर सामने एक झील आ गई, जहाँ साभर रुक गया। अब आगे भागने का कोई चारा नही था। इतने मे राजकुमार भी आ पहुचा और उसने निशाना मार कर साभर का काम तमाम कर दिया।

शाम हो गई थी। राजकुमार ने शिकार तो कर लिया, पर अब वापिस घर कैसे जावे ? इसी विचार मे वह वहाँ बैठ गया। इतने मे एक सन्यासी उसे दिखाई दिया, जो कि बडा मस्त दिखाई देता था। उसने जब साभर मरा हुआ देखा तो राजकुमार से कहा—शाबाश, राजकुमार! तुमने आज बडा अच्छा शिकार किया है ? मालूम होता है तुम इस शिकार से कुछ थक से गये हो। चलो, मेरी कुटिया मे कुछ आराम करलो। राजकुमार ने अपना घोडा बाधा और सन्यासी की कुटिया मे बैठ गया। सन्यासी ने उसे थोडी देर बाद भोजन कराया और फिर स्वय सगीत मे तल्लीन हो गया। कुछ देर बाद जब उसने अपना सगीत बन्द किया तो राजकुमार ने कहा—महाराज, ऐसा सगीत तो मैने आज तक अपनी जिन्दगी मे नही सुना। इच्छा तो ऐसी होती है, कि अगर मेरा विवाह नही हुआ होता तो मै आपको कभी नही छोडता।

सन्यासी ने राजकुमार से कहा—भाई, रात काफी हो गई है अत आज तुम यही रह जाओ। मुझे भी शिकार का शौक है अत हम तुम दोनो रात को शिकार खेलने चलेगे।

राजकुमार के मन मे कुछ उथल-पुथल तो हुआ, पर शिकार

के नाम से उसने वहाँ रुकना मंजूर कर लिया। रात को दस बजे सन्यासी ने राजकुमार से कहा—चलो उठो अब हम शिकार करने चलें। संन्यासी और राजकुमार दोनों चलते चलते एक पेड़ के नीचे आये जहाँ कई मनुष्य बैठे हुए थे। उनकी तरफ इशारा करते हुए संन्यासी ने कहा—राजकुमार, तू इनका शिकार कर ? ये वे चोर हैं जो नाहक मनुष्यों को तंग करते हैं और उनका धन हरण करते हैं। अब तू इनका शिकार कर। ये हिंसक पशुओं से भी ज्यादा भयंकर हैं। राजकुमार ने गोली चलाने के लिये अपनी बन्दूक उठाई कि सन्यासी ने कहा —ठहरो अभी इससे भी आगे अच्छा शिकार मिलने वाला है। दोनों आगे बढ़े। चलते-चलते सन्यासी ने एक पेड़ पर चढ़कर राजकुमार, से कहा—राजकुमार देखो इस मकान में सफेद पोष धारण किये हुए खौफनाक भेड़िया बैठा हुआ है। उसने राजकुमार को एक महल्ल बताया जो अपने पास बैठी हुई सुन्दर-सुन्दर रमणियों से हंसी-दिल्लगी कर रहा था। संन्यासी ने कहा—राजकुमार ! ये दिन के महन्त हैं और रात के विलासी तू इनका शिकार कर। राजकुमार अपना निशाना ताकता है पर सन्यासी उसका हाथ थामते हुए कहता है—ठहरो अभी आगे कुछ और अच्छा शिकार मिलने वाला है। दोनों वहाँ से भी आगे बढ़ते हैं। आगे जाते हुए वे एक हाईकोर्ट में पहुँचे जहाँ मनुष्यों का इंसाफ किया जाता था। सन्यासी ने कहा—राजकुमार यहाँ दिन में न्याय होता है पर यही रात में पैसा से बेच दिया जाता है। देखो यहाँ क्या आवाज हो रही है ? दोनों चुपचाप वहाँ खड़े होकर सुनने लगे। एक धनवान पुरुष जज से कह रहा था—सरकार, मैं दस हजार रुपये दीजिए

और मुझे वचा लीजिये । राजकुमार यह देखकर गोली चलाने लगता है, पर सन्यासी ने कहा—अभी ठहरो, इससे भी वढिया शिकार तो आगे मिलने वाला है । तब वह उसे व्यापारियो के पास ले गया और कहा—तू इनका शिकार कर, ये गरीवो को लूटकर अपना घर भरते हैं, व्लेक मार्किट करते हैं और मौज़-मजा करते हैं । इस तरह सन्यासी जहाँ जहाँ भी राजकुमार को ले जाता है, वहाँ-वहाँ वह धर्म को छोडकर जडके पीछे ही अधर्म और स्वार्थ का पोपरण होते देखता है । आखिरकार सन्यासी उसे घुमा-फिरा कर वापिस अपनी झोपडी पर लाता है, और इस तरह समझाते हुए सूर्योदय होने पर उसे विदा करता है । यहाँ कहने का मतलब इतना ही है कि जडवाद तमाम खुराफातो की जडहै, उसमे लाभ नही, हानि ही है, अत उसके मार्ग पर नही चलना ही बुद्धिमानी है ।

दूसरा मार्ग है—बुद्धिवाद यानी जलमार्ग । कई मनुष्य बुद्धि से जो सिद्ध होता है उसे ही मानते है । तर्क से सिद्ध होने वाली वातो पर ही वे विश्वास रखते हैं । लेकिन ज़रा सोचने की वात है, जो काम हथौडे से किया जाता है, वह जैसे हाथ से नही किया जा सकता है और करे तो हाथ टूट जाने का भय रहता है, वैसे ही जो चीज़ विश्वास से मानने की होती है उसे तर्क से कैसे समझी जा सकती है ? क्योकि तर्क तो सत्य दिशा में भी होता है और असत्य दिशा मे भी ।

काका साहव कालेलकर जव एक वार जेल मे थे तव उनके साथ एक मुस्लिम भाई भी थे, जिन्हे वन्दरो से वडी चिढ-सी थी । वे रोज-रोज उन्हे एक कोठरी मे वन्द कर तग किया करते थे । एक दिन काका साहव ने उनसे कहा—आप इन

बन्दरों को तम क्या करते हैं ? इनको निकाल क्यों नहीं देते ?

मुस्लिम भाई ने कहा—ये तो मेरे धर्म हैं इन्हें कैसे खोड़ूं ? काका साहब ने कहा—ये तुम्हारे धर्म कैसे हैं ?

उनने कहा–मक्का मेरे धर्म है। उसे हम बन्दर कहते हैं धर्म से बन्दर भी मेरे धर्म हो है।

बन्धुओ ! यह दलील कैसी झूठी है ? पर प्राय बुद्धिवादी मनुष्य इन्हीं तर्कों का आश्रय लेता है और अपना धर्म खो बैठता है अत ऐसा जीवन भी हमारे लिये उपयोगी नहीं है।

अब तीसरा मार्ग है—आत्मवाद का आध्यात्मिक मार्ग। यही मार्ग हमें ऊंचा उठा सकता है। आध्यात्मिक मार्ग का मतलब अगर कोई यह समझे कि इस पथ पर चलने वाले मनुष्य को संसार में नहीं रहना चाहिये या साधु बन जाना चाहिये तो ऐसा समझना ठीक नहीं है। साधु बन जाने पर या दुनिया को छोड़ कर जंगल में चले जाने पर भी अगर ईर्षा-द्वेष-छल कपट को नहीं त्यागा तो वह संसार ही है अत संसार को छोड़ जाने से या साधु बन जाने से ही कुछ लाभ नहीं लाभ है आध्यात्मिक मार्ग की तरफ अपना कदम बढ़ाने पर। वह चाहे साधु बन कर बढ़ाया जाय या एकान्त जंगल में रह कर उसकी साधना की जाय या संसार में रह कर की जाय अवश्य लाभदायी होती है।

जिस पुरुष के हृदय में आत्म-विश्वास हो और जो सदैव प्रसन्न-मुख रहता है वही आध्यात्मिक मार्ग पर चल सकता है और उसे ही आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाला भी समझना चाहिये। अंग्रेजी में कहा है —

तुम जब कुछ भूल जाओ पर दो बातें मत भूलो—काम

देना और क्षमा करना । इन दो बातो को याद रखने से ही तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा । तुम्हारे पास जो कुछ भी हो, उसे खुले हाथो से लुटा दो—और कोई तुम्हारा कुसूर करे तो उसे क्षमा कर दो, बस ये दो बाते ही तुम्हारे लिये काफी हैं, जो तुम्हे इन्सान से भगवान् बना देंगी ।

जडवस्तुओ का त्याग अध्यात्मवाद है और उनका सग्रह करना जडवाद । गुरु गोविन्दसिह का एक किस्सा है—एक बार जब वे जमुना के किनारे बैठे हुए थे उस समय उनका एक श्रीमन्त शिष्य—रघुनाथदास उनके पास अपनी भेट लेकर आया और बोला—लीजिये, आज मेरी यह भेट स्वीकार कीजिये । भेट में दो सोने की बगडियाँ थी, जिनमे कीमती हीरे लगे हुए थे ।

गुरु गोविन्दसिह अध्यात्मवादी पुरुष थे । उनकी नजरो म मिट्टी और सोने मे कोई भेद नही था । वे उन बगडियो को लेकर अपनी अगुलियो मे फिराने लगे । फिराते-फिराते एक बगडी जमुना मे जा गिरी । भेट देने वाला तुरन्त जमुना मे कूद पडा, पर बगडी उसे नही मिली । विवश हो जब वह खाली हाथ लौटा तो गुरु गोविन्दसिह ने वह दूसरी बगडी भी फेंकते हुए कहा—देख' बगडी वहाँ पडी है । इस प्रकार जो मनुष्य सोना और मिट्टी को एक समान समझना है वही मनुष्य आकाशगामी बन सकता है और पवित्र आध्यात्मिक जीवन जी सकता है । यह निश्चय समझिये कि जब तक मनुष्य जडवाद को छोडकर अध्यात्मवाद को ग्रहण नही करेगा तब तक वह सत्य के दर्शन से वचित ही रहेगा, इसीलिये उपनिषद् मे यह जरा सत्य कहा गया है कि—'सत्य के दर्शन के

लिये सोने का ढक्कन उखाड़ कर फेंक देना चाहिये। इसलिये यदि हमें अपना सुवर्ण जीवन बनाना है तो सत्य पर जमे हुए सोने के ढक्कन को उखाड़ कर आध्यात्मिक मार्ग पर गति करनी चाहिये। आध्यात्मिक मार्ग पर गति करते हुए यदि दान देना और क्षमा करना ही हमारे जीवन मूल बन जायें तो हम अपना जीवन शान्ति के मार्ग पर अग्रसर कर सकते हैं और अपना जीवन सुवर्ण जीवन के रूप में चमका सकते हैं।

५०

त्याग

सारा ससार आज विपय और कषाय की आग मे जल रहा है। भगवान् महावीर की तरह भगवान् बुद्ध ने भी अपने चार आर्य सत्य का उपदेश देने से पूर्व यही कहा है कि सारा ससार विषय और कपाय की ज्वाला मे जला जा रहा है। पतजली ने अपने योग-सूत्र मे कहा है–'वुद्धिमान मनुष्य के लिए धन-सम्पत्ति आदि भौतिक वस्तुएँ आग की तरह जलाने वाली हैं।' महात्मा कवीरदासजी ने भी कहा है कि 'इस ससार मे सव अपनी-अपनी आग मे जल रहे हैं।' विपय और कपाय की इस आग में जलते हुए कई मनुष्य यह सोचते हैं कि हम विवाहित होकर यानी स्त्री को पाकर शान्ति प्राप्त कर मकेंगे। कई पैसो से शान्ति चाहते है। विद्यार्थी परीक्षा-पास का सर्टिफिकेट लेकर शान्ति चाहता है। छोटा अधिकारी वडा ओहदा चाहता है और उसी मे शान्ति समझना है, पर यह सव मिल जाने पर भी शान्ति किसी को भी नही मिलती, सव अपनी-अपनी आग मे ही जलते रहते है। एक मनुष्य जो स्वय अपनी आग में जल रहा हो, वह दूसरे की क्या रक्षा कर सकता है ? आग से वचाने के लिये तो ऐसा महापुरुप होना चाहिये जो स्वय आग से वहुत दूर हो और उस पर काबू

पाया हुआ हो । भाग्य से हमारे यहाँ ऐसे फायर ब्रिगेडियर हुए हैं जिन्होंने हमें इस आग से बचने के लिए त्याग का पानी बताया है—शील का पानी दिया है जिसके जरिये हर एक मनुष्य अपनी-अपनी आग को बुझाकर शान्ति पा सकता है।

मनुष्य सुबह उठकर सूर्य की तरफ पीठ करके चले तो उसकी छाया (परछाई) उससे आगे-आगे दौड़ेगी जिसे वह लाख कोशिश करने पर भी नहीं पकड़ सकता है परन्तु जब वह सूरज के सामने मुख करके चलने लगता है तो उसकी परछाई जो आगे-आगे भागती थी उसके पीछे-पीछे भागने लगती है। यही हाल भौतिक सम्पत्ति का भी होता है। मनुष्य जब उसका पीछा करता है तो वह भी परछाई की तरह आगे आगे भागती है पर वह उसकी तरफ पीठ करके चल देता है तो वह भौतिक सम्पत्ति भी उसके पीछे-पीछे हो लेती है।

साधारण जन-समाज यहाँ यह कहता है कि 'आँख खोलो और देखो' वहाँ आध्यात्मिक लोग कहते हैं कि 'आँख बन्द करो और देखो'। साधारण मनुष्य जहाँ 'अधिकार चाहिये' कहता है वहाँ वे अधिकार छोड़िये' कहते हैं। गीता में भी कहा है—

'जो सब प्राणियों के लिए रात है वह इनके लिए दिन है और जहाँ सबको दिन दीखता है वहाँ इनके लिए रात होती है।

साधारण मनुष्य को जहाँ संयम और तप में पाप दिखाई देती है वहाँ इन आध्यात्मिक ज्ञानियों को उसी में शान्ति दिखाई पड़ती है। ऐसे आध्यात्मिक पुरुष यानी आप

को बुझाने वाले Fire Brigadier हमारे सद्भाग्य से पहले भी हुए हैं और आज भी हैं, लेकिन इनके पीछे-पीछे चलने वाले लोग यदि खुद ही आज आग मे जल रहे हो तो वे कैसे दूसरे को शान्ति दे सकने हैं ?

एक दिन किसी के यहाँ आग लग गई। उस समय एक बुद्धिमान् मनुष्य से दूसरे आदमी ने आकर कहा—चलो, आग बुझाने के लिये चलें।

बुद्धिमान मनुष्य ने कहा—किसकी ? अपनी या दूसरे की ? दूसरा आदमी कुछ समझा नही और चला गया। फिर आकर बोला—मैं आग बुझा कर आया हू।

ज्ञानी ने कहा–किसकी ? अपनी या दूसरे की ?

बन्धुओ ! यह सारा ससार आग मे जल रहा है। कौन शान्ति मे है ? यह एक विकट सवाल बन गया है। एक करोड-पति होकर भी अगर ईर्षा की आग मे जल रहा हो तो क्या वह एक करोड की सम्पत्ति भी उसे शान्ति दे सकती है ? एक आदमी बडे परिवार का हो, पर क्रोधी हो, तो क्या वह शांति प्राप्त कर सकता है ? जब तक मानव अपनी आग मे जलता रहता है तब तक वह शान्ति नही प्राप्त कर सकता।

मनुष्य चाहे तो देव भी हो सकता है और शैतान भी। एक अग्रेज लेखक ने कहा है–

'मुझे स्वर्ग मे जाने से पूर्व स्वर्ग को अपने हृदय मे उतारना है।' हमने भी ऐसा ही कहा है–'मनुष्य अपनी जिन्दगी मे सेवा, दान, दया आदि के गुण उतारे तो स्वर्ग मे जा सकता है। और वही बिना कारण क्रोध करे तो नरक मे भी गिर सकता है।' अत मानव को यदि स्वर्ग मे जाना है तो

पाया हुआ था। भाग्य से हमारे यहाँ ऐसे फायर ब्रिगेडियर हुए हैं जिन्होंने हमें इस आग से बचने के लिए त्याग का पानी बताया है—शील का पानी दिया है जिसके जरिये हर एक मनुष्य अपनी-अपनी आग को बुझाकर शान्ति पा सकता है।

मनुष्य सुबह उठकर सूर्य की तरफ पीठ करके चले तो उसकी छाया (परछाई) उससे आगे-आगे दौड़ेगी जिसे वह लाख कोशिश करने पर भी नहीं पकड़ सकता है परन्तु जब वह सूरज के सामने मुख करके चलने लगता है तो उसकी परछाई जो आगे-आगे भागती थी उसके पीछे-पीछे भागने लगती है। यही हाल भौतिक सम्पत्ति का भी होता है। मनुष्य जब उसका पीछा करता है तो वह भी परछाई की तरह आगे आगे भागती है पर वह उसकी तरफ पीठ करके चल देता है तो वह भौतिक सम्पत्ति भी उसके पीछे-पीछे हो लेती है।

साधारण जन-समाज यहाँ यह कहता है कि 'आँख खोलो और देखो' वहाँ आध्यात्मिक लोग कहते हैं कि 'आँख बन्द करो और देखो। साधारण मनुष्य जहाँ 'अधिकार चाहिये' कहता है वहाँ ये 'अधिकार छोड़िये' कहते हैं। गीता में भी कहा है—

'जो सब प्राणियों के लिए रात है, वह इनके लिए दिन है और जहाँ सबको दिन दीखता है वहाँ इनके लिए रात होती है।

साधारण मनुष्य को जहाँ संयम और तप में आग दिखाई देती है वहाँ इन आध्यात्मिक योगियों को उसी में शान्ति दिखाई पड़ती है। ऐसे आध्यात्मिक पुरुष यानी आग

है ? हाथी को मार कर बकरी का दान देना, क्या ऐसा नही है ? अत अमर ने कहा कि ऐसा दान लेने के बजाय तो मर जाना ही योग्य है। क्योकि ऐसा दान लेने से तो हमारी वृत्ति भी खराब हो जायगी। अमर की पत्नी ने गहरा श्वास छोडते हुए कहा—क्या दुनिया मे कोई सच्चा दातार नही है ? जाओ, देखो और कुछ लाकर इन बच्चो को सन्तुष्ट करो। अमर राज-दरबार मे जाता है जहाँ युवराज महेन्द्र का राज्याभिषेक हो रहा था। सब उसको आशीर्वाद देते हैं। अमर भी आशीर्वाद देते हुए कहता है—'हे राजन् ! तू सिंहासन पर बैठ कर नही, प्रजा के हृदय पर विराज कर राज्य करना।'

महेन्द्र ने उसका आशय समझ कर कहा—अमर ! कुछ माग !

अमर ने सोचा—मै क्या मागू ? यहाँ भी प्रजा के पसीने से ही सारा खजाना भरा पडा है। उसने कहा—राजन् ! अपना यह वचन रहने दीजिये, मैं फिर कभी मागू गा।

राजा ने कहा—नही, अभी कुछ माग।

अमर ने कहा—महाराज, आप अपनी मेहनत का एक रुपया मुझे दीजिये।

यह सुन कर सब लोग चकित हो गये, पर महेन्द्र ने कहा–राजकवि ! तुमने जो बादशाही दान मागा है उसे मेरे बादशाही दिल ने भी समझ लिया है। आज का यह राज्याभिषेक बन्द रहेगा और मैं पहले तुम्हे एक रुपया दान मे दू गा। महेन्द्र अपने राज-सिंहासन से उठा और एक रुपया पैदा करने की तजवीज करने लगा। उसने बहुत सोचा-विचारा और देखा, परन्तु कही भी उसे मजूरी नही मिली। अन्त में

उसे शान्ति दया दान का पालन करना चाहिये। जब तक हम विषय-कषाय से बंधे हुये होंगे तब तक हम मुक्त नहीं हो सकेंगे। यह बिल्कुल सच मानिये कि हम भले ही तरह-तरह की क्रिया करते हों पर अन्तरंग क्रिया का पालन नहीं करते हों तो हम मुक्त नहीं हो सकते। हमारे धर्मशास्त्रों में तो यह स्पष्ट कहा है कि बाह्य क्रियाकांड तुम चाहे जितने करो और मुखवस्त्रिका का मेरु जैसा ढेर भी करलो पर आन्तरिक हृदय शुद्धि न करोगे तो तुम्हें मुक्ति नहीं मिल सकेगी। अतः त्याग और शील के पानी से मनुष्य को शांति प्राप्त करनी चाहिये।

अगर कोई पूरा त्याग नहीं कर सकता हो तो मार्गिक धर्म-दान का अनुसरण करना चाहिये। आज एक मानव चोरी करता है तो वह गुनहगार होता है। एक समय ऐसा कायदा भी था कि जो दंड चोर को दिया जाता था वही दंड कृपण को भी दिया जाता था। जो वस्तु के होने पर भी दूसरे को नहीं देता था वह भी चोर की तरह दंडित होता था अतः हम दान अवश्य देना चाहिये।

पुराने समय की बात है, अमर नाम का एक कवि था जो कि बड़ा अपरिग्रही था। एक दिन वह एक सेठ के घर पर कुछ मांगने गया। वहां वह बला तो गया पर उसने मांगा कुछ नहीं। खाली हाथ जब वह अपने घर आया तो उसके बच्चे रो रहे थे। उसकी पत्नी ने अमर से कहा—क्या आपकी विद्वत्ता की इतनी भी कद्र नहीं कि कोई आपको कुछ दे द? अमर ने कहा देते तो सब हैं पर कोई अहंकार से देता है तो कोई सैकड़ों को इमा कर देता है अतः ऐसा दान नहीं लेना चाहिये। बन्धुओ! आज का दान भी क्या ऐसा नहीं

है ? हाथी को मार कर वकरी का दान देना, क्या ऐसा नही है ? अत अमर ने कहा कि ऐसा दान लेने के वजाय तो मर जाना ही योग्य है । क्योकि ऐसा दान लेने से तो हमारी वृत्ति भी खराव हो जायगी । अमर की पत्नी ने गहरा श्वास छोडते हुए कहा—क्या दुनिया मे कोई सच्चा दातार नही है ? जाओ, देखो और कुछ लाकर इन वच्चो को सन्तुष्ट करो । अमर राज-दरवार मे जाता है जहाँ युवराज महेन्द्र का राज्याभिषेक हो रहा था । सव उसको आशीर्वाद देते है । अमर भी आशीर्वाद देते हुए कहता है—'हे राजन् ! तू सिंहासन पर वैठ कर नही, प्रजा के हृदय पर विराज कर राज्य करना ।'

महेन्द्र ने उसका आशय समझ कर कहा—अमर ! कुछ माग !

अमर ने सोचा—मै क्या मागू ? यहाँ भी प्रजा के पसीने से ही सारा खजाना भरा पडा है । उसने कहा—राजन् ! अपना यह वचन रहने दीजिये, मैं फिर कभी मागूंगा ।

राजा ने कहा—नही, अभी कुछ माग ।

अमर ने कहा—महाराज, आप अपनी मेहनत का एक रुपया मुझे दीजिये ।

यह सुन कर सव लोग चकित हो गये, पर महेन्द्र ने कहा—राजकवि ! तुमने जो वादशाही दान मागा है उसे मेरे वादशाही दिल ने भी समझ लिया है । आज का यह राज्याभिषेक वन्द रहेगा और मैं पहले तुम्हे एक रुपया दान में दूंगा । महेन्द्र अपने राज-सिंहासन से उठा और एक रुपया पैदा करने की तजवीज करने लगा । उसने वहुत सोचा-विचारा और देखा, परन्तु कही भी उसे मजूरी नही मिली । अन्त में

वह एक लुहार के पास भाया । लुहार के पास काम था। उसने कहा—इस लोहे को घन से पीटो और फिर बाद में पैसा लो। राजकुमार ने घन उठाया और पीटना शुरू किया। जैसे-जैसे वह घन चलता वैसे-वैसे उसके हृदय में विचारों का उथल-पुथल मचता—क्या पैसा यों पैदा किया जाता है? लुहार ने कहा—भाई पैसा हराम का नहीं माता है इसलिये विचार करना हो तो घर जाओ यहाँ तो काम करो और पूरे पैसे लो। महेन्द्र शाम तक मेहनत करता है और बदले में एक रुपया पाता है। उसे लेकर वह खुशी खुशी अमर के घर की तरफ चल देता है। मार्ग में जाते-जाते उसे विचार भाता है कि ऐसी खरी मजूरी के पैसा का हम लोग कितना मूल्य भाकते हैं? जो लोग कितने ही लोगों की महीनो की मजूरी को केवल एक घन्टे में ही अपने मौज-शौक मे उड़ा देते हैं वे क्या मानव हैं या दानव? राजा महेन्द्र उस दिन से राजा न रहकर मानव बन जाता है। वह कवि अमर के घर पहुंचता है और अपनी मेहनत का एक रुपया उसे दान में देता है। कवि उसे ले लेता है और प्रेम से आशीर्वाद देते हुए कहता है—

राजन्! तू सिंहासन पर ही नहीं प्रजा के हृदयासन पर विराजमान हो।

बन्धुओ! आज आपका पैसा भी खरी कमाई का पैसा नहीं है महज लूट है। जो जितनी अधिक लूट मचा सकता है वह उतना ही अधिक आज पैसा भी बटोर सकता है पर हर अमन जो ऐसा करता है वह खरा पैसा इकट्ठा नहीं करता है। खरा पैसा तो कुछ नवीनता पैदा कर ही इकट्ठा किया जा सकता है। आज आप हर रविवार को सिनेमा देख कर ?

या ५० रु० का पानी कर देते है, पर ऐसा करने का आपको अधिकार क्या है ? यह पैसा इकट्ठा कैसे होता है, क्या यह भी आप जानते हैं ?

आज आप दान देकर खुश होते हैं, पर क्या यह आपका सच्चा दान है ? सच्चा दान तो यह है कि आप अपनी मेहनत के पैसों मे से दें। ऐसा दान, जो कि त्याग धर्म का अश मात्र पालन है, अवश्य स्वीकार करना चाहिये। तभी आप अपने हृदय मे शान्ति रख सकेंगे।

गगा, यमुना और सरस्वती आदि नदियाँ जिस मैल को नही धो सकती उसे यह त्याग धर्म का पानी मात्र, धो सकता है। यह ही धर्म हमें दु ख के मार्ग से मुक्त कर सकता है। जो व्यक्ति इसका उपयोग कर लेता है, वह फिर इसे कभी नही छोडता।

अमेरिका का एक अरब पति सेठ था। वह एक दिन सडक पर घूमने जा रहा था। वहाँ उसने एक विधवा स्त्री को देखा, जो रास्ते पर खडी हुई रो रही थी। उसका सामान पास में पडा हुआ था और उसके बाल-बच्चे भी पास ही खडे हुए थे। उस धनपति से उसका यह दु ख नही देखा गया। वह अपनी मोटर मे बैठाकर उसे अपने घर चलने को राजी करता है और वहाँ उसे रहने के लिये स्थान देता है। अरब-पति सेठ की अवस्था ७० साल की थी, पर उस समय उसके मुख से यही निकला कि 'मेरी उम्र मे जो सुख मुझे अब तक नही मिला, वह आज त्याग करने पर मिला है।' हम स्वय भी इसका अनुभव कर सकते हैं। भोजन करते समय यदि कोई भिखारी आजाय तो उस समय देने वाले को कितनी खुशी

होती है ? अतः यह स्पष्ट है, कि त्याग में ही सुख है भोग में नहीं। बिजली चमकती है पर तत्क्षण वह बन्द हो जाती है। इसी तरह त्याग धर्मी और भोग धर्मी के दुःख भी तत्क्षण शांत हो जाते हैं। अतः इस संसार की आग से छुटकारा पाना है तो हमें त्याग धर्म का पालन करना चाहिये।

आज तो जो फायर ब्रिगेडियर हैं वे खुद ही आग से जल रहे हैं। भगवान् महावीर के फायर ब्रिगेडियर-साधु भी आज अपनी आग में जल रहे हैं। कोई सम्वत्सरी आज करो कहते हैं तो कोई 'कल करो' कह रहे हैं और इसकी पैरवी के लिए हाईकोर्ट तक की तैयारी भी की जा रही है। अतः ऐसे फायर ब्रिगेडियरों की तरफ देखे बिना हमें अपनी ही तरफ देखकर त्याग के धर्म को स्वीकार करना चाहिये और अपना कल्याण करना चाहिये।

। —

५१

धर्म का मर्म

सुज्ञ वहिनो ग्रौर प्यारे भाइयो !

हमारी यह धर्म परिपद् भारतवर्प के उत्कर्प की प्रतीक है। ऐसी परिपद धार्मिक मनुप्य के लिये प्रमोद का कारण बनती है। विदेशो मे कई ग्रर्से से ऐसी परिपदें हुग्रा करती हैं, कई एक परिपदो मे हमारे देश के ग्रार्यधर्मों के प्रतिनिधियो ने भी सम्मिलित होकर ग्रार्यधर्म का नाद गुजित किया है ग्रौर इतना ही नही भारत के प्रति विदेशियो के हृदय मे सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त किया है।

ग्रपने देश मे तो ऐसी परिपदे भाग्य से ही होती है। सब धर्म परिपद् का यह दूसरा ग्रधिवेशन ही है। यह हमारे लिये दु ख की वात है लेकिन काफी लम्बे समय से भी हम जागृत हुए हैं, इससे खुशी होती है। ग्रन्य विविध प्रकार की परिपदो से इस सर्व-धर्म परिपद् का एक विशिष्ट महत्व है। क्योकि यह परिपद् ग्रन्य सब परिषदो को सूर्य की तरह प्रकाश ग्रौर प्रेरणा प्रदान करती है।

ग्रपने देश की नीव धर्म पर स्थित है, ग्रपनी सस्कृति का मूल धर्म है, इसी तरह हमारी सब प्रवृतियो का केन्द्र भी धर्म [illegible] को वास्तविक

रूप में प्रकट करने के लिये और उसके ऊपर जमे हुए अन्ध श्रद्धा साम्प्रदायिकता तथा क्रियाकांडों के जालों को दूर करने के लिये यह जो प्रयत्न हो रहा है वह सचमुच स्तुत्य है और इसके सयोजक अभिनन्दन के पात्र हैं।

आज के नूतन विचार वाले नवयुवक जब धर्म का नाम सुनते हैं तो सुनते ही उसकी मजाक करने लग जाते हैं और झट बोल उठते हैं—"अरे मरणासन्न पड़े हुए धर्म को प्राणवायु देकर जीवित रखने की नाहक क्यों चेष्टा करते हो ?" जो भौतिकवादी धर्म का मर्म नहीं समझ सकते उनके लिये धर्म एक उपहास का विषय बन जाता है।

कोई वेद पुराण कुरान या बाइबिल रट लेने में कण्ठस्थ कर लेने में धर्म मानते हैं। कोई नमाज पूजा या प्रार्थना को धर्म समझते हैं। कोई चोटी दाढ़ी मूर्ति या मुहपत्ति को धर्म का चिह्न दिखाते है। कोई कलमा मामनी या धास्त्र गाथाओं में धर्म रहा हुआ समझते है। इस तरह धर्म का मर्म कोई कुछ तो कोई कुछ ही समझते हैं। पर धर्म का सच्चा मर्म कोई नही समझते।

पत्थर जैसे कठोर हृदय को संस्कारित कर कोमल बनाना मनको निर्विकार बनाना चित्त को निर्मल बनाना जीभ और कानको संस्कारित कर निरर्थक बातों पर—निन्दा से और आत्मश्लाघा से मुक्त बनाना और शरीर को अनासक्त कर्मयोग में प्रवृत्त करना इसी का नाम धर्म है और इसके लिये जो क्रियाएँ करनी पड़े वे सब धार्मिक क्रियाएं हैं।

तत्त्वज्ञान के विषय में बिल्कुल अनभिज्ञ होते हुए भी अत्यन्त धार्मिक जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य हमें दृष्टि-

गोचर होते हैं। दूसरी तरफ सर्व-ग्रन्थो का निचोड कर लेने पर भी धर्म से विमुख अनेको ऐसे मानवो को भी हम देखते हैं। जैसे केवल पाकशास्त्र की पुस्तको को पढने से ही रसोई बनानी नही आ जाती, तैरने का ज्ञान कराने वाली पुस्तको को पढने मात्र से ही कोई तैरने वाला नही बन सकता और सर्जरी की पुस्तके पढकर ही कोई सर्जन नही हो सकता, वैसे ही धर्म ग्रन्थो को पढ लेने मात्र से ही धार्मिकता नही आ जाती है। ग्रन्थो के पढने से बुद्धि खिलती है, पर धार्मिकता प्राप्त करने के लिये तो इच्छा शक्ति (will power) या सयम (Self control) बढाना पडता है। यह इच्छा शक्ति अथवा सयम, वैराग्य, श्रद्धा और सत्सग आदि से ही वृद्धिगत हो पुष्ट होती है। पठन-क्रिया से वैराग्य, श्रद्धा और सत्सग को पोषण नहीं मिलता, वरन् पाडित्य और ढोग का पोषण होता है। जानना, धर्म नही है, पर जीना धर्म है। अपने जाने, सुने पढे और विचारे हुए सत्य-सिद्धान्तो को अपने जीवन मे असली रूप देना यही धर्म का सत्य स्वरूप है।

सामायिक, ज्ञान, होम, पूजा, प्रार्थना, नमाज या सध्या आदि चाहे जितनी बाह्य क्रिया करने पर भी यदि मन मे हमारे मैल होगा तो यह निश्चय समझियेगा कि हम कभी भी धर्म को प्राप्त नही कर सकेगे। जब हमारा हृदय क्रोध से जल रहा हो, उसमे कपट का धुआँ उठ रहा हो, लालच का भूत छुपा बैठा हो, दुर्भावनाओ का राक्षस हृदय का राजा बना बैठा हो तो हम आगे प्रगति नही कर सकेगे। इन सब मे से जब किसी की न्यूनता होती है या कोई एक शत्रु कम होता है तभी हम आगे कूच कर सकते हैं। धार्मिक क्रियाओ

के करते रहने पर भी यदि हमारे हृदय में से विषय-कषाय की मात्रा कम न हो, ईर्षा द्वेष काम क्रोध और मोह न घटे हो तो यह निश्चय पूर्वक समझ लीजिये कि हमारी ये तमाम धार्मिक क्रियाएँ धर्मरूप नहीं धर्माभास रूप हैं। धर्म तो अन्तरंग शान्ति का नाम है। वह कहीं बाहिर नहीं रखा हुआ है वह तो व्यक्तित्व के विकास में समाया हुआ है।

अहिंसा सत्य आदि से रहित क्रियाएं व्यर्थ होती हैं। पाठशाला में दाखिल होते ही कोई बालक 'अ' नहीं लिख सकता है वह तो रिगड़े ही पाड़ेगा परन्तु यदि उसकी नजर उस 'अ' की तरफ रही तो उन रिगड़ों में से भी जरूर 'अ' निकलेगा ही परन्तु यदि उसकी नजर उस 'अ' की तरफ नहीं रही तो भले ही वह वर्षों तक रिगड़े पाड़ता रहे और पट्टी तथा कलम घिसता रहे पर वह कभी भी 'अ' नहीं बना सकेगा। कहने का आशय यह है कि लक्ष्य-पूर्वक की गई क्रियाएं ही सार्थक होती हैं लक्ष्य रहित निरर्थक। इतना ही नहीं कई बार तो लक्ष्य रहित क्रियाएँ भारभूत हानिकारक और मिथ्याभिमान का निमित्त भी बन जाती हैं।

आग के समीप जाने से ठण्ड मिटती है पानी से तृषा शान्त होती है वायु से भिन्न-भिन्न प्रकृति मुस्कराती है अन्न से भूख मिटती है और ताकत आती है आकाश स्थान देता है और ताजा रखता है इस तरह ये पाँचों तत्त्व अपने-अपने गुणानुसार अपना-अपना कम बजाते हैं। इसी तरह धर्म के गुण भी शान्ति और आनन्द हैं जिनकी प्राप्ति धर्माराधक को अवश्य होती ही है। जो धार्मिक प्रवृत्ति कम ज्यादा परिमाण में भी शान्ति और आनन्द में वृद्धि नहीं करती हो वह धर्म प्रवृत्ति

नहीं है और न उसे धर्म-प्रवृत्ति समझनी ही चाहिये ।

धार्मिक व्यक्ति के हृदय मे आनन्द का सागर लहराता है दुख या चिन्ता का वहाँ नामोनिशान तक नही होता । भय या विपाद तो उसको छूता भी नही है । कोई भी प्रलोभन उसे ललचा नही सकते । चाहे जैसे विपम प्रसगो मे भी उसे आवेश नहीं आता है । हर समय उसका आनन्द अखड और अविरल रहा करता है । उसके पास बैठने से दूसरो को भी आनन्द मिलता है । उसके सम्पर्क मात्र से ही मनुष्य की चिंता और भय दूर हो जाते हैं और हृदय निर्वैर बनता है । ऐसा जिसके जीवन सम्पर्क से ऐसा अनुभव होता हो वही सच्चा धार्मिक पुरुप कहा जा सकता है । फिर चाहे वह किसी जाति का या मुल्क का क्यो न हो ? चन्द्रमा को देखकर सबका हृदय पुलकित हो जाता है और पुरुप से जैसे सबको सुवास मिलती है, वैसे ही धर्मात्मा की सुवास भी सबको शांति देती है ।

कई एक लोग, पथ सम्प्रदाय या वाद को धर्म मान बैठते हैं, पर सत्य यह है, कि पथ या सम्प्रदाय धर्म के बाह्य कलेवर है । धर्म आत्मा की तरह है तो पथ या सम्प्रदाय उसके शरीर है । शरीर मे से जब आत्मा निकल जाता है तब उस शरीर को शीघ्रातिशीघ्र जला देना चाहिये, अन्यथा आत्मा-रहित शरीर दुर्गन्ध और बीमारी फैलाने लग जाता है । इसी तरह जिस पथ या सम्प्रदाय मे से धर्म तत्व चला गया हो तो फिर यह पथ या सम्प्रदाय मानव समाज मे गन्दगी पैदा करने वाला और हानिकारक बन जाता है । अत आत्मा रहित शरीर की तरह इसे भी दफना देना चाहिये ।

धर्म जहाँ गुणों के ऊपर रचा हुआ होता है और चारित्र को महत्व देता है वहाँ सम्प्रदाय गुणों की वृद्धि और चारित्र के विकास की उपेक्षा कर केवल विधि-विधानों को ही पकड़े रहता है। धर्म मनुष्य को नम्र बनाता है परन्तु पंथ मानव को मिथ्याभिमानी बनाता है।

धर्म मनुष्य के बीच में खड़ी हुई भेद भावों की दीवारों को तोड़ कर अभेदभाव की तरफ ले जाता है वहाँ पंथ भेद भाव की एक और नई दीवार खड़ी करता है।

धर्म मनुष्य को अनेक प्रकार के बन्धनों से मुक्त करता है परन्तु सम्प्रदाय 'यह करना और यह नहीं करना वहाँ जाना और वहाँ नहीं जाना' इसी तरह के कई प्रतिबन्ध लगाकर मनुष्य को भूल-भुलैया में डाल देता है।

पंथ या सम्प्रदाय का अन्ध क्रियाकांड बड़-पीपल की पूजा करना सिखाता है, पर प्यासे हरिजन को पानी पिलाना नहीं सिखाता है पर अपने आस-पास रहे हुए दीन दुःखी भाइयों की सहायता करना नहीं सिखाता। भज्ञ होम प्रतिष्ठा जैसे धार्मिक उत्सवों में लाखों का धुआं उड़ा देने को कहता है पर उन रुपयों को बचाकर उसका उपयोग लोकहित की प्रवृत्तियों में करने को नहीं सिखाता।

जो धर्म हमको गुणवान चारित्रवान नम्र तथा सच्चा सेवक बनाता हो जो हमारी बुद्धि को स्वतन्त्र रूप से विचार करने का अवसर देता हो वही सच्चा धर्म है। इसके सिवाय अन्य मत-पन्थ या सम्प्रदाय को धर्म के मृत देह की तरह समझ कर छोड़ देना चाहिये। शुद्ध सत्य धर्म कोई अमुक मत पंथ या सम्प्रदाय का ही नहीं होता वह तो हवा और

आकाश की तरह सर्वत्र व्यापक होता है। किसी एक ही की मालिकी का नही होता। इसलिये हम जो कहते हैं कि 'भाई जो पाले उसी का धर्म' यह लोकोक्ति सचमुच सत्य ही है।

धार्मिक मनुष्य की धार्मिकता का रग उसके प्रत्येक कार्य में दीखना ही चाहिये। इतना नही, पर उसकी जिन्दगी की प्रत्येक घडी धर्म प्रवृत्ति मे ही व्यतीत होनी चाहिये। धर्म यह कोई एकादशी के दिन या पर्युषण अथवा ईद और रविवार के दिन ही पालने का हो और वह भी मस्जिद, मन्दिर और गिरजो में ही, दुकान या घर में नही, ऐसे कोई भी बधन धर्म को स्पर्श ही नही कर सकते। धर्म स्थान तो एक स्कूल की तरह है जहाँ इन्सान अपने जीवन को धार्मिकता के रग में डुबोना सिखाता है। जहाँ धर्म के पाठ पढता है, पर उन सीखे हुए पाठो का उपयोग तो हमारे घर, दुकान, व्यापार और व्यवहार मे ही करना है। अगर ऐसा नही करेंगे तो धर्मस्थानको मे जाकर 'भण्या पर गण्या नही हमारे लिये कहा जायगा।

तोते ने एक वाक्य रट रखा हो कि 'बिल्ली आवे तो उड जाना, पर जब बिल्ली का पजा तोते पर गिरने वाला हो उस समय अगर तोता अपने रटे हुए पाठ का उपयोग न करे तो क्या वह बच सकेगा ? इसी तरह हम भी धर्मस्थानको मे नीति, न्याय, प्रामाणिकता, सत्य, प्रेम, सतोष, दया आदि के पाठ तो पढे ,पर जब उनको कर्त्तव्य मे रखने का समय आवे तब हम उनको भूल जाय तो ? तब हमारा ज्ञान भी क्या 'तोता-ज्ञान' नही कहा जायगा ? ऐसा ज्ञान भाररूप बन जाता है और जैसा कि पहले मैं कह चुकी हू यह मिथ्या-

भिमान और दंभ का कारण भी बनता है।

हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति सोचना चलना खाना पीना व्यापार करना आदि धर्म से ओत प्रोत होनी चाहिये। धर्म के आचरण धर्म स्थानक में ही करना चाहिये उसके बाहिर नहीं ऐसी मान्यता भूल भरी है। अभी इतना अधिक समय नहीं है, कि मैं आप सबको अपने धर्मग्रन्थों के उद्धरण देकर बताऊं अन्यथा मैं आपको यह सिद्ध करके दिखा देती कि महापुरुषों ने तो जीवन व्यवहार में ही धर्म का आचरण करने का उपदेश दिया है। और उन्होंने स्वयं भी अपने जीवन में ऐसा करके दिखा दिया है। सीमेंट कंकरीट के बने हुए राज मार्ग पर जूते पहन कर चलना और कांटों से भरी पगडंडियां आवें तब अपने जूतों को हाथ में लेकर नुंगे पैरों चलना जितना मूर्खतापूर्ण है उतना ही मूर्खतापूर्ण यह भी है कि व्यवहार जीवन के कांटों से भरे हुए पंथ में धर्म का आचरण न करते हुए केवल धर्म स्थानक में ही उसका पालन करना। धर्म कुछ व्यवहार से जुदा नहीं है पर जीवन व्यवहार की शुद्धता का नाम ही धर्म है।

धर्म शब्द के स्वभाव और कर्त्तव्य ऐसे दो अर्थ हैं। मनुष्येतर प्राणियों के कर्त्तव्य उनके स्वभाव ही बन जाते हैं परन्तु मनुष्य के बारे में ऐसा नहीं है। उसके स्वाभाव और कर्तव्य जुदे-जुदे होते हैं।

मनुष्य अपने स्थान पर स्थिर रहकर, मन को पवित्र कर व्यवहार शुद्ध बनाकर अपने कर्त्तव्य का पालन करे यही उसका धर्म है। डाक्टर को अपने बीमार को उपास्य देव समझ कर उसकी सेवा करनी चाहिये। वकील को अपने

असील (ग्राहक) को उपास्य देव समझकर उसको न्याय दे देना चाहिये अथवा उसे न्याय मार्ग पर ला देना चाहिये। गुरु का कर्त्तव्य है, कि वह शिष्य को अपना उपास्य देव समझे और उसका कल्याण करे। व्यापारी को अपने ग्राहक को उपास्य देव मानकर उसको उचित मूल्य मे अच्छी चीज देनी चाहिये। राज्य-सेवक का फर्ज प्रजा को सुख सुविधा देना है। प्रजाहित के लिये राज्य कर्मचारियो को अपने सर्वस्व का भी भोग दे देना चाहिये।

सरकारी कर्मचारी आज तक His Majesty's Servant कहे जाते थे। His Majesty यानी नामदार महाराज जार्ज या एडवर्ड आदि जो भी कुछ हो। और राज कर्मचारी उनके नौकर कहे जाते थे। परन्तु His Majesty स्वय प्रजा का सेवक है अत ये राजकर्मचारी तो सेवक के भी सेवक यानी दासानुदास हुए। आज तक लिखने मे तो ऐसा ही लिखा जाता था, पर इन दासानुदास कर्मचारियो ने काम कुछ दूसरी ही तरह किये हैं। यदि वे सचमुच प्रजा के सेवक बने रहते तो आज प्रजा का ऐसा हाल नही होता। खैर! आज तक की बात तो जाने दीजिए, पर आज के राज्य कर्मचारी प्रजा के सच्चे सेवक बनें—ऐसी आशा रखना अस्थानीय नही है। आज म्युनिसिपालिटी, कोर्ट, कचहरी, काउसिल, एसेम्बली और पार्लमिण्ट तक जो कर्मचारीगण बैठे हुए हैं, वे प्रजा को अपना उपास्य समझकर उसका हित सोचकर अपनी नौकरी बजावेंगे तो हमारे देश का भविष्य अवश्य उज्ज्वल होगा। जितना प्रेम और उत्साह प्रजा के लिये नेहरू और पटेल को है, राजेन्द्रबाबू और राजाजी को है उतना ही प्रेम और उत्साह

समझने-समझाने का जरा भी प्रयत्न न किया और अपने स्वार्थ-वश होकर लोगो को विपरीत मार्ग पर चलने को उत्प्रेरित किया। जो क्रियाकाड धर्म के साधन रूप मे थे उन्हे हीसाध्य रूप मे मानकर धर्मानुयायियो ने अपने को उनके ही झगडो मे फसा रखा है। उदाहरण के रूप मे मूर्तिपूजा और अमूर्तिपूजा के झगडे मन्दिर और मस्जिद के झगडे, स्पृश्य अस्पृश्य के झगडे। ऐसे झगडे आज प्रत्येक धार्मिक समाज मे देखने को मिलेंगे, परन्तु यदि धर्मप्रचारको ने इन साधनो से साध्य की तरफ विशेष लक्ष्य दिया होता तो उससे मानव समाज का इतना भला हो गया होता कि आज ऐसी सर्व-धर्म-परिषद बुलाने की भी भाग्य से ही ज़रूरत होती।

धर्म का विधेयात्मक या रचनात्मक रूप अगर कहे तो अहिसा, सत्य, सयम, अपरिग्रह, दया, दान, क्षमा, शाति, समभाव आदि जो धार्मिक सिद्धान्त हमने जाने हैं, सुने हैं, और पढे है, उनको अपने जीवन मे उतारना है। और उसका निषेधात्मक स्वरूप मन, वचन और कर्म को बुरे विचारो मे जाने से रोकना है। यानी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, माया आदि प्रवृत्तियो को रोकना है।

जैसे गुरुत्वाकर्षण का नियम ऊपर रहे हुए चन्द्र, सूर्य, ग्रहमडल को तथा पृथ्वी, समुद्र, पर्वत और नदियो को सम-तुलन स्थिति मे रखता है, किसी को खिसकने नही देता, और अपने प्रभाव से परस्पर के सघर्षणो से बचाता है, उसी प्रकार वासना और प्रलोभन के प्रवाह मे बहते हुए अपने चित्त मन वचन और काया के अशुभ योग-प्रवाह को जो अटकाता है, वह धर्म है।

धर्म का स्वरूप क्या है ? इसे समझाने का यहाँ मैंने कुछ प्रयत्न किया है। मैं कोई दर्शनशास्त्र की या धर्मशास्त्र की विदुषी नहीं हूं। मेरा वक्तव्य आप सबने सुना है जिसमें आपने देखा है कि मैंने किसी भी धर्मशास्त्र का एक भी अवतरण उद्धृत कर आपको नहीं सुनाया है। फिर भी मैं यह मानती हूं और मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि धर्म का मर्म जो मैंने यहाँ समझाने का प्रयत्न किया है उससे शायद किसी भी धर्म का विद्वान् असहमत नहीं होगा। और न किसी को कुछ उसमें ऐतराज ही होगा ? अनेकों विद्वान् यहाँ उपस्थित हैं, दर्शनशास्त्री जैसे प्रखर तत्त्वज्ञ का आपने भाषण सुना है और अभी भी अन्य कई महान् विद्वानों के प्रवचन सुनने का सौभाग्य आपको मिलेगा परन्तु मेरी मान्यतानुसार सब का सूर एक ही होगा जैसा कि मैंने आपको बताया है। मै भले ही दर्शनशास्त्री या धर्मशास्त्री न होऊं, पर दुनिया के एक महान् धर्म की उपासिका एक साध्वी हूं। साधु-साध्वी भी धर्म के उपासक हैं। इस उपासना के थोड़े वर्षों के अनुभवों में जो सत्य मैंने जाना उसे ही मैंने आपकी सेवा में पेश किया है। मैं तो बार-बार एक ही बात पर जोर देना चाहती हूं कि ऐसा शुद्ध धर्म ही मानव समाज का कल्याण कर सकेगा। धर्म के सिवाय अन्य कोई श्रेयस्कर उपाय मानव समाज के लिये नहीं है। यह बात जब मैं कहती हूं तब मनु महाराज का यह श्लोक मेरी जबान पर आ जाता है कि—

धर्म एव हतो हन्ति
धर्मो रक्षति रक्षितः।
जो मनुष्य धर्म का नाश करता है

धर्म उसका नाश करता है ।
जो मनुष्य धर्म की रक्षा करता है,
धर्म उसकी रक्षा करता है ।

—मनुस्मृति

मनुस्मृति का यह कथन एक सनातन सत्य है । कौन कह सकता है कि मनुष्य अपने धर्म को भूलेगा तो मानव जाति का विनाश न होगा ? युद्धो ने मानव जाति का सहार किया है । युद्ध यानी स्वार्थवश बेभान होकर की गई प्रवृत्ति । जो देश, जो राष्ट्र और जो समाज धर्म को भूल जाता है, वह अपनी मौत को ही निमन्त्रित करता है ।

अभी कुछ ही दिनो पूर्व दिल्ली में हुई परिषद् मे सर सर्व पल्ली राधाकृष्णन् ने कहा था कि 'विग्रह का अन्त यदि हम नही कर सके तो विग्रह हमारा ही अन्त कर देगा ।' यही बात मैं मनु महाराज के शब्दो में कहती हू कि यदि हम धर्म का रक्षण नही करेंगे तो धर्म हमारा रक्षण नही करेगा, धर्म का पालन हम नही करेंगे तो धर्म हमारा पोषण कदापि नही करेगा । अर्थात् धर्म का अगर हम नाश करेंगे तो धर्म हमारा नाश कर देगा ।

धर्म का शुद्ध स्वरूप और जीवन में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान, विश्वशाति और विश्व की सामूहिक प्रगति के लिये धर्म की उवयोगिता कितनी और कहाँ तक है—यह अगर आज के युवक वर्ग को समझाया जाय तो वे धर्म का उपहास करने का फिर साहस न करेंगे । परन्तु सत्य हकीकत तो यह है कि वे सकीर्ण वर्तुलो और वाडाओ में जाते हैं जहाँ कि धर्म का मर्म उन्हें कोई समझाता ही नही । वहा तो सब अपने-अपने

क्रिया-काण्ड और विधि-निषेधों का ही ढोल पीटते होते हैं। इसलिए ऐसी सर्व-धर्म-परिषदें करने की खास आवश्यकता है, जिससे धर्म का रहस्य सब कोई जान सके। आज के भौतिकवादी जहाँ नास्तिकता के मद में चूर हैं वहाँ हमारे ये नाम के अध्यात्मवादी अन्धश्रद्धा के अन्धकार में डूबे हुए हैं। इन दोनों वर्गों के लिये हमारी यह धर्म परिषद्, धर्म के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने वाली दीवा दांडी की तरह बने इसी शुभ कामना के साथ मैं अपना वक्तव्य पूर्ण करती हूँ।

[सर्व धर्म परिषद्, बम्बई अधिवेशन में प्रदत्त प्रवचन सम्पादक — श्री मनहरलाल शाह बी. ए.]

५२

सजीवनी विद्या

हिन्दू पुराण मे एक कथा आती है कि देव-दानवो के युद्ध में देवता मारे जाते थे और दानव वच जाते थे। क्योकि दैत्यो के गुरु शुक्राचार्य के पास सजीवनी नामक विद्या थी। देवताओ ने भी एक वार वृहस्पति के पुत्र कच को शुक्राचार्य के पास सजीवनी को पाने के लिये भेजा। उमने वहाँ हज़ारो वर्षों तक रह कर नृत्य गीतादि से शुरू-तनया देव यानी का मनोरजन किया और सजीवनी विद्या प्राप्त की।

इस कथा का आशय यह है कि सजीवनी विद्या से मानव मृत्यु को भी जीत सकता है। सजीवनी विद्या के जानकार को मृत्यु का भय नही रहता, उसके लिये मृत्यु नाम की कोई वला नही होती है? उसकी दृष्टि मे जीवन अखड है और मृत्यु जीर्ण वस्त्रो की तरह परिवर्तन की एक क्रिया मात्र है।

सजीवनी विद्या यानी सम्यक् प्रकार से जीवन यापन करने की कला। जिसने सुन्दर ढग से अपना जीवन धारण किया हो और सम्यग् पथ पर जीवन यापन किया हो, उसको अगर मृत्यु का भय ही न हो तो यह कोई आश्चर्य जनक वात नही है। मृत्यु का भय तो मिथ्या मार्ग पर चलने वालो को और पाप में पडे हुए पापियो को होता है। पवित्र पुरुषो के निकट

भय कहाँ रहे ? उसके लिये कोई स्थान ही वहाँ नहीं होता। मीरा और महात्माजी सोक्रेटीज और ईसुक्रिस्त सब संजीवन विद्या के जानकार थे इसी से वे मृत्यु का भी हंसते-हंसते आलिंगन कर सके थे।

संजीवनी विद्या यानी भली भांति जीवन धारण कर उसे रखने की कला। इस कला की सिद्धि के तीन सोपान हैं—१ सादा और संयमी जीवन २ पवित्र हृदय और ३ परोपकारवृत्ति।

सुन्दर ढंग से जीवन जीने के लिये सब से पहले-अपनी आवश्यकताओं को कम करने की जरूरत है। आवश्यकताएं जितनी अधिक होती है जीवन में उतने ही जंजाल प्रपंच अधिक होते हैं और जितने अधिक जंजाल होते है उसी परिमाण मे जीवन के सच्चे आनन्द का अभाव होता है। इसलिये जितनी आवश्यकताएं हम कम करें उतना ही अधिक आनन्द का उपभोग हम कर सकते है।

लेकिन दुःख की बात तो यह है कि आज मानव समाज को अपनी आवश्यकताएं कम करने के बदले अधिक बढ़ाने का रोग लागू पड़ गया है ! और इस रोग ने ही जीवन के आनन्द को लूट लिया है।

धर्म और अधर्म की व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि 'आवश्यकताओं को कम करने वाला धर्म है और बढ़ाने वाले अधर्म।

आज विलास बढ़ गया है और समाज मे त्याग के बदले विलास को ही प्रतिष्ठा मिल रही है। सैकड़ों रुपयों के टेबल कुर्सी सोफा और कोचों के बजाय दो चार रुपयों की चटाई

या शतरजी से काम चलाया जा सकता है, जरी, रेशमी या मलमल से वारीक वस्त्रो के वजाय हाथ से कते-वुने खादी के कपडो से सर्दी गर्मी से शरीर की रक्षा की जा सकती है, लाखो रुपयो के व्यय से वने हुए आली शान वगलो मे रहने के वजाय एक छोटे से स्वच्छ-सुघड मकान से भी गुजारा किया जा सकता है, और ऐसे अनेक प्रकार के परिवर्तनो द्वारा अपने विलासी जीवन को सीधा और सादा वनाया जा सकता है। लेकिन भोग के रोग से पीडित मानव समाज सादगी में समाये जीवनानन्द का पान नही कर सकता है।

स्वतन्त्र भारत की आर्य वहिनो को भी इस रोग से मुक्त करना आवश्यक है। स्त्री शृ गारकी अनेक फौशनेवल वस्तुओ के पीछे हमारा करोडो रुपया प्रति वर्ष विदेशो मे जा रहा है और देश निर्धन वनता जा रहा है। देश की गरीवी का यही मुख्य कारण है। नई नई फैशनेवल शृ गारिक वस्तुओ को देखकर स्त्रियाँ उनके पीछे दीवानी हो जाती हैं और इस तरह देश की आर्थिक स्थिति कमजोर होती जाती है वर्षों की पराधीनता से मुक्त हुए हमारे देश के धन का इस तरह दुरुप योग करना कैसे सहन किया जा सकता है ? इस तरह से तो हम पुन अपनी विगत पराधीनता को ही आमन्त्रित करना चाहते हैं।शरीर पर सफेद वस्त्रो को धारण करने के सिवाय अन्य किसी भी जरी, रेशमी या मलमल के वारीक वस्त्रो की जरूरत नही रहती है। हीरे, माणिक, मोती और सोना चाँदी के आभूषण या नकली गहने मात्र ही शरीर को शोभित नही कर सकते हैं शरीर तो सद्गुणो से ही शोभित होगा। इस सीधी और सरल वात को सदा याद रखना

चाहिये। हमारी बहिनों को यह कभी नहीं बिसराना चाहिये।

आजाद हिन्दुस्तान के पुरुषों को भी अब Made in U S A (यु एस ए में बनी हुई चीज) या Made in England (इंग्लैंड में बनी हुई चीज) का मोह छोड़ना होगा और भारतीय उद्योगों को उत्तेजन देना पड़ेगा तथा उत्पादन सामग्री में सादगी का प्रयास रखना पड़ेगा।

इसप्रकार जीवन को सीधा और सादा बनाने के बाद जीवन की अनिवार्य-अल्प आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जीवन को परिश्रमी बनाना होगा। अपनी मेहनत से अपनी अल्प आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले ही पवित्र हृदय वाले बन सकते हैं।

श्रमण संस्कृति ने हमारे देश में श्रम की प्रतिष्ठा स्थापित की थी। अधिक देकर बदले में न्यूनतम लेना यह सिद्धान्त-सूत्र *ही श्रमण संस्कृति की आधार शिला थी। पूर्व में ही नहीं* पश्चिम में भी संत फ्रांसिस के साधु-संघ का तो यह नियम था कि बिना मेहनत किये कुछ नहीं खाना।

संत फ्रांसिस के जाईल्स नामक एक शिष्य के कुछ जीवन प्रसंगों पर हम यहां विचार करते हैं।

मजूरी न मिले तो भूखा रहना यह उसका कड़क नियम था। एक बार उसे अपनी मुसाफिरी में जाते हुए नाव के लिये कुछ दिनों तक एक नदी के किनारे रुक जाना पड़ा। वहां वह कई बार पास के गांव से घड़ा लाकर लोगों के घरों में पानी भरता और अपना गुजारा करता। कई बार गांव की सफाई करके अपना पेट भरता। कईबार मरे हुए पशुओं को खींच कर, खेत में मेहनत कर, और लकड़ी काट कर अपना

गुजारा करता ।

एक वार एक वहिन ने उसकी लकडी की भारी खरीद की और वह अपनी भारी डालने के लिये नम्र भाव से उसके साथ साथ घर गया । वहिन पर उसकी नम्रता का गहरा असर हुआ और उसने पैसे देते समय उसे दूने पैसे दे दिये । जाईल्स ने उन्हे लेने से इन्कार करते हुए कहा—वहिन इस तरह मै अपने लोभ को वढाना नही चाहता । वह आधे पैसे वही डाल कर चलता वना ।

दुष्काल के समय मे वह अनेक गरीवो को भीख मागने से मना करता और उनको अपने साथ खेत पर मजूरी करने के लिये ले जाता । मजदूरी करने पर जो कुछ उसे शाम को मिलता वह उसमे से कुछ अपने लिये रखता और शेप उन गरीवो को ही वाट देता था ।

एक वार उसे एक बडे अफसर (कार्डिनल) के यहाँ मेह-मान वनना पडा । वर्षा जोरो से हो रही थी, वाहिर जाया नही जा सकता था । कार्डिनल ने मजाक मे उससे कहा—अच्छा, अव तो मेरी मेहमानगीरी मजूर करोगे न ? यो हमेशा अपने व्रत पर कायम नही रहा जा सकता है ?

जाईल्स, विना कुछ कहे ही रसौडे मे चला गया और वहाँ नौकर से रसौडे की गदगी साफ करने की अनुमति ली दो रोटी के वदले मे उसने सारा रसोडा विल्कुल स्वच्छ कर दिया । कार्डिनल उसकी मेहमानदारी करे, उससे पहले ही वह तो रोटी खाने का हकदार वन बैठा था ।

इस तरह पुराने जमाने मे पूर्व तथा पश्चिम मे श्रम की प्रतिष्ठा थी, पर आज के वैज्ञानिक युग मे मानवो ने उसे भुला

दी थी। उसकी पुनःस्थापना महात्माजी के हाथों से हुई। वे स्वयं बैरिस्टर न रह कर किसान बने सूट-बूट के बदले लंगोटी और चद्दरधारी बने और शारीरिक श्रम का प्रारम्भ किया।

कई बार,जब अपरिचित व्यक्ति महात्माजी की मुलाकात लेने आते और उन्हें-काम करते हुए देखते तो वे उन्हें एक मजदूर समझ लेते थे। सत्याग्रह आश्रम में एक बार एक श्रीमंत भाई गांधीजी की मुलाकात लेने आये। उस समय गांधीजी कुए से पानी लाने जा रहे थे। उस भले आदमी की भाग्य से उस समय उन्हीं से भेंट हो गई। उसने पूछा—गांधीजी कहां है? मुझे उनसे मिलना है। गांधीजी के हाथ में बाल्टी पकड़ा था उन्होंने कहा—आपको क्या काम है? आने वाले भाई ने कहा—मुझे उन्हीं से बातें करनी है। गांधीजी ने हँस कर जवाब दिया—अच्छा तो आप मेरे साथ चलिये? आगन्तुक भाईजी के साथ चलने लगा। चलते चलते गांधीजी ने पूछा—कहिये आपको क्या बात करनी है? आगन्तुक ने कहा—मुझे तो गांधीजी से बात करनी है? आप मुझे उनके पास ले चलिये न?

गांधीजी ने हँसते हुए कहा—आपको जिनके साथ बातें करनी है वह मैं ही हूं यह सुनते ही आगन्तुक भाई के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा और वह शर्मिन्दा हो गया। पानी भरने वाला जिसे उसने एक मजदूर समझा था वही गांधीजी निकले फिर तो वह उनके पैरों में पड़ा और अन्त में आश्रम को कुछ भेंट देकर विदा ली।

महात्माजी कई बार संडास साफ करने का काम करते

थे। रसोडा मे भी काम काज करते थे। एक वार फिनिक्स आश्रम मे जव वे रहते थे तव वे नदी के किनारे जाकर वहिनो के कपडे धो ले आये थे। इस प्रकार उन्होने अपने हाथो से विविध काम कर शारीरिक श्रम की पुन प्रतिष्ठा कायम की।

शारीरिक श्रम, शारीरिक तन्दुरुस्ती की कुंजी है। इससे मानसिक विकार भी दूर होते हैं। जीवन स्वावलम्वी वनता है। आलस्य और प्रमाद पर विजय हासिल होती है और इस तरह अनेक लाभ होते हैं। इस प्रकार सादा और श्रम प्रधान जीवन सजीवनी विद्या प्राप्त करने का प्रथम सोपान है।

दूसरा सोपान है पवित्र हृदय। काम, क्रोध और लोभ ये आत्म-विकार हैं। इन विकारो को हृदय मे स्थान नही देने से ही हृदय की पवित्रता कायम रखी जा सकती है। काम, क्रोध और लोभ को शास्त्रकारो ने नरक के द्वार कहे हैं। कामी, क्रोधी और लोभी मनुष्य दुनिया मे भी नरक उत्पन्न कर देते है।

विकारी मनुष्यो के हृदय मे शान्ति तो होती ही नही ? उनका समस्त जीवन ईर्षा द्वेप और लालसाओं में ही गुजर जाता है। जिससे वह सुख, शान्ति और आनन्द का तो अनुभव ही नही कर सकता है। ये तीन विकार, मानसिक विकारो मे मुख्य सेनापति की तरह हैं। और दूसरे सव विकार सेना की तरह हैं। जैसे सेनापति को जीत लेने पर सारी सेना जीत ली जाती है, वैसे ही इन तीनो विकारो को जीत लेने पर वाकी सव विकार अपने आप दव से जाते हैं।

आयुर्वेद शास्त्र मे वात, पित्त और कफ युक्त दोष को त्रिदोष कहा है। इन तीनो मे से किसी एक के दूषित होने से

शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं और यदि तीनों ही कुपित हो जायें तो सन्निपात हो जाता है यानी रोगी पागल हो जाता है। इसी तरह काम क्रोध और लोभ ये मन के विरोध हैं। इनमें से एक भी हृदय में घर कर जाय तो मानसिक तन्दुरुस्ती बिगड़ जाती है। और यदि तीनों ही एक साथ पैदा हो जायें तो फिर पूछना ही क्या है ? उसकी स्थिति सन्निपात के रोगी की तरह हो जाती है जिसे न अपने सामने का भान रहता है और न पूछ करने का ही।

क्रोधी मनुष्य के लिए एक प्रख्यात तत्त्व-चिंतक ने कहा है —'क्रोधी मनुष्य आँख बन्द कर लेता है और मुँह खोल देता है।' इस तरह यह दुर्गुण मनुष्य को अपना भान भुला देता है। आँधी के सामने क्रोध करना तो अक्षम मनकर भूल है। यह तो एक मुट्ठी धूल के बजाय दो मुट्ठी धूल उड़ाने जैसी बात है। काम क्रोध आदि दुनिया में गन्दगी बढ़ाने वाले हैं। शान्ति और क्षमा से ही इन पर विजय हासिल की जा सकती है।

'मोहो सव्व विणासणो' इस शास्त्र वचनानुसार लोभ विनाश का मूल है।

संग्रहवृत्ति यह भी लोभ का दूसरा रूप ही है। इस वृत्ति ने तो आज मानव की मानवता भी छीन ली है। अपने लाभ के खातिर आज मनुष्य न करने योग्य कार्य भी करने को तत्पर हो जाता है। लोभ का विकार आज इस हद तक बढ़ गया है कि यदि कोई यह कहने लग जाय कि मानव का हृदय ? ताना मान में बना हुआ है तो मानवी मनुष्य अपने सजातीय मानवों को भी मारने में नहीं हिचकिचाते ?

ऐसी स्थिति मे आज मानव को मानव कहा जाय या दानव ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। लोभ को जीतने का एक मात्र उपाय सन्तोष है। मानव जीवन मे जिस हद तक सन्तोष का गुण प्रकट होता है उस हद तक जीवन का सच्चा आनन्द अनुभव किया जा सकता है। अतएव काम-क्रोध लोभादि विकारो को जडमूल से उखाड कर हृदय को पवित्र और निर्मल वनाना सजीवनी विद्या का दूसरा सोपान है।

सजीवनी विद्या का तीसरा सोपान है—परोपकार वृत्ति अथवा सेवा परायणता।

परोपकार मे स्व-उपकार तो समाविष्ट होता ही हैं। मनुष्य को जो इन्द्रियाँ मन और बुद्धि मिली है, उनका उपयोग उसे दूसरो के लिये ही करना चाहिये अन्यथा वह कृपण कहा जायगा। समाज मे व्यक्ति समष्टि के आधार पर ही जीवित रहता है। समाज या समष्टि से अलग होकर वह अपनी तमाम जरूरियातें पूरी नही कर सकता है। उसके जीवन का आधार ही समाज है। दूसरो की सेवा लेकर ही वह जीवित है तो फिर उसे दूसरो की भी सेवा करनी ही चाहिये।

रोटी के एक ग्रास मे ही हम किसान, वैल, हल बनाने वाला, दलने वाला, रसोईदार आदि अनेक की सेवा का उपयोग करते हैं। सुन्दर राजमार्ग पर चलते हुए हम सैकडो मजदूरो की सेवा लेते हैं। जिस वस्त्र और मकान से हम अपने शरीर की रक्षा करते हैं, उनमे कइयो की सेवा ली गई है। इस प्रकार जव हम पग-पग पर दूसरो की सेवा लेते हैं तो हमे भी अपनी सेवाओ को यथाशक्य मानव समाज के चरणो पर अर्पण करने का फर्ज हो जाता है।

सेवा लेना और देना श्वासोच्छ्वास के समान है। श्वास लेना और बाहर निकालना ये दोनों क्रियाएं समान और आवश्यक हैं पर कोई यह कहे कि मैं बाहर से श्वास तो लूँ, पर निकालूँ नहीं तो फिर उसका क्या हाल होगा? यही हाल सेवा लेने वाले का होता है अगर वह बदले में सेवा नहीं देता है तो!

उपनिषद् में तो जिस दिन मनुष्य ने कोई अच्छा काम नहीं किया हो वह दिन उसका वंध्य माना गया है। गरीबी के कारण या निर्बलता के कारण भले ही मानव बड़े-बड़े काम नहीं कर सकता है पर छोटे-छोटे कार्य तो हर एक व्यक्ति कर सकता है ईश्वर के दरबार में छोटे बड़े का कोई अन्तर नहीं है। वहां तो छोटे आदमी के छोटे कामों की भी बड़े आदमी के बड़े कामों जैसी कद्र होती है। हम पुस्तकालय नहीं खोल सकते हैं। हम व्यायामशाला नहीं खोल सकते हैं, पर अपने बाल बच्चों की तन्दुरुस्ती तो ठीक बना सकते हैं। हम डाक्टर बन कर रोगी की चिकित्सा नहीं कर सकते हैं पर रोगी की सुश्रूषा तो कर सकते हैं? हम दवाखाना नहीं बनवा सकते हैं, पर बीमार आदमी के लिये दवा तो ला सकते हैं। भले ही हम सड़क बनवा सकते हैं पर सड़क पर पड़े हुए कांच कंकर या कांटा की खाल को उठाकर तो फेंक सकते हैं इस तरह किसी भी तरह अच्छा काम करके अवश्य दिवस पूर्ति की कर्मठता का सबूत करके ही रात्रि में आराम करना चाहिये

संजीवनी विद्या के इस तीसरे सोपान परोपकार वृत्ति पर चढ़ने वाले व्यक्ति के पास यह विद्या आ ही जाती है। प्यारा और अपनी जीवन निर्विकारी पवित्र हृदय और सेवा- परायण-

रहता जिसके जीवन में सम्मिश्रित हो, वह भली भांति अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। उसके जीवन में अखंड आनंद प्रसारित होता है और वह एक दिन मृत्यु को भी जीत लेता है।

[सम्पादक श्री नटवरलाल शाह]

सेवा लेना और देना श्वासोश्वास के समान है। श्वा लेना और बाहर निकालना ये दोनों क्रियाएं समान की आवश्यक हैं पर कोई यह कहे कि मैं बाहर से श्वास तो लेऊं पर निकालूं नहीं तो फिर उसका क्या ह्रास होगा? यह ह्रास सेवा लेने वाले का होता है अगर वह बदले में सेवा नहीं देता है तो!

उपनिषद् में तो जिस दिन मनुष्य ने कोई अच्छा काम नहीं किया हो वह दिन उसका वंध्य माना गया है। गरीबी के कारण या निर्बलता के कारण भले ही मानव बड़े-बड़े काम नहीं कर सकता है पर छोटे-छोटे कार्य तो हर एक व्यक्ति कर सकता है ईश्वर के दरबार में छोटे बड़े का कोई अन्तर नहीं है। वहां तो छोटे आदमी के छोटे कामों की भी बड़े आदमी के बड़े कामों जैसी कद्र होती है। हम पुस्तकालय नहीं खोल सकते हैं। हम व्यायामशाला नहीं खोल सकते हैं, पर अपने पास बच्चों की तन्दुरुस्ती तो ठीक बना सकते हैं। हम डाक्टर बन कर रोगी की चिकित्सा नहीं कर सकते हैं पर रोगी की सुश्रूषा तो कर सकते हैं? हम दवाखाने नहीं बनवा सकते हैं पर बीमार आदमी के लिये दवा तो ला सकते हैं। भले ही हम सड़क बनवा सकते हैं पर सड़क पर पड़े हुए कांच कांटा कंकर या केला की छाल को उठाकर तो फेंक सकते हैं इस तरह किसी भी तरह अच्छे काम करके अवश्य दिवस क्रमीय की वर्णाश्रा को सफल करके ही रात्रि में आराम करना चाहिये

संजीवनी विद्या के इस तीसरे सोपान परोपकार वृत्ति पर चढ़ने वाले व्यक्ति के पास यह विद्या आ ही जाती है। सादा और श्रमी जीवन निर्विकारी पवित्र हृदय और सेवा परम-